श्रीमद्भागवतीय
चतुःश्लोकी
गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन

श्रीमद्भागवतीय चतुःश्लोकी

॥ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः ॥

श्रीमद्कृष्णद्वैपायन-वेदव्यास प्रणीत

श्रीमद्भागवतीय चतुःश्लोकी

(श्रीमद्भागवत् द्वितीयस्कन्ध नवम अध्यायके
२९वें श्लोकसे ३८वें श्लोक तक)

अन्वय, अनुवाद, तथ्य, श्रीमध्वाचार्यपाद, श्रीविजयध्वज तीर्थपाद, श्रील जीव गोस्वामीपाद, श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामीपाद, श्रील श्रीनिवासाचार्यपाद, श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर, श्रीश्रीधरस्वामीपाद, श्रीवल्लभाचार्यपाद, श्रीवीरराघवाचार्यपाद, श्रीशुकदेवपाद, श्रील भक्तिविनोद ठाकुर, श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर 'प्रभुपाद' आदिकी
टीकाओं और विवृतियों
तथा
उनके भावानुवाद सहित

**श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति एवं तदन्तर्गत भारतव्यापी श्रीगौड़ीय मठोंके प्रतिष्ठाता, श्रीकृष्णचैतन्याम्नाय दशमाधस्तनवर
श्रीगौड़ीयाचार्यकेशरी नित्यलीलाप्रविष्ट**

ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री

श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके

अनुगृहीत

त्रिदण्डिस्वामी

श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज

द्वारा सम्पादित

प्रकाशक— श्रीभक्तिवेदान्त तीर्थ महाराज

प्रथम संस्करण— २००० प्रतियाँ
श्रीगौर जयन्ती
श्रीचैतन्याब्द ५२१
२१ मार्च, २००८

प्राप्तिस्थान

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
मथुरा (उ.प्र.)
०५६५-२५०२३३४

श्रीरूप-सनातन गौड़ीय मठ
दानगली, वृन्दावन (उ.प्र.)
०५६५-२४४३२७०

श्रीगिरिधारी गौड़ीय मठ
दसविसा, राधाकुण्ड रोड
गोवर्धन (उ.प्र.)
०५६५-२८१५६६८

श्रीश्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
कोलेरडाङ्गा लेन
नवद्वीप, नदीया (प.बं.)
०९३३३२२२७७५

श्रीरमणबिहारी गौड़ीय मठ
बी-३, जनकपुरी, नई दिल्ली
०११-२५५३३५६८

खण्डेलवाल एण्ड संस
अठखम्बा बाजार, वृन्दावन
०५६५-२४४३१०१

समर्पण

दार्शनिक तत्त्ववेत्ता एवं ऐकान्तिक रूपानुगत्यको
स्वीकार करनेवाले परम रसिक कवि
अस्मदीय श्रीगुरुपादपद्म

नित्यलीला प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री

श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजकी

प्रेरणासे
यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है।
श्रीगुरुपादपद्मकी अपनी ही वस्तु उन्हींके
श्रीकरकमलोंमें समर्पित है।

विषय-सूची

प्रस्तावना

परमाराध्यतम श्रीगुरुपादपद्म नित्यलीला प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजकी अहैतुकी अनुकम्पा और प्रेरणासे उन्हींकी प्रीतिके लिए श्रीमद्भागवतमें वर्णित 'चतुःश्लोकी-भागवत' हिन्दी भाषा-भाषी पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत करते हुए अपार आनन्दका अनुभव कर रहा हूँ। इस ज्ञान-विज्ञान-सारगर्भ 'चतुःश्लोकी-भागवत' पर जगत्-वरेण्य, परम विद्वान और अनुभव सम्पन्न पूर्व-पूर्व आचार्यों—श्रीब्रह्म-माध्व-गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायके श्रीमध्वाचार्यपादकृत 'तात्पर्य', श्रीविजयध्वज तीर्थपादकृत 'पदरत्नावली', श्रील जीव गोस्वामीपादकृत 'क्रम-सन्दर्भ', श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामीपादकृत 'श्रीचैतन्यचरितामृत', श्रील श्रीनिवासाचार्यपादकृत 'चतुःश्लोकी भाष्यम्', श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरकृत 'सारार्थदर्शिनी', श्रील सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुरकृत व्याख्या (श्रीभागवतार्कमरीचिमाला और अमृतप्रवाह भाष्य), श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर 'प्रभुपाद' कृत 'विवृति'; श्रीविष्णुस्वामी सम्प्रदायके प्रपूज्यचरण श्रीश्रीधर स्वामीपादकृत 'भावार्थदीपिका', श्रीवल्लभाचार्यपादकृत 'सुबोधिनी'; श्रीरामानुज सम्प्रदायके श्रीवीरराघवाचार्यपादकृत 'श्रीभागवतचन्द्रिका' तथा श्रीनिम्बादित्य सम्प्रदायके श्रीशुकदेवपादकृत 'सिद्धान्तप्रदीप' नामक टीकाएँ, व्याख्याएँ और विवृतियाँ हैं। यद्यपि इन टीकाओं, व्याख्याओं और विवृतियोंकी भाषाको समझना साधारण लोगोंके लिए सहज नहीं है, तथापि विदुषी बेटी मधु खण्डेलवाल एम॰ए॰, पी॰एच॰डी॰ ने बड़े परिश्रमसे इन टीकाओं, व्याख्याओं, विवृतियों आदिका संग्रहकर बड़े यत्नपूर्वक उनका हिन्दी अनुवाद करके हिन्दी-जगत्का बड़ा ही उपकार किया है।

सृष्टिके प्रारम्भमें पद्मयोनि अर्थात् श्रीभगवान्के नाभिकमलसे उत्पन्न श्रीब्रह्मा यह सोच रहे थे कि मैं किस प्रकार सृष्टि करूँ? निरन्तर ऐसी चिन्तामें निमग्न रहनेपर उन्होंने जलके भीतरसे 'तप' शब्द सुना। यद्यपि उन्होंने उक्त शब्दके वक्ताको नहीं देखा, तथापि

उससे ब्रह्माजीको मानो तपस्यामें नियुक्त होनेकी साक्षात् प्रेरणा प्राप्त हुई। तब श्रीब्रह्माने स्थिर-चित्तसे एक हजार दिव्य वर्षों तक तपस्या की। श्रीब्रह्माकी तपस्यासे सन्तुष्ट होकर श्रीभगवान् उनके समक्ष प्रकट हुए तथा उनमें सृष्टि करनेकी शक्ति प्रदान की। श्रीब्रह्मामें स्वतन्त्र सृष्टिकर्त्ताका अभिमान उदित न हो जाय, इसलिए श्रीभगवान्ने कृपापूर्वक शक्ति सञ्चार कर उन्हें निर्विशेष ज्ञानसे भी श्रेष्ठतर अपना परम गुह्यज्ञान, तद्रूपवैभवादिका विज्ञान, प्रेमभक्तिरूप रहस्य और उस प्रेमभक्तिके अङ्गस्वरूप सम्बन्धज्ञानसे युक्त श्रवणादि साधनभक्तिके अङ्गोंको श्रवण करवाया। श्रीभगवान्के द्वारा श्रीब्रह्माको प्रदत्त इस साक्षात् ज्ञानको ही 'चतुःश्लोकी-भागवत' कहते हैं।

यह चतुःश्लोकी ही श्रीमद्भागवतकी मूल सूत्रावलि है। इस सूत्रावलिके आधारपर ही अट्ठारह हजार श्लोकोंसे समन्वित श्रीमद्भागवतकी रचना हुई है। जिस प्रकार श्रीमद्भागवतमें सर्ग, विसर्ग, स्थान, ऊति, पोषण, मन्वन्तरकथा, ईशकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय—यह दस विषय द्वादश स्कन्धोंमें विस्तृत रूपसे विवृत हुए हैं, उसी प्रकार इस चतुःश्लोकीमें भी सूत्र रूपसे यह दस विषय वर्णित हुए हैं तथा इस चतुःश्लोकीमें सम्बन्ध, अभिधेय एवं प्रयोजन नामक तीन तत्त्वोंका भी निरूपण हुआ है—पहले दो श्लोकों द्वारा सम्बन्धतत्त्व, तीसरे श्लोक द्वारा प्रयोजनतत्त्व तथा चतुर्थ श्लोक द्वारा अभिधेयतत्त्वका निरूपण हुआ है।

इसके अतिरिक्त यह 'चतुःश्लोकी-भागवत' वेदोंका भी सार-स्वरूप है। समग्र ऋग्वेदका संक्षेप-स्वरूप उसका जो प्रथम मन्त्र है, उसका अर्थ चतुःश्लोकी-भागवतके प्रथम श्लोकमें व्यक्त है। समग्र यजुर्वेदका संक्षेप-स्वरूप उसका जो प्रथम मन्त्र है, उसका अर्थ चतुःश्लोकी-भागवतके द्वितीय श्लोकमें कहा गया है। समग्र अथर्ववेदका संक्षेप-स्वरूप उसका जो प्रथम मन्त्र है, उसका अर्थ चतुःश्लोकी-भागवतके तृतीय श्लोकमें संगृहीत हुआ है। समग्र सामवेदका संक्षेप-स्वरूप उसका जो प्रथम मन्त्र है, उसका अर्थ चतुःश्लोकी-भागवतका चतुर्थ श्लोक है।

भगवान् श्रीनारायणसे चतुःश्लोकी-भागवत प्राप्त होनेपर श्रीब्रह्माने इसका उपदेश श्रीनारदको दिया तथा उन्हें इसका विस्तार करनेके

लिए भी आदेश दिया। श्रीनारदने कृपापूर्वक श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यासको इसका उपदेश देकर उन्हें समाधियोगसे श्रीकृष्णकी समस्त लीलाओंका दर्शनकर विस्तारपूर्वक उनका वर्णन करनेके लिए कहा। श्रीवेदव्यासने समाधियोगमें श्रीकृष्णकी समस्त लीलाओंका दर्शनकर सम्पूर्ण श्रीमद्भागवतकी रचना की तथा उसे श्रीशुकदेव गोस्वामीको अध्ययन कराया। वे श्रीशुकदेव गोस्वामी ही श्रीमद्भागवतके प्रथम वक्ता हैं।

द्वितीयस्कन्धके नवम अध्यायके २९वें श्लोकसे ३८वें श्लोक तक दस श्लोकोंमें 'चतुःश्लोकी-भागवत' का प्रसङ्ग है। सर्वप्रथम २९वें श्लोकमें ब्रह्माजीने श्रीभगवान्से यह प्रार्थना की है कि सृष्टि करके भी उनमें स्वतन्त्र सृष्टिकर्त्ता होनेका अभिमान उदित न हो जाय। तदनन्तर ३०वें श्लोकमें श्रीभगवान्ने ब्रह्माजीको श्रीमद्भागवत् नामक अपने शास्त्रकी सर्वश्रेष्ठ प्रतिपाद्य चार वस्तुओं—ज्ञान, विज्ञान, रहस्य (प्रेम) और उसके अङ्ग (साधनभक्ति) का वर्णन किया है तथा ३१वें श्लोकमें उनके हृदयमें अपना विज्ञान और रहस्य आविर्भूत करानेके लिए श्रीभगवान्ने आशीर्वाद प्रदान किया। तत्पश्चात् श्रीभगवान्ने ब्रह्माजीको चार श्लोकोंमें अर्थात् ३२वें श्लोकसे लेकर ३५वें श्लोक तक 'चतुःश्लोकी-भागवत' सुनाया। वे चार श्लोक ही मूल 'चतुःश्लोकी' है, जिनमें उक्त प्रतिपाद्य चार वस्तुओंको चार श्लोकोंमें वर्णन किया गया है। उसके अगले ३६वें श्लोकमें श्रीभगवान्ने ब्रह्माजीको आश्वासन दिया है कि मेरे द्वारा कथित 'चतुःश्लोकी-भागवत' को एकाग्रचित्तसे स्मरण रखनेपर तुममें स्वतन्त्र सृष्टिकर्त्ताका अभिमान उदित नहीं होगा। अन्तके दो श्लोकों अर्थात् ३७वें और ३८वें श्लोकोंमें श्रीभगवान्का ब्रह्माजीके सामने ही अन्तर्धान होने तथा ब्रह्माजीके द्वारा मोहरहित होकर लोक-सृष्टिकार्यमें तत्पर होनेके विषयमें श्रीशुकदेव गोस्वामी द्वारा बतलाया गया है। अतः श्रीभगवान्के द्वारा कथित चार श्लोक (३२-३५) ही मूल चतुःश्लोकी होनेपर भी आगे-पीछेके कुछ श्लोक भी चतुःश्लोकीसे सम्बन्धित (उपक्रम और उपसंहार) होनेके कारण वे चतुःश्लोकीके अन्तर्गत ही माने गये हैं।

इस ग्रन्थमें प्रस्तुत टीकाओं, विवृतियों आदिका क्रम विश्वव्यापी गौड़ीय मठोंके संस्थापक जगद्गुरु नित्यलीला प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद

श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर 'प्रभुपाद' द्वारा सम्पादित तथा गौड़ीय मठ द्वारा प्रकाशित श्रीमद्भागवतके द्वितीयस्कन्धके ९वें अध्यायके ३०से ३५ तक के श्लोकोंमें प्रस्तुत 'वैभव-विवृति' के अनुसार दिया गया है। 'मधुरेण-समापयेत्' विचारके अनुसार गौड़ीय वैष्णवाचार्य श्रीश्रीनिवासाचार्यपादकी 'चतुःश्लोकी भाष्यम्' नामक व्रजरस-परक टीकाको सभी टीकाओंके अन्तमें दिया गया है।

इस ग्रन्थमें प्रस्तुत श्रीवल्लभाचार्यपादकी टीकाके सरल और विस्तृत अनुवादको श्रीसुबोधिनी प्रकाशन मण्डल, जोधपुर, राजस्थानके द्वारा प्रकाशित श्रीमद्भागवत्के द्वितीयस्कन्धसे संग्रह किया गया है। इस टीकाके अनुवादक श्रीनाथद्वाराके श्रीनारायणजी शास्त्री हैं।

इस ग्रन्थकी पाण्डुलिपि प्रस्तुत करने, प्रूफ-संशोधन, ले-आउट आदि सेवाकार्योंके लिए श्रीमान् भक्तिवेदान्त माधव महाराज, परम विदुषी बेटी मधु खण्डेलवाल एम॰ए॰, पी॰एच॰डी॰, श्रीसुबल सखा ब्रह्मचारी, श्रीविजयकृष्ण ब्रह्मचारी, श्रीअच्युतानन्द ब्रह्मचारी, बेटी शान्ति दासी, श्रीकृष्णकारुण्य ब्रह्मचारी तथा मुखपृष्ठके चित्रके लिए श्रीमती श्यामरानी दासी आदि की सेवा-प्रचेष्टाएँ सराहनीय और विशेष उल्लेख योग्य हैं। श्रीश्रीगुरु-गौराङ्ग-गान्धर्विका-गिरिधारी इनपर प्रचुर कृपा-आशीर्वाद करें, उनके श्रीचरणोंमें यही प्रार्थना है।

मुझे विश्वास है कि तत्त्व-ज्ञान पिपासु विद्वज्जनोंमें इस ग्रन्थका समादर होगा।

अन्तमें भगवत्करुणाके घनविग्रह परमाराध्यतम श्रीगुरुपादपद्म मेरे प्रति प्रचुर कृपावारि वर्षण करें, जिससे मैं उनकी मनोऽभीष्ट सेवामें अधिकाधिक अधिकार प्राप्त कर सकूँ—यही उनके श्रीकृष्णप्रेम प्रदानकारी श्रीचरणोंमें सकातर प्रार्थना है।

श्रील गुरुपादपद्मकी
शुभ आविर्भाव तिथि
२४ फरवरी २००८
५२१ श्रीगौराब्द

श्रीहरि-गुरु-वैष्णव-कृपालेश-प्रार्थी
दीन-हीन
त्रिदण्डिभिक्षु श्रीभक्तिवेदान्त नारायण
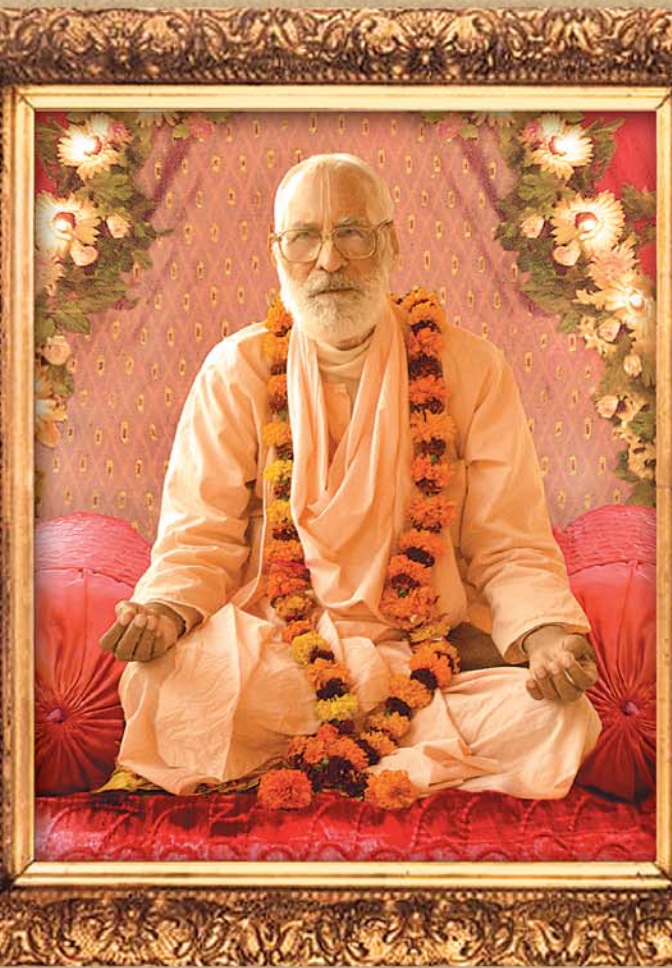
ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री
श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज
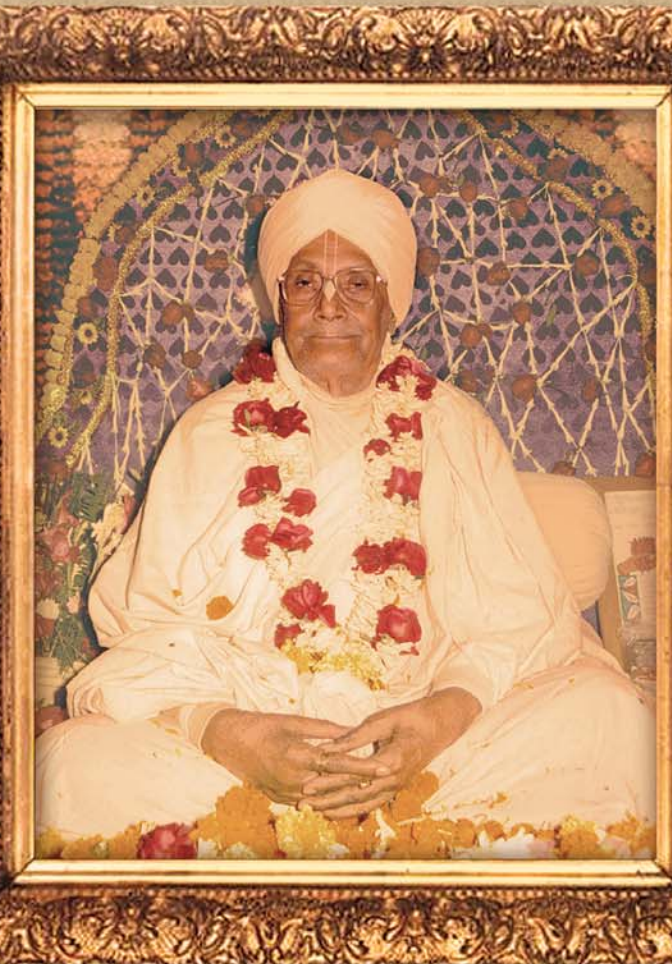
ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री
श्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराज
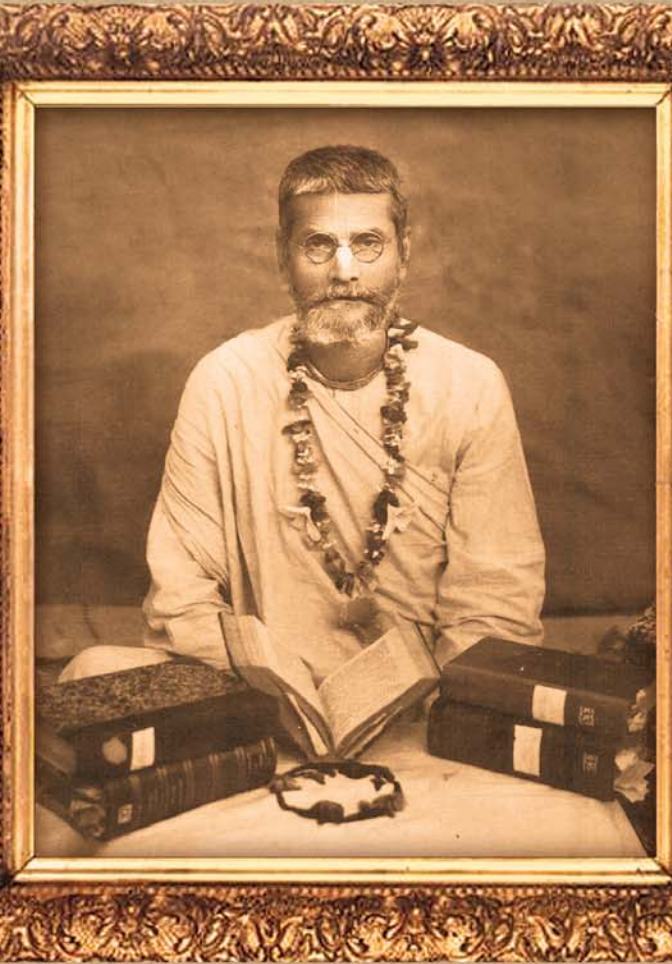
ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री
श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज
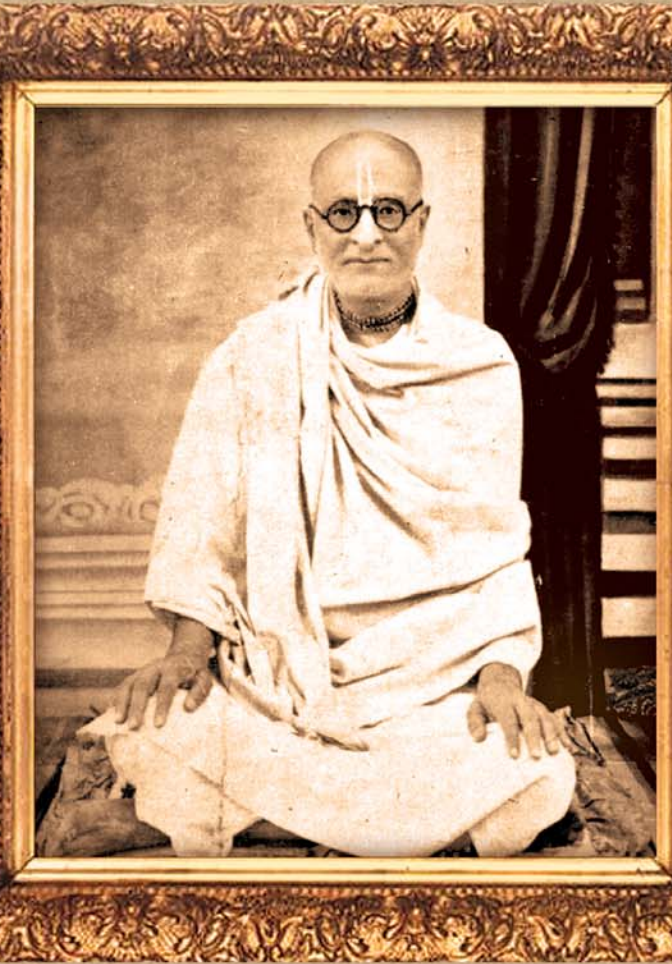
ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री
द्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी ठाकुर 'प्रभु

विष्णुपाद श्रील सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठा
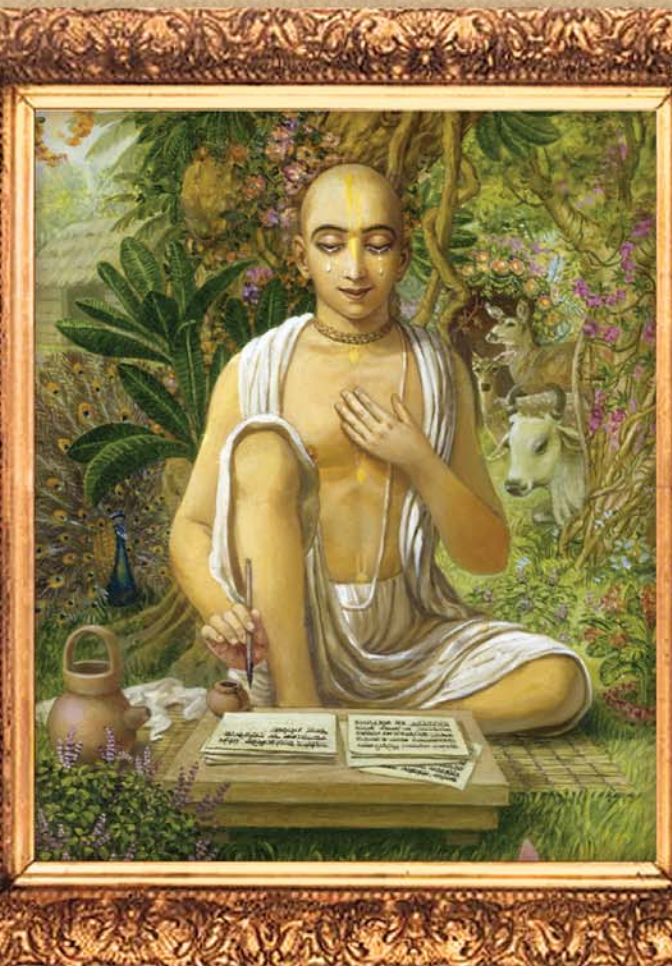
श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर
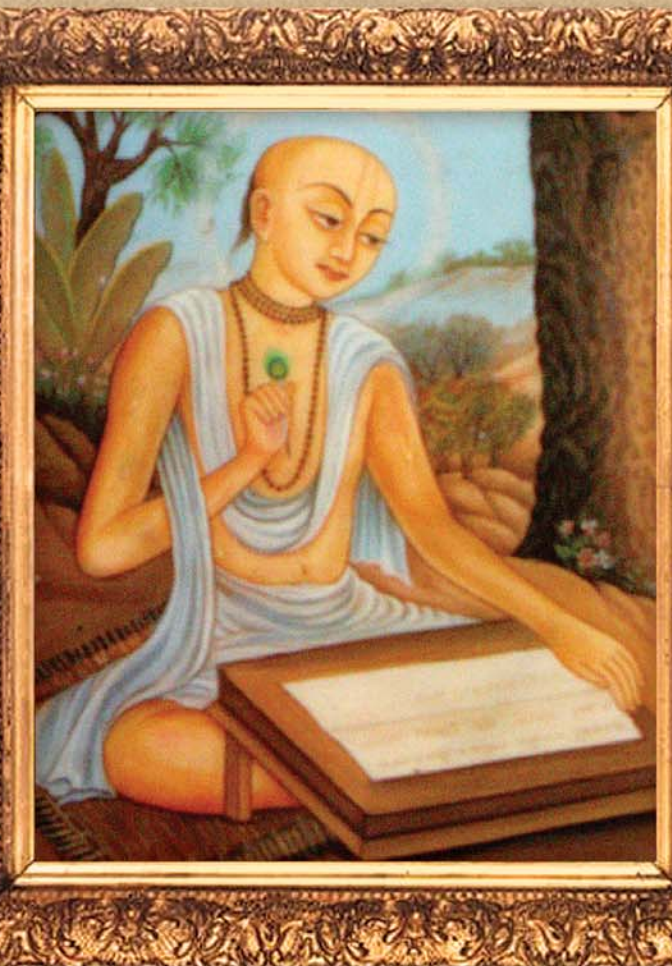
श्रील जीव गोस्वामीपाद
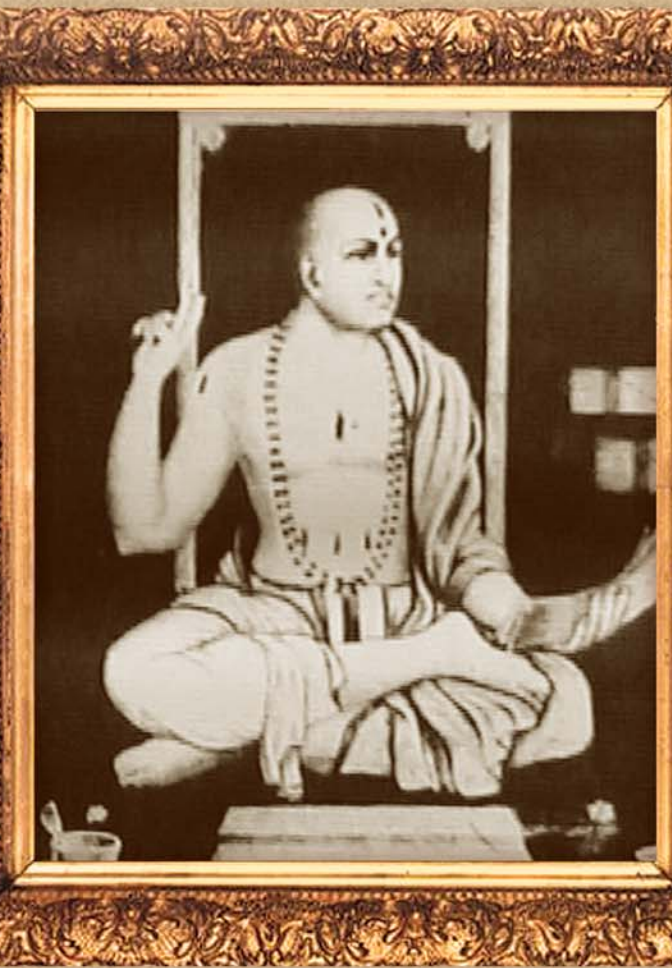
श्रील मध्वाचार्य

प्रथम-श्लोक

श्रीब्रह्मा द्वारा अपनेमें सृष्टिकर्त्ता होनेका प्रबल अहङ्कार
उदित न होनेके लिए श्रीभगवान्से प्रार्थना

श्रीब्रह्मोवाच—

यावत् सखा सख्युरिवेश ते कृतः
प्रजाविसर्गे विभजामि भो जनम्।
अविक्लवस्ते परिकर्मणि स्थितो
मा मे समुन्नद्ध-मदोऽजमानिनः॥

(श्रीमद्भा॰ २/९/२९)

अन्वय

[श्रीब्रह्मोवाच (श्रीब्रह्माने कहा)] भोः ईश (हे ईश!) सख्युः सखा इव कृतः (सखा जिस प्रकार अपने सखाके साथ व्यवहार करता है) ते (आपने) [भी उसी प्रकारसे मेरे हाथके स्पर्श आदिके द्वारा समानवालोंके रूपमें मेरे साथ सम्मानपूर्वक व्यवहार किया है, अतएव मेरी यह प्रार्थना है कि मैं] यावत् (जब तक) अविक्लवः (स्थिरचित्त होकर) जनं विभजामि (उत्तम-मध्यमादिके भेदसे विभागकर) प्रजाविसर्गे (प्रजासृष्टि-कार्यरूप) ते (आपकी) परिकर्मणि स्थितो (सेवामें नियुक्त रहूँ) [तब तक] अजमानिनः ('मैं भी अज हूँ' अर्थात् आपकी भाँति स्वतन्त्र भगवान्, स्वराट् और आपके समकक्ष हूँ—इस प्रकारका) समुन्नद्धः (प्रबल) मदः (अभिमान) मे (मुझमें) [उदित] मा (न) [हो]॥२९॥

अनुवाद

(श्रीब्रह्माने कहा—)हे भगवान्! सखा जिस प्रकार सखाके साथ व्यवहार करता है, आपने भी मेरे हाथके स्पर्श आदिके द्वारा मेरे साथ उसी

प्रकारसे सम्मानपूर्वक व्यवहार किया है। अतएव मेरी यह प्रार्थना है कि मैं जब तक स्थिरचित्त होकर उत्तम-मध्यमादिके भेदसे प्रजासृष्टि-कार्यरूप आपकी सेवामें नियुक्त रहूँ, तब तक—''मैं भी अज हूँ'' (अर्थात् आपकी भाँति स्वतन्त्र भगवान्, स्वराट् और आपके समकक्ष हूँ)—इस प्रकारका प्रबल अभिमान मुझमें उदित न हो॥२९॥

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरकृत 'सारार्थदर्शिनी टीका'

मनोवाञ्छितमभिव्यञ्जयन् प्रार्थयते—यावदिति। हे ईश! ते त्वया, सख्युः सखेव दासाभासोऽप्यहं कृतः करस्पर्शादिना व्यवहृतः, अतः सख्यभक्तिमेवाहं प्राप्नुयामिति। किञ्च, *'यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्'* इति न्यायेन, स्वायुः पर्यन्तं यावत्, प्रजानां विसर्गे विविधसृष्टौ, भोः परमेश्वर, जनं विभजामि—उत्तमाधममध्यमभेदेन विभक्तं करोमि। कीदृशः? ते तव, परिकर्मणि परिचर्यायाम्, अविक्लवोऽव्याकुलः, सावधानतया स्थितः सन्नित्यर्थः। तावत् समुन्नद्धः उत्कटः मदः, मे मम मा भूत्॥२९॥

भावानुवाद—अब श्रीब्रह्मा 'यावद्' आदि श्लोक द्वारा अपने मनकी अभिलाषाको प्रकट करते हुए प्रार्थना कर रहे हैं—हे ईश (हे प्रभो)! प्राकृत जगत्में एक मित्र जिस प्रकार अपने मित्रके साथ व्यवहार करता है, उसी प्रकार यद्यपि मैं आपका दासाभास हूँ, तथापि आपने मेरे हाथके स्पर्श आदिके द्वारा मित्रके समान मेरा आदर किया है। अतएव मैंने आपकी सख्य-भक्तिको प्राप्त कर लिया है। तदुपरान्त कह रहे हैं—"जब तक अधिकारी जनोंका अर्थात् अधिकार प्राप्त जनोंका अधिकार काल रहता है"—इस न्यायके अनुसार हे परमेश्वर! मैं अपनी परमायुकी समाप्ति तक अर्थात् मेरे द्वारा इस ब्रह्मपदमें बने रहने तक प्रजाजनोंकी विविध सृष्टिके विषयमें उत्तम, मध्यम और अधम आदि भेदसे विभाग करता रहूँ। यदि कहो कि किस प्रकारसे सृष्टि करूँगा? इसके लिए कह रहे हैं—आपकी सेवामें व्याकुलतारहित अर्थात् आलस्यरहित भावसे तथा सावधानीपूर्वक स्थित रहकर। जब तक मैं आपकी ऐसी सेवामें नियुक्त रहूँ, तब तक मुझमें उत्कट गर्व उत्पन्न न हो अर्थात् "मैं भी एक स्वतन्त्र सृष्टिकर्त्ता पुरुष हूँ"—ऐसा प्रबल अभिमान मेरे चित्तमें उदित न हो॥२९॥

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर 'प्रभुपाद' की 'विवृति'

प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा—इन तीन प्रकारकी वृत्तियोंके सहित जिस समय जीव तत्त्वदर्शी जनोंके समीप गमन करता है, उस समय वे तत्त्वदर्शी उस जीवको सेवोन्मुख देखकर उसे तत्त्वज्ञानके सम्बन्धमें उपदेश देते हैं। उसी समय उस सेवोन्मुख जीवके हृदयमें शुद्ध अहैतुक ज्ञान प्रकाशित हो जाता है। पूर्वकालमें श्रीब्रह्माने स्वयं ही बहुत प्रकारकी खोज की, तथापि वे अपना और भगवत्-स्वरूपका ज्ञान प्राप्त नहीं कर सके। अतः अब वे श्रीभगवान्के प्रति सम्पूर्ण रूपसे शरणागत होकर भगवत्-प्रीतिरूप सेवा और उनसे सम्बन्धित ज्ञानकी प्राप्तिके लिए इच्छुक हुए हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी श्रीभगवान्ने अर्जुनको लक्ष्य करके यही (तत्-विषयक) उपदेश प्रदान किया था। श्रीकृष्ण अर्जुनके सखा हैं। युद्ध-क्षेत्रमें अपने सम्मुख उपस्थित आत्मीय-स्वजन, गुरुजन आदिका युद्धमें संहार करना होगा, यह सोचकर अर्जुनके हृदयमें विकलता उत्पन्न हुई। पहले अर्जुनने स्वयंको अनेक प्रकारसे स्थिर किया, किन्तु फिर उनका चित्त धर्मसंकटमें फँस गया। कौन-सा वास्तव कर्त्तव्य है, वे स्थिर नहीं कर पाये। उनके सम्मुख ही सखा श्रीकृष्ण विराजमान थे। उस समय अर्जुनने श्रीकृष्णको केवल 'सखा' ही नहीं माना, अपितु वे श्रीकृष्णके 'शिष्य' (शासन योग्य) होकर उनसे शिक्षा लेनेके लिए प्रस्तुत हो गये। अब वे सम्पूर्ण रूपसे शरणागत हैं (श्रीगी॰ २/७ उत्तरार्ध)—

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।

अर्थात् "मैं आपका शिष्य हूँ और आपके शरणागत हूँ, अतः आप मुझे शिक्षा प्रदानकर मेरा शोधन कीजिये।"

यहाँ श्रीब्रह्माने भी श्रीभगवान्से कहा है कि इस प्रकार लौकिक सखाकी भाँति हाथके स्पर्शादि द्वारा सम्मान किये जानेसे उनमें अभिमान उपस्थित हो सकता है। अतः जिससे "मैं सृष्टिकर्त्ता हूँ, अतएव मैं भी स्वतन्त्र भगवान् हूँ"—इस प्रकारका प्रबल अहङ्कार उदित न हो, इसके लिए श्रीब्रह्माने भगवत्-कृपाकी प्रार्थना की है।

इसका कारण है कि श्रीभगवान् ही यथार्थमें सृष्टिकर्त्ता हैं—ब्रह्मा केवल यन्त्रमात्र हैं। सूर्यकान्तमणिमें सूर्यकी किरणें प्रतिफलित होनेपर उनके द्वारा वस्तुएँ दग्ध हो जाती हैं, किन्तु वहाँ सूर्य ही जिस प्रकार मूल रूपसे दहनका कारण है, उसी प्रकार ब्रह्मा भी श्रीविष्णुकी शक्तिसे शक्तिमान होकर विश्वसृष्टि करनेका सामर्थ्य प्राप्त करते हैं।

श्रीभगवान्के प्रति नित्य शरणागति और भगवत्-कृपाके बिना जीव इस भीषण अहङ्कारके हाथोंसे त्राण नहीं पा सकता। जीव जैसे ही श्रीभगवान्के चरणोंका अनादर करके उनके प्रति शरणागतिका भाव त्याग करता है, उसी समय उसमें "मैं ही स्वतन्त्र भगवान् हूँ"—इस प्रकारकी दुर्बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। इसी भीषण अहङ्कारके कारण निर्विशेषवादी और असुरगण पतित हो जाते हैं, क्योंकि श्रीभगवान्के प्रति उनकी प्रपत्ति नित्य नहीं है। अतएव आदिगुरु श्रीब्रह्माने श्रीभगवान्के प्रति इस प्रकारकी प्रार्थना की है तथा ऐसी शरणापत्तिमूलक प्रार्थनाके फलसे ही उन्हें श्रवणकी योग्यता प्राप्त हुई। इस श्रवणकी योग्यता प्राप्त होनेके कारण ही श्रीभगवान्के द्वारा उनके समीप आदि-चतुःश्लोकी-भागवत अगले श्लोकसे कहा जा रहा है॥२९॥

द्वितीय-श्लोक

श्रीभगवान् द्वारा परम-भागवत ब्रह्माजीको श्रीमद्भागवत् नामक अपने शास्त्रकी सर्वश्रेष्ठ प्रतिपाद्य चार वस्तुओंका वर्णन

श्रीभगवानुवाच—

ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम्।
सरहस्यं तदङ्गञ्च गृहाण गदितं मया॥

(श्रीमद्भा॰ २/९/३०)

अन्वय

श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) [हे ब्रह्मन्!] विज्ञान (भगवान्के स्वरूपकी उपलब्धि) [और] सरहस्यं (रहस्यमयी प्रेमाभक्ति) समन्वितम् (के साथ) परमगुह्यं (अत्यन्त गोपनीय) यत् मे ज्ञानं (शब्द-शास्त्रोंका प्रतिपाद्य मेरा ज्ञान) च (और) तदङ्गम् (उस प्रेमाभक्तिके अङ्ग साधनभक्तिको) मया गदितं (मैं बतला रहा हूँ) [तुम इसे] गृहाण (ग्रहण करो)॥३०॥

अनुवाद

श्रीभगवान्ने कहा—हे ब्रह्मन्! भगवान्के स्वरूपकी उपलब्धि और रहस्यमयी प्रेमाभक्तिके साथ अत्यन्त गोपनीय शब्द-शास्त्रोंका प्रतिपाद्य मेरा ज्ञान और उस प्रेमाभक्तिके अङ्ग—साधनभक्तिको मैं बतला रहा हूँ, तुम इसे ग्रहण करो॥३०॥

श्रील भक्तिविनोद ठाकुरकृत व्याख्या

अद्वयज्ञान ही परमतत्त्व हैं। श्रीभगवान्ने कहा—हे ब्रह्मन्! मेरा ज्ञान अद्वय और परमगुह्य है। वह अद्वय होनेपर भी नित्य ही चार प्रकारके भेदोंसे युक्त है—ज्ञान, विज्ञान, रहस्य और तदङ्ग। मेरे इस

ज्ञानको जीव अपनी बुद्धिसे नहीं समझ सकता, अतएव तुम मेरे अनुग्रहसे उसकी उपलब्धि करो। ज्ञान मेरा स्वरूप है, विज्ञान शक्ति-सम्बन्ध है, जीव मेरा रहस्य है, प्रधान मेरा ज्ञानाङ्ग (तदङ्ग) है। इन चार तत्त्वोंकी नित्य अद्वयता और नित्य रहस्यगत भेद मेरी अचिन्त्यशक्तिका परिणाम है (श्रीभागवतार्कमरीचिमाला १०/२)॥३०॥

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरकृत
'सारार्थदर्शिनी टीका'

अत्र *'परावरे यथा रूपे जानीयाम्'* (श्रीमद्भा॰ २/९/२५) इत्यनेन तव अप्राकृतं रूपं प्राकृतञ्च रूपं कीदृशम्? इति; *'यथात्ममायायोगेन'* (श्रीमद्भा॰ २/९/२६) इत्यनेन तव माया, योगमाया च कीदृशी? इति; *'यथा क्रीड़सि'* (श्रीमद्भा॰ २/९/२७) इति मायाधिकृतेषु योगमायाधिकृतेषु तव केन प्रकारेण क्रीड़ा? इति; *'भगवच्छिक्षितमहं करवाणि ह्यतन्द्रितः'* (श्रीमद्भा॰ २/९/२८) इत्यनेन मदभीष्टसिद्ध्यर्थं त्वच्छिक्षितं किं मम कर्त्तव्यम्? इति—ब्रह्मणा क्रमेण पृष्टस्य वस्तुचतुष्टयस्य चतुःश्लोक्या क्रमेणैवोत्तरं दातुं भगवान् प्रतिजानीते—ज्ञानमिति। एतदेव भगवद्दत्तोत्तरचतुष्टयात्मकमेव श्रीभागवतं शास्त्रं श्रीभगवत्प्रोक्तत्वेन प्रसिद्धमित्याहुः। न केवलं मद्रूपस्य ज्ञानमेव तुभ्यं ददामि, अपि तु विज्ञानेनानुभवेन समन्वितं यत्तदपि। किञ्च, परमगुह्यं निर्विशेष-ब्रह्मज्ञानादपि श्रेष्ठत्वादिति भावः। किञ्च, रहस्यं प्रेमभक्तिञ्च, स प्रसिद्धस्त्वं गृहाण। *'सुगोप्यमपि वक्ष्यामि'* (श्रीमद्भा॰ ११/११/४९) इत्यादिनिर्देशात् तस्य रहस्यत्वं ज्ञेयम्। तस्य रहस्यस्याङ्गं साधन-भक्तियोगस्तञ्चेति त्वया अपृष्टमपि एतत्त्रयं कृपयैव वक्ष्यामि। किम्वा, *'भगवच्छिक्षितमहं करवाणि'* (श्रीमद्भा॰ २/९/२८) इत्यनेनैवैतत्त्रिकमपि त्वया पृष्टमेवेति चतुर्थश्लोक एव रहस्यत्वात् बहिरङ्गलोकागम्यतयैव वक्ष्यामि। तत्र रहस्य-तदङ्गयोरेतयोर्नामाग्रहणं प्रथमोक्तं परमगुह्य-तज्ज्ञानादप्यतिगोप्यत्वम् उत्कृष्टत्वञ्च बोधयतीति ज्ञेयम्। 'मया गृहाण' इत्यवदधानमपि ब्रह्माणं विशेषतोऽवधापयति॥३०॥

भावानुवाद—इस प्रसङ्गमें श्रीब्रह्माने श्रीभगवान्से चार प्रश्न किये हैं, यथा—(१) "परावरे यथारूपे जानीयाम्" (श्रीमद्भा॰ २/९/२५) अर्थात् आपका अप्राकृत और प्राकृत रूप किस प्रकारका है?; (२) "यथात्ममायायोगेन" (श्रीमद्भा॰ २/९/२६) अर्थात् आपकी माया और योगमाया किस प्रकारकी है?; (३) "यथा क्रीडसि" (श्रीमद्भा॰ २/९/२७) अर्थात् माया और योगमायाके अधिकृत स्थानों (लोकों) में

आपकी क्रीड़ा किस-किस प्रकारकी है?; (४) "भगवच्छिक्षितमहं करवाणि ह्यतन्द्रितः" (श्रीमद्भा॰ २/९/२८) अर्थात् मेरी अभीष्ट सिद्धिके लिए आपके द्वारा मेरे लिए कौन-कौनसे कर्त्तव्य उपदिष्ट हैं?—इस प्रकार श्रीब्रह्मा द्वारा क्रमसे पूछे गये इन चार प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे ही चार श्लोकोंमें प्रदान करना अङ्गीकार करते हुए श्रीभगवान् 'ज्ञानं' आदि श्लोक कह रहे हैं। श्रीभगवान्‌के द्वारा कथित यही उत्तर-शृंखलारूपी चतुःश्लोकी ही 'श्रीभागवत-शास्त्र' नामसे प्रसिद्ध है।

मैं केवलमात्र अपने स्वरूपका 'ज्ञान' ही तुम्हें दे रहा हूँ—ऐसा नहीं है, बल्कि 'विज्ञान' अर्थात् अनुभवसे युक्त ज्ञान भी तुम्हें दे रहा हूँ। विशेषतः यह 'परमगुह्यं' अर्थात् अत्यन्त गोपनीय है, क्योंकि यह निर्विशेष ब्रह्मज्ञानकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ है। तथा 'रहस्यं' अर्थात् अत्यधिक रहस्यपूर्ण—'प्रेमभक्ति' भी दे रहा हूँ, 'ब्रह्मा' नामसे प्रसिद्ध तुम इसे ग्रहण करो।

श्रीमद्भागवतके एकादश-स्कन्ध (११/११/४९) में श्रीभगवान्‌ने उद्धवसे कहा है—

अथैतत् परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन।
सुगोप्यमपि वक्ष्यामि त्वं मे भृत्यः सुहृत् सखा॥

अर्थात् "हे उद्धव! तुम मेरे सेवक, सुहृद् और सखा हो, अतएव अत्यन्त गोपनीय होनेपर भी मैं तुम्हें परमगुह्य तत्त्व बतलाऊँगा, तुम उसे श्रवण करो।" श्रीभगवान्‌के इस निर्देशसे उस प्रेमके रहस्यत्वको जानना होगा। 'तदङ्गञ्च' अर्थात् प्रेमभक्तिरूप रहस्यका अङ्ग जो साधनभक्तियोग है, उसकी तुम्हारे द्वारा जिज्ञासा न किये जानेपर भी मैं तुम्हें बतलाऊँगा। अर्थात् ये तीन विषय—विज्ञान अर्थात् अनुभवयुक्त परमगुह्य-ज्ञान, अति रहस्यमयी प्रेमाभक्ति और साधनभक्ति कृपापूर्वक मैं तुम्हें बतलाऊँगा। अथवा (श्रीमद्भा॰ २/९/२८) "मैं आपके द्वारा उपदेश दिये गये कार्यका ही पालन करूँगा"—तुम्हारे इस वचनके द्वारा ही उक्त तीनों विषयोंकी भी जिज्ञासा तुम्हारे द्वारा हो गयी है। अतएव चतुर्थ श्लोक (श्रीमद्भा॰ (२/९/३४) "यथा महान्ति") के अत्यन्त रहस्यपूर्ण होनेके कारण बहिरङ्ग लोगोंके अगम्य (दुर्बोध्य) रूपमें ही

मैं तुम्हें बतलाऊँगा। इस श्लोकमें 'रहस्य' (प्रेमभक्ति) और 'तदङ्ग' उसे (साधनभक्ति)—इन दो नामोंका स्पष्ट रूपसे उल्लेख न करके प्रथमोक्त "परमगुह्य एवं भगवान्के ज्ञान" से भी उनकी अति गोपनीयता और उत्कृष्टताको समझाया गया है—यह जानना होगा। 'मया गृहाण' अर्थात् "मैं बतला रहा हूँ, तुम ग्रहण करो"—ऐसा कहकर श्रीभगवान् स्थिरचित्तसे श्रवण करनेवाले श्रीब्रह्माको और भी विशेष रूपसे सावधान कर रहे हैं, अर्थात् मनोयोगी बना रहे हैं॥३०॥

श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामीपादकृत
'श्रीचैतन्यचरितामृत'

"प्रणवेर येइ अर्थ, गायत्रीते सेइ हय।
सेइ अर्थ चतुःश्लोकीते विवरिया कय॥

ब्रह्मारे ईश्वर चतुःश्लोकी ये कहिला।
ब्रह्मा नारदे सेइ उपदेश कैला॥

नारद सेइ अर्थ व्यासेरे कहिला।
शुनि' वेदव्यास मने विचार करिला॥"

"एइ अर्थ—आमार सूत्रेर व्याख्यानुरूप।
'भागवत' करिब सूत्रेर भाष्यस्वरूप॥"

चारिवेद-उपनिषदे यत किछु हय।
तार अर्थ लञ्या व्यास करिला सञ्चय॥

येइ सूत्रे येइ ऋक्—विषय-वचन।
भागवते सेइ ऋक् श्लोके निबन्धन॥

अतएव ब्रह्मसूत्रेर भाष्य—श्रीभागवत।
भागवत-श्लोक, उपनिषत् कहे 'एक' मत॥

भागवतेर सम्बन्ध, अभिधेय, प्रयोजन।
चतुःश्लोकीते प्रकट तार करियाछे लक्षण॥

“आमि—‘सम्बन्ध’-तत्त्व, आमार ज्ञान-विज्ञान।
आमा पाइते साधन-भक्ति ‘अभिधेय’-नाम॥

साधनेर फल—‘प्रेम’ मूल-प्रयोजन।
सेइ प्रेमे पाय जीव आमार ‘सेवन’॥

एइ ‘तिन’ तत्त्व आमि कहिनु तोमारे।
‘जीव’ तुमि एइ तिन नारिबे जानिवारे॥”

(चै॰ च॰ म॰ २५/९२-९८; १००-१०२; १०४)

भावानुवाद—प्रणव अर्थात् ॐकारका अर्थ गायत्री मन्त्रमें निहित है। इसकी विस्तृत व्याख्या चतुःश्लोकी-भागवतमें हुई है।

सबसे पहले इस चतुःश्लोकी-भागवतको श्रीभगवान्ने ब्रह्माजीको सुनाया था। श्रीब्रह्माने इसी चतुःश्लोकी-भागवतका उपदेश श्रीनारदको दिया था।

श्रीनारदने उस अर्थको श्रीव्यासदेवको बतलाया और श्रीव्यासदेवने इसे सुनकर अपने मनमें विचार किया—ॐकारका यह अर्थ मेरे सूत्र (वेदान्तसूत्र) की व्याख्याके अनुरूप है और मैं इसी अर्थको लेकर अपने सूत्रके भाष्यस्वरूप ‘भागवत’ का वर्णन करूँगा।

चारों वेदों और सभी उपनिषदोंमें जो कुछ भी कहा गया है, उसका सार-संग्रहकर श्रीव्यासदेवने वेदान्तसूत्रके रूपमें उसे प्रस्तुत किया।

वेदान्तसूत्रमें वेदके जिन मन्त्रोंका तात्पर्य वर्णित हुआ है, उन्हीं (वेदके) मन्त्रोंको श्रीमद्भागवतमें श्लोकोंके आकारमें संकलित किया गया है।

अतएव श्रीमद्भागवत ही ब्रह्मसूत्रका यथार्थ भाष्य है। श्रीभागवतके श्लोकों और उपनिषदोंके मन्त्रों—दोनोंका एक ही तात्पर्य है।

श्रीमद्भागवतमें वर्णित जो सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन है, उसका लक्षण इस चतुःश्लोकीमें प्रकट किया गया है।

[श्रीभगवान्ने ब्रह्माके निकट चतुःश्लोकीके अन्तर्गत ‘सम्बन्ध’, ‘अभिधेय’ और ‘प्रयोजन’—इन तीन तत्त्वोंकी संक्षेपमें व्याख्या करते

हुए कहा]—विषयबोधरूप मेरा अर्थात् भगवत्-स्वरूपका निर्द्धारण ही केवल चिन्मात्रमय 'ज्ञान' और आश्रय (भक्तों) की चित्-विलासानुभवरूप भगवत्-स्फूर्ति ही 'विज्ञान' है—यही 'सम्बन्ध'-तत्त्व है और मुझे प्राप्त करनेके लिए जो साधनभक्ति है—उसे 'अभिधेय' कहा जाता है।

साधनका फल 'प्रेम' ही मूल-प्रयोजन है। उसी प्रेमके द्वारा जीव मेरी सेवाको प्राप्त करता है।

[श्रीभगवान्ने कहा—]हे ब्रह्मा! तुम जीव होनेके कारण इन तीन तत्त्वोंको नहीं जान सकते हो, इसीलिए मैंने तुम्हारे निकट कृपापूर्वक इनका वर्णन किया है॥३०॥

श्रीलजीव गोस्वामीपादकृत 'क्रम-सन्दर्भः'

अथ तत्र परमभागवताय ब्रह्मणे श्रीमद्भागवताख्यं निजं शास्त्रमुपदेष्टुं तत्प्रतिपाद्यतमं वस्तुचतुष्टयं प्रतिजानीते—ज्ञानमित्यादि षट्कम्। मे मम भगवतो ज्ञानं शब्दद्वारा याथार्थ्य-निर्द्धारणं मया गदितं तत् गृहाण—इत्यन्यो न जानातीति भावः। यतः परमगुह्यं ब्रह्मज्ञानादपि रहस्यतमं—*'मुक्तानामपि सिद्धानाम्'* (श्रीमद्भा॰ ६/१४/५) इत्यादेः; तच्च विज्ञानेन तदनुभवेनापि युक्तं गृहाण। न चैतावदेव। किञ्च, सरहस्यं, तत्रापि रहस्यं यत् किमप्यस्ति, तेनापि सहितम्। तच्च प्रेमभक्तिरूपमित्यग्रे व्यञ्जयिष्यते। तथा तदङ्गञ्च गृहाण। तच्च सति त्वपराधाख्यविघ्ने न झटिति विज्ञान-रहस्ये प्रकटयेत्। तस्मात्तस्य ज्ञानस्य सहायञ्च गृहाणेत्यर्थः। तच्च श्रवणादिभक्तिरूपमित्यग्रे व्यञ्जयिष्यते; यद्वा, सरहस्यमिति तदङ्गस्यैव विशेषणं ज्ञेयं—सुहृदोरिव मिथः-संवर्द्धकयोरेकत्रावस्थानात्॥३०॥

भावानुवाद—श्रीभगवान् परम-भागवत ब्रह्माजीको श्रीमद्भागवत नामक अपने शास्त्रका उपदेश करनेके लिए 'ज्ञानं' आदि छह श्लोकोंमें अपने सर्वश्रेष्ठ प्रतिपाद्य चार तत्त्वोंको बतला रहे हैं। 'मे' अर्थात् स्वयं भगवान् मेरा। 'ज्ञान' अर्थात् शब्द अथवा वेदश्रवण (श्रौतपन्था) द्वारा प्राप्त मेरा (भगवत्) ज्ञान अथवा यथार्थ स्वरूप निर्धारण। "मैं कह रहा हूँ, तुम ग्रहण करो"—इसका भावार्थ यह है कि दूसरोंको इस ज्ञानका बोध नहीं है, क्योंकि श्रीमद्भागवत (६/१४/५) में "मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः। सुदुर्लभः प्रशान्तात्माकोटिष्वपि महामुने।"—श्रीपरीक्षित्के इस वचनसे तथा अन्य बहुत-से प्रमाणोंसे जाना जाता

है कि श्रीभगवान्के ज्ञानको प्राप्त करनेवाले प्रशान्तात्मा साधु कोटि-कोटि मुक्त पुरुषोंमें भी अत्यन्त विरल होते हैं, इसलिए यह ज्ञान परमगुह्य अर्थात् ब्रह्मज्ञानसे भी गुह्यतम है। इस भगवत्-ज्ञान और विज्ञान अर्थात् भगवान्की उपलब्धिके साथ संयुक्त ज्ञानको तुम ग्रहण करो। केवल इतना ही ग्रहण करोगे—ऐसा नहीं है, परन्तु उसमें भी और जो कुछ रहस्य वर्त्तमान है, उसके साथ इसे ग्रहण करो। वह रहस्य प्रेमभक्तिरूप है—इसे बादमें सूचित किया जायेगा। इस प्रकार उस रहस्यका अङ्ग जो साधनभक्ति है, उसे भी ग्रहण करो। अपराधरूपी विघ्नके दूर होते ही यह साधनभक्ति शीघ्र विज्ञान (भगवदनुभव) और रहस्य (प्रेमभक्ति) को प्रकट करती है, इसलिए यह साधनभक्ति भगवत्-ज्ञानकी ही सहायक है, अतएव तुम उसे ग्रहण करो। यह साधनभक्ति श्रवण-कीर्त्तनादि भक्तिरूपा है—इसे बादमें प्रदर्शित किया जायेगा। अथवा परस्पर सम्वर्द्धनकारी दो मित्रोंके एकत्र अवस्थानकी भाँति 'रहस्य' पदको 'तदङ्ग' का ही विशेषण जानना होगा॥३०॥

श्रीश्रीधर-स्वामीपादकृत 'भावार्थ-दीपिका'

ज्ञानं शास्त्रोत्थम्, विज्ञानं अनुभवः, रहस्यं भक्तिः, सुगोप्यमपि वक्ष्यामीत्यादि-निर्देशत्; तस्याङ्गं साधनम्॥३०॥

भावानुवाद—'ज्ञान' शब्दसे शास्त्रसे उत्पन्न ज्ञानका बोध होता है। 'विज्ञान' शब्दसे अनुभवको समझना चाहिये। "अति गोपनीय होनेपर भी मैं कहूँगा"—इस निर्देशके कारण 'रहस्य' शब्दसे भक्तिका इङ्गित हुआ है। उस रहस्यका 'अङ्ग' साधनभक्ति है॥३०॥

श्रीमध्वाचार्यपादकृत 'तात्पर्य'

'येन येन यथा ज्ञात्वा नियतं मुक्तिराप्यते।
तद्विज्ञानमिति प्रोक्तं ज्ञानं साधारणं स्मृतम्॥'

इति वामने॥३०॥

भावानुवाद—वामनपुराणमें कहा गया है—जिस-जिस उपायसे जिस रूपमें श्रीभगवान्‌को जाननेपर सर्वदा मुक्ति अर्थात् विष्णुपद प्राप्त होता है, उसे 'विज्ञान' कहते हैं तथा साधारण रूपमें वही 'ज्ञान' नामसे जाना जाता है॥३०॥

श्रीविजयध्वज तीर्थपादकृत 'पदरत्नावली'

यत् किञ्चित् पृष्टयः कश्चित् परिहार इति, अतः (श्रीमद्भा॰ २/९/२५) *'परावरे'* इति प्रार्थितवरदानप्रकारम् वक्ति—ज्ञानमिति। नियत मुक्तिप्रापकेण स्वबिम्बविषयेण विज्ञानेन समन्वितम् मे स्वरूपविषयम्, सरहस्यं उपनिषत्सम्वादसहितम् यज्ज्ञानम्, तस्य ज्ञानस्य यदङ्गश्च तन्मयागदितम्, गृहाणेत्यन्वयः। उपनिषदो बाह्यार्थरूपम् चेत् इदमनुपादेय स्यात्? इत्यतः उक्तम्—परमेति। ज्ञानम् शास्त्रार्थविषयम्, विज्ञानम् स्वानुभव इत्यपव्याख्यानम्, गदितमित्यनेन सूचितया *'येन येन यथा ज्ञात्वा नियतम् मुक्तिराप्यते। तद्विज्ञानमिति प्रोक्तम् ज्ञानम् साधारणम् स्मृतम्॥'* इति स्मृत्या निरस्तम्॥३०॥

भावानुवाद—जो कुछ जिज्ञासा करने और जो कुछ त्याग करनेके योग्य है, उसे कहनेके लिए अब श्रीभगवान् 'परावरे' आदि पच्चीसवें श्लोकमें प्रार्थित वरदानका प्रकार 'ज्ञानं' आदि श्लोक द्वारा बतला रहे हैं। नियत (नित्य) मुक्तिको प्राप्त करवानेवाला स्व-बिम्ब-विषय अर्थात् विज्ञान सहित मेरे स्वरूपका विषय, रहस्य सहित अर्थात् उपनिषद-संवाद सहित जो ज्ञान है और उस ज्ञानका जो अङ्ग है, वह भी मैं कह रहा हूँ, उसे तुम ग्रहण करो। यहाँ आपत्ति हो सकती है कि उपनिषदोंका बाह्य अर्थरूप ज्ञान जिस प्रकार अनुपादेय है, उसी प्रकार क्या यह भी अनुपादेय है? इस प्रकारकी आशङ्काके उत्तरमें कहते हैं—'परम्' आदि। शास्त्रार्थ-विषय ही ज्ञान है, अपना अनुभव ही विज्ञान है—यह अपव्याख्या 'गदितं' शब्दके द्वारा सूचित स्मृतिवाक्य—"जिन-जिन उपायों तथा भावोंको जानकर मुक्ति प्राप्त की जाती है, वह विज्ञानके रूपमें कथित है, तथा ज्ञान साधारण है"—के द्वारा निरस्त हुई है॥३०॥

श्रीवीरराघवाचार्यपादकृत
'श्रीभागवतचन्द्रिका'

एवं प्रार्थितो भगवान् तमनुग्रह्णन् परावररूपप्रकाशकम् चतुःश्लोक्यात्मकं भागवतमाह—ज्ञानमिति। ज्ञानं प्राधान्येन ज्ञातव्यं भगवत्स्वरूप-विषयकं ज्ञानम्; तदङ्गम् प्रधानतया ज्ञातव्य चिदचित्स्वरूप-विषयकञ्च ज्ञानं। मया गदितम्, तत् मे मत्तः गृहाण। कथं भूतं ज्ञानं?—परमगुह्यमिति, गोप्यं विज्ञानसमन्वितं। विज्ञायतेऽनेनेति विज्ञानं, शास्त्रं योगश्च ताभ्यांसहितं। सरहस्यं समन्त्रकम्॥३०॥

भावानुवाद—इस प्रकार प्रार्थित होकर श्रीब्रह्मापर अनुग्रह करनेके लिए श्रीभगवान् परावर (चराचार) रूप-प्रकाशक चतुःश्लोकी-भागवतका उपदेश कर रहे हैं। 'ज्ञान' शब्दसे प्रधान रूपसे ज्ञातव्य भगवत्-स्वरूप-विषयक ज्ञानको समझना होगा। 'तदङ्ग' शब्दसे प्रधान रूपसे ज्ञातव्य चित्-अचित्-स्वरूप विषयक ज्ञानको समझना होगा। यह मेरे द्वारा कथित हो रहा है, तुम इसे मुझसे ग्रहण करो। यदि कहो कि यह किस प्रकारका ज्ञान है? इसके उत्तरमें कहते हैं—यह ज्ञान परमगुह्य अर्थात् गोपनीय और विज्ञानयुक्त है। जिसके द्वारा मेरा ज्ञान विशेष रूपसे जाना जाता है, वह विज्ञान, शास्त्र और योग द्वारा प्राप्त होता है। 'सरहस्यम्' अर्थात् मन्त्र सहित॥३०॥

श्रीशुकदेवपादकृत
'सिद्धान्तप्रदीप'

एवं ब्रह्मणा प्रार्थितः आह भगवान्—ज्ञानमिति। यत् परमगुह्यं परमगोप्यं, सरहस्यं रहस्येन भक्तियोगेन सहितं यस्मिन् जाते भक्तियोगो दृढो भवेदेवम्भूतमित्यर्थः। सविज्ञानं विज्ञानेन विविधगुणशक्तिविषयकेण अवान्तरज्ञानेन सहितम्। एवम्भूतम् अस्मद्विषयकं ज्ञानं, तस्याङ्गम् तत्प्रतिपादक-चतुःश्लोक्यात्मकं शास्त्रं; यद्वा, तस्याङ्गं उपायं च मया गदितं मे मत्तः गृहाण॥३०॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीब्रह्माके द्वारा प्रार्थित होकर श्रीभगवान् कह रहे हैं—'परमगुह्य' अर्थात् परम गोपनीय ज्ञान, 'स-रहस्य' शब्दका अर्थ है—भक्तियोगके साथ, अर्थात् जिस ज्ञान (सम्बन्धज्ञान) के उदित होनेपर भक्तियोग (अभिधेय) दृढ़ होता है—इस प्रकारका ज्ञान। 'स-विज्ञान' शब्दका अर्थ है—विज्ञान अर्थात् विविध गुण-शक्ति-विषयक

स्वरूपज्ञानके साथ। इस प्रकार मेरे सम्बन्धमें जो ज्ञान है, उसका अङ्ग अर्थात् उस परमगुह्य भक्तियोगरूप ज्ञानका प्रतिपादक चतुःश्लोकात्मक शास्त्रको अथवा जिस प्रकारसे भक्तियोगका प्रकाश हो सकता है, वैसा उपाय मुझसे ग्रहण करो॥३०॥

श्रीवल्लभाचार्यपादकृत 'सुबोधिनी'

एवं परावरज्ञानं, क्रीड़ाज्ञानं, शिक्षा, गर्वाभावश्चेति चत्वारः प्रार्थिताः। तत्र क्रमाज्ज्ञानद्वये श्लोकद्वयम्। शिक्षायां चतुःश्लोकी। अनेनैव गर्वाभाव इत्यन्तिमः श्लोकः। एवं सप्तभिः श्लोकैश्चतुर्णामुत्तरं भवति, तत्र प्रथमं ज्ञानद्वये उत्तरमाह—ज्ञानमिति। मे पुरुषोत्तमस्य यज्ज्ञानं तत्परमगुह्यं, वक्तव्यं न भवति। यादृशं मां पश्यसि तादृश एवाऽहं पुरुषोत्तमः। इदमेव ममादिरूपं अन्तिमं रूपं च, इदं मदन्यः कोऽपि न जानाति। अतो मयैव गदितं सामान्यतो निरूपितं, त्वं गृहाण। भगवद्बुद्धौ सिद्धं भगवद्गुणज्ञानावताररूपं भगवज्ज्ञानं गृहाणेत्यर्थः। भगवतो हि ज्ञानं गदितमपि कृपाव्यतिरेकेण न प्राप्यत इति सिद्धवत्कारेण ददाह—गृहाणेति। उपदेशपूर्वकं ब्रह्मणे ज्ञानं दत्तवानित्यर्थः। तस्य ज्ञानस्य परिकरमाह—यद्विज्ञानसमन्वितमिति। विविधं ज्ञानं विज्ञानं। अस्यानुभवस्य जातत्वात् अस्यैव ज्ञानरूपत्वात्, विज्ञानं नानुभवः। किन्तु, *'अखिलसात्वतां पतिम्'* (श्रीमद्भा॰ २/९/१४) इत्यादि पति चतुष्टयज्ञानं विज्ञानं तेन समन्वितं ज्ञानं। तस्य रहस्यं सुनन्दनन्दादिवेष्टितत्वम्। भक्तिरिति यावत्। तस्याङ्गम् *'भृत्यप्रसादाभिमुखं'* (श्रीमद्भा॰ २/९/१५) इत्यादिभिः निरूपितानि प्रसादादीनि। चकारस्त्वनुक्तसर्वसमुच्चयार्थः। किं बहुना? यत्किञ्चित्त्वया वैकुण्ठे दृष्टं, तस्य सर्वस्य ज्ञानं तव भवत्वित्यर्थः॥३०॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीब्रह्माने श्रीभगवान्‌से चार वरोंकी प्रार्थना की—पर-अवरका ज्ञान, भगवत्-क्रीड़ाका ज्ञान, जगत्-रचनाकी शिक्षा और गर्वका न होना। इनमेंसे क्रमशः दो श्लोकों (श्रीमद्भा॰ २/९/३०-३१) में दो प्रकारके ज्ञानका वर्णन हुआ है अर्थात् "ज्ञानं परमगुह्यं" श्लोक द्वारा परावर-रूपका ज्ञान तथा "यावानहम्" श्लोक द्वारा भगवत्-क्रीड़ाका ज्ञान श्रीभगवान् द्वारा उपदिष्ट हुआ है। जगत्-रचनाकी शिक्षा चार श्लोकोंमें अर्थात् चतुःश्लोकी रूपमें कही गयी है और इन्हें समझ लेनेसे ही गर्वके न होनेका विषय अन्तिम श्लोकमें निर्दिष्ट हुआ है। इस प्रकार (इस श्लोक ३० से आरम्भकर

श्लोक संख्या ३६ तक) सात श्लोकोंमें चार प्रश्नोंके उत्तर दिये गये हैं।

उनमेंसे पहले दो प्रकारके ज्ञानका निरूपण करते हुए श्रीभगवान् 'ज्ञानं' आदि श्लोक द्वारा कह रहे हैं कि 'मे' अर्थात् मुझ पुरुषोत्तमका जो ज्ञान है, वह परमगुह्य है। उसे शब्दोंके द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। तुम मुझे जिस रूपमें देख रहे हो, मैं उसी रूपमें पुरुषोत्तम हूँ और यही मेरा आदि और अन्तिम अथवा नित्य रूप है। इसे मेरे अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं जानता। अतएव मैं स्वयं ही अपने इस रूपके सम्बन्धमें सामान्य रूपसे निरूपण कर रहा हूँ, तुम उसे ग्रहण करो। अर्थात् भगवत्-बुद्धि (हृदय) में नित्य सिद्ध भगवत्-गुणोंका ज्ञानावताररूप भगवत्-ज्ञान तुम ग्रहण करो। (अर्थात् श्रीभगवान्में सब कुछ सिद्ध अर्थात् विराजमान है, साध्य कुछ नहीं है। इसलिए उन श्रीभगवान्में स्थित इस ज्ञानको तुम ग्रहण करो।) श्रीभगवान् द्वारा अपने स्वरूपका ज्ञान कथित होनेपर भी उसे उनकी कृपाके बिना प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसलिए श्रीभगवान् ही ब्रह्माजीको कृपा करके वर देते हुए कह रहे हैं—"गृहाण अर्थात् तुम इसे ग्रहण करो।" अर्थात् स्वयं श्रीभगवान्ने उपदेश रूपमें श्रीब्रह्माको यह ज्ञान प्रदान किया।

इस ज्ञानके परिकरके सम्बन्धमें 'यद्विज्ञानसमन्वितम्' आदि पदके द्वारा कह रहे हैं कि जो लोग 'ज्ञानं' का अर्थ स्वरूपज्ञान और 'विज्ञान' का अर्थ उसके अनुभवके रूपमें करते हैं, वह ठीक नहीं है। इसका कारण है कि इस ज्ञानका अनुभव हो जानेसे विज्ञानका अर्थ अनुभव नहीं हो सकता है। "ददर्श तत्राखिल सात्वतां पतिं" (श्रीमद्भा॰ २/९/१४) श्लोकमें श्रीभगवान्को जो चार प्रकारके पतिरूपमें कहा गया है, उन चार प्रकारके पति-सम्बन्धित ज्ञानको ही यहाँ 'विज्ञान' शब्दसे निर्दिष्ट किया गया है। उस पति-चतुष्टय ज्ञानमें सम्पूर्ण विश्व और विश्वपति सम्बन्धित विविध ज्ञान उपदिष्ट हुआ है तथा अब भी श्रीभगवान् ब्रह्माजीको उस विविध ज्ञानके सहित गुह्यज्ञान दे रहे हैं।

उस ज्ञानका रहस्य—सुनन्द-नन्दादिसे परिवेष्टित भगवत्-पार्षद हैं। इस ज्ञानका भक्तिरूपमें भी एक स्वरूप है अर्थात् अपने स्वरूपज्ञानके साथ श्रीभगवान्‌ने ब्रह्माजीको अपनी भक्तिका भी दान किया। ज्ञानके रहस्य भगवद्भक्तिके साथ श्रीभगवान्‌ने ब्रह्माजीको उस भक्तिके अङ्गका भी दान किया। "भृत्यप्रसादाभिमुखम्" (श्रीमद्भा० २/९/१५) आदि श्लोकोंमें भगवान्‌की कृपा आदिका जो निरूपण किया गया है, वह भगवत्-कृपा इस ज्ञानका अङ्ग है। उसे भी श्रीभगवान्‌ने ब्रह्माजीको दिया। मूल श्लोकमें 'च' कारके प्रयोगसे जो कुछ व्यक्त नहीं हुआ है, उसे भी ग्रहण करना होगा। और अधिक क्या कहूँ? हे ब्रह्मण! वैकुण्ठमें तुमने जो कुछ देखा उन सबका ज्ञान तुम्हें हो॥३०॥

तथ्य—

वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्।
नाप्रशान्ताय दातव्यं न पुत्रायाशिष्याय वा पुनः॥

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥
(श्वे० उ० ६/२२-२३)

उपनिषदोंमें परमगुह्य इस विद्याका पूर्वकल्पमें उपदेश किया गया था। जिसका चित्त अत्यन्त शान्त अर्थात् विषयासक्तिरूप मलसे रहित न हो तथा जो पुत्र या शिष्य न हो उस पुरुषको इसे नहीं देना चाहिये।

जिनकी श्रीभगवान्‌में पराभक्ति है और श्रीभगवान्‌के समान ही श्रीगुरुदेवके प्रति भी पराभक्ति है, उसी महात्माके हृदयमें श्रुतियोंके सभी मर्मार्थ प्रकाशित होते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें अर्जुनके प्रति श्रीभगवान्‌के वचन हैं—

इदन्तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
(श्रीगी० ९/१)

हे अर्जुन! तुम मत्सरतारहित हो, अतएव मैं तुम्हें विज्ञानयुक्त, केवल शुद्धभक्ति-लक्षणसे युक्त यह ज्ञान कहूँगा, जिसे जानकर तुम इस दुःखमय संसारसे मुक्त हो जाओगे।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढ़मिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
(श्रीगी॰ १८/६४)

हे अर्जुन! सबकी अपेक्षा अत्यन्त गोपनीय मेरे परम वचनको पुनः श्रवण करो। तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो, ऐसा जानकर ही मैं तुम्हारे हितके लिए कहूँगा।

अर्थात् मैंने तुम्हें 'गुह्य ब्रह्म-ज्ञान' और 'गुह्यतर ईश्वर-ज्ञान' बतलाया है। अब 'गुह्यतम भगवत्-ज्ञान' का उपदेश दे रहा हूँ—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
(श्रीगी॰ १८/६५)

तुम मुझमें चित्त समर्पित करो, मेरे नाम, रूप, लीला आदिके श्रवण-कीर्त्तन आदिमें अनुरक्त होकर मेरे भक्त होओ, मेरी पूजा करनेवाले बनो और मुझे नमस्कार करो। इस प्रकार तुम मुझे ही प्राप्त करोगे। मैं तुमसे यह सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तुम मेरे प्रिय हो।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(श्रीगी॰ १८/६६)

वर्ण, आश्रम आदि समस्त शारीरिक और मानसिक धर्मोंका परित्यागकर एकमात्र मेरी शरण ग्रहण करो। मैं तुम्हें सभी पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तुम शोक मत करो।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥
(श्रीगी॰ १८/६८)

जो परमगुह्य इस गीताशास्त्रका उपदेश मेरे भक्तोंको देंगे, वे मेरी पराभक्ति प्राप्तकर संशयरहित होकर मुझे ही प्राप्त होंगे।

यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन् न चासञ्छिव एव केवलः।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी॥
(श्वे॰ उ॰ ४/१८)

जिस समय 'अतम' अर्थात् ज्ञानका प्रकाश होता है, उस समय प्राकृत दिन अथवा रात्रि नहीं रहती, सत् और असत् नहीं रहता अर्थात् द्वैत-बुद्धिके कारण अच्छे और बुरेका ज्ञानरूप मनोधर्म विलुप्त हो जाता है, तब केवल परममङ्गलमय अद्वयज्ञान-परतत्त्व श्रीभगवान् ही रहते हैं। वे ही अक्षर हैं, वे ही सविता (सूर्य) के वरणीय तेज हैं, उनसे ही सनातन ज्ञान (गुरुपरम्परागत ज्ञान) प्रकाशित होता है।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥
(मुण्ड॰ उ॰ १/२/१२ उत्तरार्ध)

उस भगवद्वस्तुका विज्ञान (प्रेमभक्ति सहित ज्ञान) प्राप्त करनेके लिए हाथमें यज्ञीय समिधा लेकर श्रोत्रिय (वेदोंका तात्पर्य जाननेवाले) और ब्रह्मनिष्ठ (कृष्णतत्त्वविद्) सद्गुरुके पास काय-मनो-वाक्यके साथ पूर्ण समर्पित भावसे जाना चाहिये।

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय समान्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्॥
(मुण्ड॰ उ॰ १/२/१३)

उन श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महात्माको (गुरुको) भी चाहिये कि अपनी शरणमें आये हुए ऐसे शिष्यको, जिसका चित्त पूर्णतया शान्त—निश्चल हो चुका हो, सांसारिक भोगोंमें सर्वथा वैराग्य हो जानेके कारण जिसके चित्तमें किसी प्रकारकी चिन्ता, व्याकुलता या विकार नहीं रह गये हों, जिसने अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको भलीभाँति वशमें कर लिया हो, उस ब्रह्मविद्याका तत्त्व-विवेचनपूर्वक भलीभाँति

समझाकर उपदेश करे, जिससे वह शिष्य नित्य अविनाशी परब्रह्म पुरुषोत्तमका ज्ञान प्राप्त कर सके।

ॐब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥
(मुण्ड॰ उ॰ १/१/१)

विश्वकर्त्ता भुवनपालक आदिदेव अर्थात् समस्त देवताओंसे पहले उत्पन्न श्रीब्रह्माने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वको सभी विद्याओंके आधारस्वरूप ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया था।

कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता।
मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः॥

तेन प्रोक्ता च पुत्राय मनवे पूर्वजाय सा।
ततो भृग्वादयोऽगृह्णन् सप्त ब्रह्ममहर्षयः॥
(श्रीमद्भा॰ ११/१४/३-४)

भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवजीसे कहा—वह वेदवाणी जिसमें मेरे स्वरूपभूत धर्म (भागवत-धर्म) का वर्णन है, कालके प्रभावसे प्रलयके समय लुप्त हो गयी थी। पुनः सृष्टिके प्रारम्भमें मैंने ही सर्वप्रथम ब्रह्माको इसका उपदेश दिया था। ब्रह्माने अपने ज्येष्ठ पुत्र स्वायम्भुव मनुको इसी धर्मका उपदेश दिया और मनुसे भृगु, अङ्गिरा, मरिचि, पुलह, अत्रि, पुलस्त्य और क्रतु—इन सात महर्षियोंने ग्रहण किया।

तेने ब्रह्महृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत् सूरयः।
(श्रीमद्भा॰ १/१/१)

जिन्होंने आदिकवि श्रीब्रह्माके हृदयमें बुद्धि-वृत्तिका प्रवर्त्तनकर उनके हृदयमें तत्त्ववस्तुको प्रकाशित किया था.....आदि।

प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती
वितन्वताजस्य सतीं स्मृतिं हृदि।

स्वलक्षणा प्रादुरभूत किलास्यतः
स मे ऋषीणामृषभः प्रसीदताम्॥
(श्रीमद्भा० २/४/२२)

कल्पके आरम्भमें जिन्होंने ब्रह्माके हृदयमें सृष्टिसे सम्बन्धित स्मृति प्रकाशित की थी; जिनके द्वारा प्रेरित वेदरूपा सरस्वतीकी ब्रह्माके मुखसे प्रकटित होनेकी प्रसिद्धि है तथा वह सरस्वती जिन श्रीकृष्णको ही उपास्यरूपमें निर्देश करती हैं—ज्ञान-प्रदाताओंमें सर्वश्रेष्ठ वे श्रीभगवान् मेरे प्रति प्रसन्न हों।

धर्मन्तु साक्षात् भगवत्प्रणीतं न वै विदुर्ऋषयो नापि देवाः।
न सिद्धमुख्या असुरा मनुष्याः कुतो न विद्याधर-चारणादयः॥

स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः।
प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम्॥

द्वादशैते विजानीमो धर्मं भागवतं भटाः।
गुह्यं विशुद्धं दुर्बोधं यं ज्ञात्वामृतमश्नुते॥
(श्रीमद्भा० ६/३/१९-२१)

वास्तवमें साक्षात् श्रीभगवान्ने ही धर्मकी मर्यादाका प्रणयन किया है। भृगु जैसे सत्त्वगुण प्रधान ऋषि भी उसे भलीभाँति नहीं जानते और देवता भी उसे नहीं जानते। प्रधान-प्रधान सिद्धगण, असुर और मनुष्य—कोई भी उसे नहीं जानता। फिर विद्याधर और चारण आदिके विषयमें क्या कहें? हे दूतो! स्वयम्भू (ब्रह्माजी), देवर्षि नारद, शम्भु, सनत्कुमार, देवहूति पुत्र कपिल, स्वायम्भुव मनु, प्रह्लाद, जनक, भीष्म, बलि, शुकदेवजी और मैं (यम)—मात्र हम बारह जन ही भागवत-धर्मके तत्त्वको जानते हैं। श्रीभगवान्के द्वारा निर्मित यह भागवत-धर्म परम शुद्ध और अत्यन्त गोपनीय है, अतः उसे जानना बहुत ही कठिन है। जो उसे जान लेता है, वह श्रीभगवान्के परमपदरूप प्रेममयी सेवाको प्राप्त करता है॥३०॥

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर 'प्रभुपाद' की 'विवृति'

अद्वयज्ञानतत्त्व श्रीव्रजेन्द्रनन्दन ब्रह्मज्ञान, परमात्म-योग और भगवत्-ज्ञानके एकमात्र आधार हैं। उनसे ही परमात्मयोग और ब्रह्मज्ञान प्रकट होते हैं और वे अद्वय भगवत्-ज्ञानके साथ अभिन्न रहते हैं। अभिन्न होनेपर भी साधारण, गोपनीय तथा परम गोपनीय भेदसे ज्ञान तीन प्रकारका है। इस त्रिविध ज्ञानस्वरूपके परिचय द्वारा अज्ञान, द्वैतज्ञान अथवा अद्वयज्ञानका अभाव परिलक्षित नहीं होता। जहाँ अद्वयज्ञानका अभाव है, वहीं अज्ञान अथवा कैतव, माया अथवा तम और अनित्य निरानन्द विद्यमान रहता है। अद्वयज्ञान सत्, चित् और आनन्द—इन तीन वृत्तियोंसे परिपूर्ण है। जहाँ सच्चिदानन्दकी अनुभूतिके अतिरिक्त कृत्रिम भेदज्ञान अद्वयज्ञानको बाधा प्रदान करता है, वहीं सत्य परमेश्वर भगवान्‌की अनुभूति आंशिक रूपसे आवृत हो पड़ती है। साधारण केवल-ज्ञानवादी जिस अद्वयज्ञानको लक्ष्य करते हैं, उसकी अपेक्षा परमात्मयोगमें अधिक पूर्णता है। परमात्मयोगमें शक्ति और शक्तिमानका विचार निःशक्तिक ब्रह्मज्ञानके प्रतिकूल होनेपर भी वह अद्वयज्ञानात्मक है। परमात्माकी शक्तिके विचारसे शक्तिमानके समस्त अङ्गोंमें तीन प्रकारके अङ्ग विचारित होते हैं—परमात्माका 'अन्तरङ्ग', परमात्माका 'बहिरङ्ग' और परमात्माका 'तटाङ्ग'। अङ्गीके अङ्ग परिचयमें तीन शक्तियाँ—तद्रूपवैभव, जीव और प्रधान नामसे प्रसिद्ध हैं। परमात्माकी 'अन्तरङ्गा'-शक्तिसे प्रकटित तद्रूपवैभव "भक्तियोग मायाप्राभव-प्रकटित" नामसे परिचित है। परमात्माकी 'बहिरङ्गा'-शक्तिसे प्रकटित प्राकृत-ब्रह्माण्डको उत्पन्न करनेवाली गुणमाया कालसे क्षुब्ध होनेके कारण नश्वर विचित्रता सम्पादन करनेमें निपुण है और परमात्माकी अन्तरङ्गा और बहिरङ्गा शक्तियोंकी सीमाके बीचमें 'तटस्था' नामक जीवमाया नित्यकाल ही शक्तिमानकी शक्तिके आश्रयत्वको प्रकटित कराकर शक्ति और शक्तिमानके अभेदत्वको युगपत् सिद्ध कर देती है। इसके अतिरिक्त शक्ति और शक्तिमानका लीला-वैचित्र्य परस्पर भेदयुक्त होकर भी परमात्माके अद्वयज्ञानका साक्ष्य प्रदान करता है।

शक्तिके विचारसे रहित होकर वस्तुका अद्वयज्ञान युक्ति-संगत न होनेके कारण ही वह निर्विशेष-ज्ञानमें परिणत होता है। जहाँ ज्ञान और विज्ञान संयुक्त नहीं हैं, वहाँ काल्पनिक निर्विशेष धारणा 'अयोग' शब्दके द्वारा कथित होती है। ज्ञान और विज्ञानके संयोगमें प्राकृत ज्ञानसे अतीत निर्विशेष ज्ञानका अभाव है। तमोगुणमें ही रज-सत्त्वके विनष्ट होनेके कारण मायाशक्ति ब्रह्मके रूपमें प्रतीत होती है। निर्विशिष्ट ज्ञान, ज्ञान और उसके विपरीत अज्ञानके पार्थक्यका स्थापन नहीं करता। भगवत्-ज्ञान अणुचित् शक्तिसे सम्पन्न विज्ञानका अनुभवनीय विषय है। चिन्मात्र ज्ञानमें इस विज्ञानका असमन्वय नहीं है अर्थात् समन्वय है, किन्तु अज्ञान विजातीय धर्मका ज्ञापक है। इसलिए श्रीभगवान्ने ब्रह्माजीके प्रति अपने ज्ञानको सर्वोत्कृष्ट और परम चमत्कारमय स्वयंरूप-प्रकाश बतलाया है। जीवमाया और गुणमायाके अभावमें साधारण निर्विशेष ज्ञान भगवत्ताका निर्देश नहीं कर सकता, इसलिए यह ज्ञान परम गोपनीय नहीं कहा जाता। उसी ज्ञान और विज्ञानके संयोगसे ही शक्ति और शक्तिमानकी लीलाकी जो अनुभूति होती है, वह रहस्यमय है। रहस्यसे रहित होनेपर भगवत्-ज्ञानके असम्पूर्ण और आंशिक दर्शनमें अद्वयज्ञानकी विभिन्न प्रतीतियाँ होने लगती हैं। रहस्यकी अङ्गीभूत सामग्रियाँ और तदानुषङ्गिक (उससे संयुक्त सामग्रियाँ) अपृथक् हैं, किन्तु भिन्न विषयसमूह ज्ञान-विज्ञान-रहस्ययुक्त पूर्णताकी सम्पूर्णताके साधनमें अयोग्य नहीं हैं अर्थात् योग्य हैं।

सम्बन्धतत्त्वकी आलोचनामें हम 'विषय' और 'आश्रय' नामक 'आलम्बन' विभावको लक्ष्य करते हैं। 'उद्दीपन' विभावमें उनका परस्पर संयोग है और 'उद्दीपन'-विभावके अभावमें उनका परस्पर वियोग है। जहाँ वियोग धर्मका प्राकट्य है, वहाँ 'संवेत्ता', 'संवेद्य' और 'संवेदन' धर्मका अभाव है। यह सम्बन्ध रहस्यमय तथा परम गोपनीय है। जहाँ अनुभवनीय सम्वित् ज्ञेय नहीं है, वहीं विज्ञानका अभाव है। विज्ञान-समन्वित अद्वयज्ञान-रहस्यको ज्ञेय रूपमें अपना प्रयोजन जान लेनेपर ही सच्चिदानन्दकी लीला प्रकट होती है। सच्चिदानन्द वस्तुके अङ्गित्व-सूत्रमें लीलाके अन्तर्गत अनुशीलनीय-साधन 'अभिधेय' कहलाता

है, यही अङ्गीका अङ्ग है। अद्वयज्ञान अङ्गीके साथ अविच्छिन्न है। विज्ञान और रहस्य (प्रयोजन अर्थात् प्रेम) के 'अभेद' विचारसे एक ही साथ अङ्ग (अभिधेय—साधनभक्ति) के साथ संयुक्त होनेपर भी रहस्यका अङ्गसे 'भेद' है। अङ्ग अङ्गीसे पृथक् नहीं हैं। अङ्ग और अङ्गीमें जो भेद अथवा वैशिष्ट्य वर्त्तमान है, वह परम गोपनीय भगवत्-ज्ञानमें ही सुप्रकाशित है। वहाँ विज्ञानका ही अधिष्ठान परिलक्षित होता है। विज्ञानके अभावमें अद्वयज्ञान वस्तुको अङ्ग और रहस्यसे पृथक् करके जो अशोभनीय भेद उपस्थित होता है, उस दुष्टताको शान्त करनेके लिए ही अक्षज विचारमें भक्तिहीन जनोंके लिए निर्विशेषवादकी अवतारणा है। श्रीभगवान्ने विज्ञानरहित, रहस्यवर्जित अङ्गकी धारणासे रहित अज्ञ लोगोंकी काल्पनिक ज्ञानरूप मन्द धारणाको दूर करनेके लिए ही श्रीब्रह्माको यह भगवत्-ज्ञान-विषयक अनुभव प्रदान किया है। श्रीभगवान् अपने ज्ञान-स्वरूपके प्रदाता हैं। श्रोतारूपमें ब्रह्माजीने श्रीभगवान् द्वारा कथित विज्ञान और रहस्य सहित अद्वयज्ञान और उसके अङ्गका श्रवण किया था। इस सुने हुए विषयकी धारणा करनेके लिए श्रीभगवान्ने ब्रह्माजीमें शक्तिका सञ्चार किया था। कीर्त्तन और श्रवणके प्रभावसे सम्बन्धज्ञानके उदय होनेपर 'अभिधेय अङ्ग' साधनभक्तिके द्वारा ही रहस्य सहित, विज्ञानमय अद्वयज्ञान उदित होता है।

चतुःश्लोकीके चार श्लोकोंके प्रतिपाद्य चार विषय इसी श्लोकमें ही ग्रथित हुए हैं। प्रस्तुत श्लोकके चार चरण चार पृथक् श्लोकोंमें विस्तृत होकर ही चतुःश्लोकी नामसे प्रसिद्ध हैं। 'ज्ञानं मे परमं गुह्यं'—इस चरणका प्रतिपाद्य विषय "अहमेवासमेवाग्रे"—श्लोकमें विस्तृत हुआ है। 'यद्विज्ञान समन्वितं'—यह चरण "ऋतेऽर्थम् यत् प्रतीयेत" श्लोकमें, 'सरहस्यं तदङ्गञ्च'—यह चरण "यथा महान्ति भूतानि" श्लोकमें तथा 'गृहाण गदितं मया' यह अन्तिम चरण चतुर्थ "एतावदेव जिज्ञास्यं" श्लोकमें, अथवा अन्योंके मतमें "यथा महान्ति भूतानि" श्लोकमें वर्णित हुआ है। 'सम्बन्धतत्त्व' इस श्लोकके प्रथम दो चरणोंमें, 'अभिधेय' चतुर्थ चरणमें तथा 'प्रयोजन' तृतीय चरणमें अभिव्यक्त हुआ है।

तर्क-वितर्कका आश्रय करनेसे (श्रीभगवान्‌के) अद्वयज्ञान स्वरूपकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अविद्याग्रस्त जीवोंको यही बतलानेके लिए श्रीभगवान्‌ने कहा है कि एकमात्र श्रौतपन्थ[1] ही ग्रहणीय है। तर्कपन्थ कभी भी अद्वयज्ञानका साधनस्वरूप अङ्ग नहीं हो सकता। तर्कपन्थके द्वारा भ्रम, प्रमाद, करणापाटव और विप्रलिप्सा इन चार दोषोंसे युक्त अविद्याग्रस्त जीव अद्वयज्ञानस्वरूप श्रीव्रजेन्द्रनन्दनके विषयमें नहीं जान सकते। भगवत्-स्वरूप और भक्तस्वरूप—इन दोनोंका परस्पर चित्-उद्दीपनमय नित्य अनुभवनीय भाव तर्कपथके द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता है। तर्कपथके द्वारा श्रीभगवान्‌का ज्ञान असुरोंको मोहित करनेके लिए ही आवृत हुआ है। श्रौतपथ ही इस आवरणको हटानेका एकमात्र उपाय है। कीर्त्तनके माध्यमसे ही श्रौतपथ संरक्षित होता है। गुरुपरम्परासे रहित गुरु-अवज्ञामय तर्कपथ अविद्याग्रस्त जीवोंको तमोराज्यमें प्रवेश करवाता है। वहाँ भजनीय वस्तुके प्रति सेवावृत्ति नहीं है। यह भगवत्-ज्ञान एकमात्र श्रौतपथ द्वारा ही प्राप्त होता है॥३०॥

श्रीश्रीनिवासाचार्यपादकृत
'चतुःश्लोकी-भाष्यम्'

श्रीकृष्ण कृष्णचैतन्य ससनातन-रूपक।
गोपाल-रघुनाथाप्त व्रजवल्लभ पाहि माम्॥

श्रीभगवानुवाचेति—भगवन्तो ज्ञानशक्ति-वैराग्यैश्वर्य-वीर्य-तेजोवन्तः षड़्गुणयुक्ताः, अतएव *'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः। ज्ञान-वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना॥'*; भगवन्तस्त्रिपाद्विभूतियुक्ताः श्रीवैकुण्ठनाथादयः पूर्णाः, श्रीकृष्णस्तु स्वयं भगवान् चातुष्पादिक-विभूतिमान् श्रीगोपालरूपी पूर्णतमः। तथाहि श्रीगोपालवाक्यं (ब्रह्माण्डपुराणे)—*'सन्ति भूरीणि रूपाणि मम पूर्णानि षड्गुणैः। भवेयूस्तानि तुल्यानि न मया गोपरूपिणा॥'* इति। अतएव सर्वातिशयानन्तगुणवान् गोलोकधामा एव वक्ता।

ज्ञानमित्यादि—मोक्षे धीः ज्ञानं, भक्तौ धीः परमज्ञानं, प्रीतौ धीः परमगुह्यज्ञानं, विज्ञानं शिल्प-शास्त्रयोः। शिल्पमत्र श्रीविग्रह-त्रिभङ्गि-सुगठन-करचरण-रेखाविन्यासादि;

---

[1] श्रौतपन्थ—सद्गुरु-परम्पराके द्वारा स्वीकृत श्रुति (वेद) उपनिषद् और उनके अनुगत शास्त्रोंमें बतलाये गये पथ अर्थात् विचारको 'श्रौतपथ' कहते हैं। गुरुपरम्पराके माध्यमसे श्रवण किया गया विचार ही 'श्रौतपथ' है।

शास्त्रमत्र श्रीभागवत-गीता-पद्मपुराणादि सात्त्विक-कल्पादि। रहस्यमत्र रास-निकुञ्ज-मोहनमन्दिर-श्रीराधा-सम्भोगपरमसुखं प्रधानमङ्गि। अङ्गमत्र विभावानुभाव-सात्त्विक-सञ्चारि, सुहृद्रूप-सख्यादि-वैरिरूप-वात्सल्यादि, विप्रलम्भ-पूर्वराग-मान-प्रवासादि, दिव्योन्माद चित्रजल्पादिकोटिश्च। च-कारादनन्तम्। मया—स्वयंभगवता रसिकशिरोमणिना निगूढ़-निजलीला-विशारदेन गदितं व्यक्तमुक्तं भरतादिमुनिमानसागोचरत्वादव्यक्तम्। अतएव गृहाण परमाग्रहपूर्वकं दुर्लभं वस्तु महानिधिवद्धारय इति दिक्॥३०॥

भावानुवाद—व्रजवल्लभ श्रीकृष्ण, श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु तथा श्रील सनातन गोस्वामी सहित श्रील रूप गोस्वामी, श्रील गोपाल भट्ट गोस्वामी, श्रील रघुनाथ दास गोस्वामी आदि व्रजरस-तत्त्वज्ञ मेरी रक्षा करें, मैं उनकी शरण ग्रहण करता हूँ।

सर्व प्रथम श्लोकमें कथित 'श्रीभगवानुवाच' का अर्थ किया जा रहा है। जिनमें ज्ञान, शक्ति, वैराग्य, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज रूप छह गुण हैं, उन्हें भगवान् कहा जाता है। त्रिपाद्विभूतिसे युक्त श्रीवैकुण्ठनाथादि भगवान् शब्द वाच्य हैं और वे पूर्ण हैं, किन्तु श्रीकृष्ण स्वयंभगवान् हैं। श्रीकृष्ण चतुष्पाद्-विभूति-सम्पन्न श्रीगोपालके रूपमें पूर्णतम हैं। ब्रह्माण्डपुराणमें श्रीगोपालदेवने कहा है—"मेरे षड्गुणोंसे युक्त और पूर्ण बहुत-से प्रकाश हैं, किन्तु मेरे गोपरूपके साथ उन सबकी तुलना नहीं हो सकती।" अतएव यहाँपर सर्वश्रेष्ठ और अनन्त गुणसम्पन्न गोलोकवासी श्रीहरि ही वक्ता अर्थात् 'श्रीभगवानुवाच' शब्द द्वारा अभिप्रेत हैं।

मोक्ष-विषयिनी बुद्धिको 'ज्ञान', भक्ति-विषयिनी बुद्धिको परमज्ञान, प्रीति-विषयिनी बुद्धिको परमगुह्य ज्ञान कहा जाता है। 'विज्ञान' शब्दसे शिल्प और शास्त्र-विषयक अनुभव ही गृहीत होता है। यहाँपर 'शिल्प' शब्दसे श्रीविग्रहके त्रिभङ्गिम सुगठन, कर-चरण आदिके रेखाविन्यास और वेशविन्यास आदिको जानना चाहिये। तथा 'शास्त्र' शब्दसे श्रीमद्भागवत, गीता, पद्मपुराण आदि सात्त्विक कल्पादिको समझना चाहिये। 'रहस्य' शब्दसे यहाँपर रास—निकुञ्जमोहन-मन्दिर आदिमें श्रीराधाके साथ सम्भोगादि परम सुखकी अनुभूति ही प्रधान अङ्गी है। 'अङ्ग' शब्दसे विभाव (आलम्बन और उद्दीपन), अनुभाव (चित्त-स्थित भावोंके अवबोधक नृत्य, गान, हुंकार, जँभाई आदि),

सात्त्विक (अश्रु, कम्पादि), व्यभिचारी (त्रास, शंका, श्रम आदि), (मधुररूप अङ्गीके) सुहृद्रूप—सख्यादि, वैरीरूप—वात्सल्यादि, विप्रलम्भ—पूर्वराग-मान-प्रवासादि, दिव्योन्माद—चित्रजल्प आदि अनन्त प्रकारके विषयोंको ग्रहण करना होगा।

'मया'—स्वयं भगवान्, रसिक-शिरोमणि, निगूढ़ लीला-विशारद मैं ही तुम्हें यह सब तत्त्व कह रहा हूँ। यद्यपि यह तत्त्व भरतादि मुनियोंकी भी मनोवृत्तिके अगोचर होनेके कारण अब तक अव्यक्त ही था, तथापि मैं तुम्हें कृपापूर्वक स्पष्ट रूपसे बतला रहा हूँ। हे ब्रह्मन्! तुम इस तत्त्वको महानिधिकी भाँति मनमें परम आग्रहके साथ धारण करो॥३०॥

तृतीय-श्लोक

श्रीब्रह्माके हृदयमें अपना विज्ञान और रहस्य आविर्भूत करानेके लिए श्रीभगवान् द्वारा आशीर्वाद प्रदान

यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः।
तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्॥

(श्रीमद्भा॰ २/९/३१)

अन्वय

अहं यावान् (स्वरूपतः मेरा जो परिमाण अर्थात् आकार है) यथाभावः (सत्ताशीलता आदि जो लक्षण हैं) यद्रूपगुणकर्मकः (तथा मेरे जो-जो रूप अर्थात् श्याम, चतुर्भुजत्वादि; गुण अर्थात् भक्तवात्सल्यादि और कर्म अर्थात् लीलाएँ हैं) ते (तुम) तथा (उन सब विषयोंका) एव तत्त्वविज्ञानं (यथार्थः अनुभव) मदनुग्रहात् (मेरी कृपासे) [सम्पूर्ण रूपसे] अस्तु (प्राप्त करो)॥३१॥

अनुवाद

स्वरूपतः मेरा जो परिमाण (आकार) है, सत्तायुक्त होना जो लक्षण है तथा मेरे जो-जो रूप (श्याम, चतुर्भुज आदि रूप), गुण (भक्तवात्सल्यादि) और कर्म (लीलाएँ) हैं, तुम उन सब विषयोंका वैसा ही अनुभव मेरी कृपासे सम्पूर्ण रूपसे प्राप्त करो॥३१॥

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीपाद

किञ्च, ज्ञानं शब्दद्वारा याथार्थ्यनिर्द्धारणं परोक्षं, तच्च किञ्चित् शुद्धचित्तानामास्तिकानां सम्भवेदपि। विज्ञानन्त्वपरोक्षानुभवः—मत्स्वरूपस्य याथार्थ्येन साक्षात्कारः, स च रहस्य-तदङ्गशब्दाभ्यां मत्प्रेमभक्ति-साधनभक्तिभ्यां विना नैव भवतीति बोधयंस्तदर्थमाशिषं ददाति। यावान् यत्प्रमाणाकारः—यादृशस्थौल्य-

कार्श्यदैर्घ्यतुङ्गतावृत्तताद्यौचित्यसंनिवेशविशिष्टावयव इत्यर्थः। यथाभावो यादृशाभिप्रायः। यानि रूपाणि श्यामत्व-चतुर्भुजत्व-कृष्णत्व-रामत्व-नृसिंहत्वादीनि, गुणा भक्तवात्सल्याद्याः, कर्माणि लक्ष्मी-परिग्रह-गोवर्द्धनोद्धरणादीनि यस्य सः। तथैवेति येन येन प्रकारेण मम परिमाणाभिप्रायरूपगुणकर्माण्याविर्भवन्ति तेनैव प्रकारेण तत्त्वविज्ञानं तेषां याथार्थ्यानुभवोऽस्तु। तत्राशीर्वादेनैवानुग्रहे व्यञ्जितेऽपि पुनर्मदनुग्रहपदोपादानं परमान्तरङ्ग-मत्कृपाशक्तिवृत्तिविशेष-साधनभक्ति-प्रेमभक्त्योर्वृद्धि-तारतम्येनैव तद्रूपगुणादिमाधुर्यानुभव-तारतम्ये समुत्पत्स्यमानेऽप्येतस्मादपि मत्स्वरूपादधिकतममाधुर्यं परमदुर्लभं कृष्णस्वरूपं मां व्रजभूमौ त्वं साक्षादनुभविष्यसीति सूचयति। एतेन चतुःश्लोक्या निर्विशेषस्वरूपमात्र-परत्वेनान्यव्याख्यानं स्वयमेव परास्तम्॥३१॥

भावानुवाद—जिस विवेकके द्वारा वस्तुके विषयमें पूर्ण रूपसे जाना जाता है, उसे ज्ञान कहते हैं। 'ज्ञान' शब्दके द्वारा जो यथार्थ स्वरूपका निर्धारण है, वह परोक्ष अर्थात् अप्रत्यक्ष ज्ञान कुछ-कुछ शुद्धचित्तवाले आस्तिक जनोंमें भी हो सकता है। किन्तु 'विज्ञान' कहनेसे जो अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) का अनुभव है, वह मेरे (भगवान्के) स्वरूपका यथार्थ रूपमें साक्षात्कार है। वह विज्ञान मेरे 'रहस्य' अर्थात् मेरी प्रेमभक्ति और 'तदङ्ग' अर्थात् साधनभक्तिके बिना कदापि सम्भव नहीं है। इस विषयको समझाते हुए श्रीभगवान् ब्रह्माजीको कृष्णप्रेम और साधनभक्तिकी प्राप्तिके लिए आशीर्वाद दे रहे हैं। 'यावान्' शब्दका अर्थ है—जिस परिमाणमें मेरा आकार (स्वरूप) है अर्थात् मैं जैसी स्थूलता, कृशता, दीर्घता, उच्चता, गोलाकार आदिके यथोचित सन्निवेश द्वारा जिन विशिष्ट अङ्गोंसे युक्त हूँ। 'यथाभावः' का अर्थ है—जिस प्रकार मेरा (भगवान्का) अभिप्राय है। 'यद्-रूप-गुण-कर्मकः' शब्दमें रूप अर्थात् श्यामत्व, चतुर्भुजत्व, कृष्णत्व, रामत्व, नृसिंहत्व आदि, 'गुण' अर्थात् भक्तोंके प्रति वात्सल्यादि, 'कर्म' अर्थात् लक्ष्मी-परिग्रह, गोवर्धन पर्वतका धारण आदि जिनकी लीलाएँ हैं, वे श्रीभगवान् जैसे रूप-गुण सम्पन्न और लीलामय हैं। 'तथैव'—वैसे ही अर्थात् जिस-जिस प्रकारसे मेरा (भगवान्का) परिमाण (आकार), अभिप्राय, रूप, गुण और कर्म (लीलादि) प्रकाशित होते हैं, ठीक उसी प्रकारसे ही उन सबका 'तत्त्व-विज्ञानं' अर्थात् यथार्थ अनुभव तुम्हें प्राप्त हो।

यहाँ केवल आशीर्वादके द्वारा ही श्रीभगवान्का अनुग्रह प्रकाशित होनेपर भी पुनः "मदनुग्रह—मेरा अनुग्रह"—इस पदका उल्लेख करनेसे

मेरी परम अन्तरङ्ग कृपा-शक्तिकी वृत्ति-विशेष—साधनभक्ति और प्रेमभक्तिकी वृद्धिके तारतम्यके कारण क्रमशः मेरे उन रूप-गुणादिके माधुर्यके अनुभवका तारतम्य उत्पन्न होता है। इस तारतम्यके कारण मेरे इस स्वरूप (वर्त्तमानमें परिदृश्यमान इस चतुर्भुजरूप) से भी अधिकतम माधुर्यकी विशेषतासे युक्त मेरा जो परम दुर्लभ कृष्णस्वरूप है, उस (अर्थात् मेरा स्वयं-भगवत्तारूप, ऐश्वर्य-माधुर्य-घन-विग्रह श्रीकृष्ण स्वरूप) का तुम व्रजभूमिमें साक्षात् अनुभव करोगे—यही सूचित हुआ है। जो लोग चतुःश्लोकीके द्वारा केवल निर्विशेष स्वरूप मात्रकी व्याख्या करते हैं, इसके द्वारा उनकी भक्तिहीन इतर व्याख्या स्वयं ही परास्त हुई है॥३१॥

श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीपाद

"यैछे आमार 'स्वरूप', यैछे आमार 'स्थिति'।
यैछे आमार गुण, कर्म, षड़ैश्वर्य-शक्ति॥

आमार कृपाय एइ सब स्फुरुक तोमारे।"
एत बलि' तिन तत्त्व कहिला ताँहारे॥
(चै॰ च॰ म॰ २५/१०५-१०६)

भावानुवाद—(श्रीभगवान्‌ने ब्रह्माजीको कहा—)जैसा मेरा 'स्वरूप' है, जैसी मेरी 'स्थिति' है, जैसे मेरे गुण, कर्म तथा मेरी षड़ैश्वर्य-शक्ति है, ये सब मेरी कृपासे ठीक-ठीक उसी प्रकारसे ही तुम्हारे हृदयमें स्फुरित हों। ऐसा कहकर श्रीभगवान्‌ने ब्रह्माजीको तीन तत्त्वोंका उपदेश दिया॥३१॥

श्रीजीव गोस्वामीपाद

तत्र साध्ययोर्विज्ञानरहस्ययोराविर्भावार्थमाशिषं ददाति—यावानहमिति। यावान्—स्वरूपता यत्परिमाणकोऽहम्; यथाभावः—सत्ता यस्येति यल्लक्षणोऽहमित्यर्थः; यानि—स्वरूपान्तरङ्गाणि; रूपाणि—श्यामत्व-चतुर्भुजत्वादीनि; गुणाः—भक्तवात्सल्याद्याः; कर्माणि—तल्लीला यस्य स यद्रूपगुणकर्मकोऽहं तथैव तेन तेन सर्वप्रकारेणैव तत्त्वविज्ञानं याथार्थ्यानुभवो मदनुग्रहात् ते तवास्तु भवतादिति। एतेन चतुःश्लोक्यर्थस्य निर्विशेषपरत्वं स्वयमेव परास्तम्। वक्ष्यते च चतुःश्लोकीमेवोद्दिशता श्रीभगवता

स्वयमुद्धवं प्रति (श्रीमद्भा॰ ३/४/१३) *'पुरा मया'* इत्यादौ *'ज्ञानं परं मन्महिमावभासम्'* इति। 'तत्त्वविज्ञान'-पदेन रूपादीनामपि स्वरूपभूतत्वं व्यक्तम्। तत्र विज्ञानाशीः स्पष्टा, रहस्याशीश्च परमानन्दात्मकतत्तद्याथार्थ्यानुभवेनावश्यं प्रेमोदयात्॥३१॥

भावानुवाद—चार वस्तुओंमेंसे दो साध्य वस्तुएँ—विज्ञान और रहस्य, जिस प्रकारसे ब्रह्माजीके हृदयमें आविर्भूत हों, उसीके लिए ही श्रीभगवान् आशीर्वाद प्रदान कर रहे हैं। 'यावान्' अर्थात् मैं जिस परिमाण (आकार) से युक्त हूँ; 'यथाभावः'—मैं जिस प्रकार सत्तायुक्त अर्थात् जिन-जिन लक्षणोंसे युक्त हूँ; 'यद्रूपगुण-कर्मकः' शब्दसे मेरे जो सब अन्तरङ्गस्वरूप अर्थात् श्याम-चतुर्भुजादि रूप, भक्तवात्स्यल्यादि गुण और लीलाएँ हैं, मैं उन सभी विशेषताओंसे युक्त हूँ। वही तत्त्वविज्ञान अर्थात् यथार्थ अनुभव सम्पूर्ण रूपसे मेरी कृपासे तुम्हारे हृदयमें स्फुरित हो। श्रीभगवान्के इन वचनोंसे चतुःश्लोकीका निर्विशेष परक अर्थ स्वयं ही निरस्त हो गया है। श्रीभगवान्ने स्वयं इस चतुःश्लोकीको लक्ष्य करके श्रीमद्भागवत (३/४/१३) में उद्धवको कहा है—"पूर्वकालमें अर्थात् पाद्मकल्पमें मैंने पद्मयोनि ब्रह्माको अपनी महिमा-सूचक परम ज्ञानका, जिसे विद्वानजन 'भागवत' नामसे सम्बोधित करते हैं, उपदेश दिया था।" 'तत्त्वविज्ञान' शब्दसे मेरे रूप, गुणादि जो मेरे स्वरूपके अन्तर्गत हैं—यह व्यक्त हुआ है। यहाँपर इस विज्ञानके उदयके लिए श्रीब्रह्माके प्रति श्रीभगवान्का आशीर्वाद स्पष्ट ही जाना जाता है। परमानन्ददायक श्रीभगवान्के रूप, गुण और लीला-परिकरके वैशिष्ट्यादिके यथार्थ स्वरूपानुभव द्वारा निश्चित रूपसे प्रेमका उदय होता है। अतएव इससे श्रीभगवान्के द्वारा ब्रह्माको अपने प्रति रहस्य अर्थात् प्रेमाभक्ति प्राप्तिके लिए आशीर्वाद भी जाना जाता है॥३१॥

श्रीश्रीधरस्वामीपाद

ननु त्वद्दर्शनेऽप्यसमर्थोऽहं कथं ज्ञानाधिकारी स्याम्? तत्राह—यावान् स्वरूपतः; यथाभावः यादृक् सत्तावान्, यानि रूपाणि गुणाः कर्माणि च यस्य॥३१॥

भावानुवाद—यदि ब्रह्माजी कहें—हे भगवन्! आपका दर्शन प्राप्त करनेमें ही मैं असमर्थ हूँ, तो फिर किस प्रकारसे आपके ज्ञानकी प्राप्तिका अधिकारी होऊँगा? इसके उत्तरमें ही श्रीभगवान्ने यह श्लोक

कहा है। 'यावान्'—स्वरूपतः मैं जिस परिमाण (आकार) से युक्त हूँ; 'यथाभावः'—मैं जिस प्रकार सत्ताशील अर्थात् नित्य सत्य हूँ; 'यद्रूपगुणकर्मकः' अर्थात् जो समस्त (अप्राकृत) रूप, गुण और लीलाएँ हैं, मैं उन सब विशेषताओंसे युक्त हूँ॥३१॥

श्रीविजयध्वज तीर्थपाद

'यथात्ममायायोगेन' (श्रीमद्भा॰ २/९/२६) इति याचितवरप्रदान-प्रकारमाह—यावानिति। देशकालव्याप्त्या यावान् अनन्तपरिमाणोपेतोऽहं, यथाभावो यादृशसत्तावान् निरुपाधिकसत्तोपेतः, यद्रूपगुणकर्मकः यादृशावतारः यादृशगुणः यादृशकर्मश्चाहं, मदनुग्रहात् ते तव तथैव तत्त्वविज्ञानमस्त्वित्यन्वयः। एव शब्देन सोपाधिकरूपं व्यावर्तयति॥३१॥

भावानुवाद—वर्त्तमान श्लोकमें छब्बीसवें श्लोक 'यथात्म' में माँगे गये वरको प्रदान करनेका प्रकार बतला रहे हैं। देश-कालमें व्याप्त होकर मैं जो अनन्त-परिमाणसे युक्त हूँ, जिस प्रकार सत्तावान् अर्थात् निरुपाधिक सत्तासे युक्त हूँ, जिस प्रकार अवतार, गुण और लीला-विशिष्ट हूँ, मेरे अनुग्रह द्वारा तुम्हारे हृदयमें उस प्रकारका तत्त्व-विज्ञान स्फूरित हो। 'एव' शब्दके द्वारा सोपाधिक रूपका निषेध कर रहे हैं॥३१॥

श्रीवीरराघवाचार्यपाद

कात्स्न्र्येन त्वद्गदितग्रहणेन 'अहं प्रभुः' इत्याशङ्कमानं प्रत्याह—यावानिति। *'अहं सत्यं ज्ञानं यः सर्वज्ञः'* इत्यादि श्रुत्युक्त ज्ञान स्वरूपज्ञानगुणकोऽहं, यावान् यत्परिमाणकः अपरिच्छिन्नः, यथाभावः यादृक् स्वभावः *'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'* इत्युक्त सर्वज्ञ्यादि गुणकः। यद्रूपगुणकर्मकः—'रूपम्' चिदचिद्वस्तु, 'गुणः' तयोर्गुणः स च सद्धारको भगवद्गुणः, 'काठिन्यवान् योविभर्ति' इतिवत् कर्म-जगद्व्यापारः यानिरूपगुणकर्माणि। यस्य स बहुव्रीहिः तथैव तत्त्वविज्ञानं मत्स्वरूप-रूप-गुण-विभूति याथात्म्यविज्ञानं मदनुग्रहात् मत्प्रसादाद्धेतोः ते तव अस्तु भवतु॥३१॥

भावानुवाद—श्रीभगवान्के वचनोंको सम्पूर्ण रूपमें ग्रहण करनेपर भी "मैं ही प्रभु हूँ" यदि कोई ऐसी आशङ्का करता है, उसके समाधानमें श्रीभगवान्—यावान् आदि श्लोक कह रहे हैं। "अहं सत्यं ज्ञानं यः सर्वज्ञः अर्थात् मैं सत्य, ज्ञानस्वरूप और सर्वज्ञ हूँ।"—मैं

वेद-कथित ऐसे ज्ञान अर्थात् स्वरूपज्ञान गुणसे युक्त हूँ, मेरा जो परिमाण अर्थात् अपरिच्छिन्नता है, जैसा स्वभाव है अर्थात् शक्ति-सम्बन्धमें "स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च"—वेदोंमें कथित जो सर्वज्ञता आदि गुण हैं, उनसे युक्त हूँ। 'यद्रूपगुणकर्मकः' अर्थात् 'रूप'—चिदचित् वस्तु; 'गुण'—इन दोनोंके गुण तथा भगवान्‌के सत्-धारक गुण; "काठिन्यवान् यो विभर्त्ति अर्थात् कठोर होते हुए भी जो पालन करते हैं"—इस प्रकारके 'कर्म' अर्थात् जगत्-व्यापार अर्थात् जगत्-सृष्टि आदि जिनके रूप, गुण और कर्म हैं। मेरी कृपासे तुम्हें तत्त्व-विज्ञान प्राप्त हो, अर्थात् मेरे स्वरूप-रूप-गुण-विभूतिका ठीक-ठीक उसी प्रकारसे ही यथार्थ-विज्ञान अर्थात् अनुभव हो॥३१॥

श्रीशुकदेवपाद

भक्तियोग-समन्वितस्य ज्ञानस्य मुख्योपायः ममानुग्रह एव इत्याह—यावानिति। अहं यावान् यत्परिमाणकः, यथाभावः यादृक् सत्तावान्, यानि रूपाणि गुणाः कर्माणि च यस्य स यद्रूपगुणकर्मकः, तथैव तत् तत्त्वविज्ञानं मदनुग्रहात् तेऽस्तु॥३१॥

भावानुवाद—भक्तियोगसे युक्त ज्ञानको प्राप्त करनेका मुख्य उपाय एकमात्र मेरी कृपा ही है—उसीको बतला रहे हैं। मेरा जो परिमाण है, मैं जिस प्रकार सत्ताविशिष्ट हूँ, मेरे जो समस्त रूप, गुण और लीलाएँ हैं, वैसा ठीक-ठीक ज्ञान ही मेरे अनुग्रहसे तुम्हें विशेष रूपसे प्राप्त हो॥३१॥

श्रीवल्लभाचार्यपाद

द्वितीयं ज्ञानमाह—यावानहमिति। प्रमाणतो यावानहं परिमाणतोऽपि, यथाभावः यादृशो ममकारणभूतो भावः, सर्वकार्यकरणाय सर्वशक्तिरूपः। यावन्ति रूपाणि गुणाः कर्माणि च यस्य। यानि वा गुणादीनि। एतदपि पूर्ववत्। तदाह—तथैव ते मदनुग्रहात् तत्त्वविज्ञानमस्तु। तत्त्वतो विशेषेण ज्ञानं सर्वेषां याथार्थ्यं तव स्फुरत्वित्यर्थः॥३१॥

भावानुवाद—अब दूसरे ज्ञान (अपनी क्रीड़ाके ज्ञान) का निरूपण करते हुए श्रीभगवान् कह रहे हैं कि मैं जिस परिमाणका हूँ और सब प्रकारका कार्य करनेके लिए जिस प्रकारका मेरा सर्वशक्तिरूप

भाव (स्थिति) है और जो-जो मेरे रूप, गुण, कर्म आदि हैं, उन सबका तत्त्व-विज्ञान अर्थात् विशेष रूपसे ज्ञान मेरी कृपासे तुम्हें हो। अर्थात् मेरे स्वरूप-गुणोंका, मेरी शक्तियोंका, मेरे रूपोंका और मेरी लीलाओंका यथार्थ ज्ञान (अनुभव) तुम्हें सब प्रकारसे हो॥३१॥

तथ्य—

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।

(श्रीगी० १८/५५)

मैं जिस प्रकार विभूतिसम्पन्न हूँ और मेरा जो स्वरूप है, उसे भक्तिके द्वारा ही तत्त्वतः जाना जा सकता है।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥

(कठ० उ० २/२३)

यह परमात्मवस्तु न तो प्रवचनसे, न बुद्धिसे और न ही बहुत श्रवण करनेसे जानी जा सकती है। जब जीवात्मा श्रीभगवान्‌के प्रति शरणागत होता है, तब श्रीभगवान् कृपापूर्वक उसे स्वीकार कर लेते हैं तथा उसके निकट स्वयं ही अपने श्रीविग्रहको प्रकाशित करते हैं।

अथापि ते देव पदाम्बुजद्वय
प्रसादलेशानुग्रहीत एव हि।
जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो
न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्॥

(श्रीमद्भा० १०/१४/२९)

हे देव! हे भगवान्! जिसने आपके युगल चरणकमलोंकी करुणाके कणमात्रको प्राप्त किया है, एकमात्र वही आपकी यथार्थ महिमाको जानते हैं। इसके अतिरिक्त दीर्घकाल तक अनुसन्धान करनेपर भी कोई उसे जाननेमें समर्थ नहीं होता।

अनुमान प्रमाण नहे ईश्वरतत्त्व-ज्ञाने।
कृपा विना ईश्वरेर केह नाहि जाने॥

ईश्वरेर कृपा-लेश हय त' याहारे।
सेई त' ईश्वर-तत्त्व जानिवारे पारे॥
(चै॰ च॰ म॰ ६/८२-८३)

(गोपीनाथ आचार्य सार्वभौम भट्टाचार्यके शिष्योंको कह रहे हैं—)श्रीभगवान्‌की कृपाके बिना अनुमान-प्रमाणके द्वारा भगवत्-तत्त्वको कोई नहीं जान सकता है। जिसपर श्रीभगवान्‌की थोड़ी-सी भी कृपा हो जाती है, केवल वे ही ईश्वरतत्त्वको जान सकते हैं॥३१॥

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर 'प्रभुपाद'

विज्ञान और रहस्ययुक्त अद्वयज्ञानस्वरूप वस्तु तथा उसके अङ्गका परिचय बाहरी दृश्य जगत्‌के नाम, रूप, गुण और क्रियाके समान नश्वर धर्मयुक्त नहीं है। तत्त्व-विज्ञानके अभावमें चेतनरहित अज्ञानको विज्ञान बतलाकर जो भ्रान्त होते हैं, वे भगवान्‌के आकार, रूप, नित्यलीला और नित्यगुणोंकी उपलब्धि करनेमें असमर्थ हैं। नित्य अनुभवकारी अणुचित् जीव विज्ञानमें अवस्थित न होनेके कारण अर्थात् विज्ञानमें अपना स्वरूपाधिष्ठान नहीं समझ पानेसे अनेक प्रकारकी दुविधाओंमें पड़ जाते हैं। श्रीभगवान्‌के अनुग्रहके अतिरिक्त विज्ञान-रहस्य संयुक्त अद्वयज्ञानस्वरूपकी उपलब्धि नहीं होती। गुणोंके द्वारा चालित होकर गुणातीत वस्तुके नाम, रूप, गुण और लीलाका निरूपण करनेका यत्न कपटतायुक्त अज्ञानका ही प्रचण्ड नृत्य है। श्रीभगवान्‌के अनुग्रहके बिना श्रौतपथका उल्लंघन करनेसे श्रीभगवान्‌का ज्ञान प्राप्त नहीं होता। भजनकारी द्वारा भजनीय वस्तुकी सेवा-प्रवृत्तिमें अवस्थान ही भगवत्-ज्ञानकी प्राप्तिका निदर्शन है। "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः"—इस श्रुतिवचनकी व्याख्यामें भागवतका "अस्तु ते मदनुग्रहात्" वचन भलीभाँति गृहीत होता है। श्रीभगवान्‌की कृपासे ही श्रीकृष्णके साथ सम्बन्धज्ञानका उदय होता है। भगवत्-कृपासे ही जीवकी अभिधेयरूप भजनमें चेष्टा होती है। भजन-चेष्टाके फलस्वरूप ही भगवान्‌की कृपा प्राप्त होती है और उसीसे भगवत्-प्रेम भी प्राप्त होता है। सम्बन्ध, अभिधेय, प्रयोजन—इन तीन तत्त्वोंके मूल विषय श्रीभगवान् हैं। वे ही भजनीय वस्तु हैं। जिनके लिए श्रीभगवान् ही

भजनीय वस्तु हैं, उन्हें ही तत्त्व-विज्ञान तथा साधनभक्तिका सन्धान प्राप्त होता है तथा इसके फलस्वरूप उन्हें प्रेम अथवा ह्लादिनीशक्तिका आनुगत्य प्राप्त होता है। अभिधेयके विचारसे साधनभक्ति और प्रेमभक्ति दो अवस्थाएँ हैं। प्रेमभक्ति ही प्रयोजन है॥३१॥

श्रीश्रीनिवासाचार्यपाद

यावानहं—गोलोकधामा गोपवेशो गोपीपतिः; *'कं प्रति कथयितुमीशे, संप्रति को वा प्रतीतिमायातु। गोपति-तनया-कुञ्जे, गोपवधुटीविटं ब्रह्म॥'* (पद्यावली ९९) विटश्चोपपतिः स्मृतः; अतः पतिः एकदेशोपचारः। यथाभावो यथोज्ज्वलादि-भावाश्रयः। यद्रूपगुणकर्मकः—श्यामसुन्दरः कोटिकन्दर्प-लावण्यधामा, असाधारण-गुणचतुष्टय-मुरलीमोहनत्वादिवान्, कर्म रासलीलाविनोदी। तथैवेति—निगम-निगूढत्वात्, निगमकर्त्रेपि ब्रह्मणे अतएव आशीर्वादः, तदगोचरत्वात्-अशक्यत्वाच्च। *'गोलोकनाम्नि निजधाम्नि'* (ब्रह्म संहिता ५/४३), *'गोलोक एव निवसति'* (ब्रह्म संहिता ५/३७) इत्यादि। *'कृष्णं गोपालरूपिणम्'* (गौतमीयतन्त्रे), *'भवेयुस्तानि तुल्यानि न मया गोपरूपिणा'* (ब्रह्माण्ड पुराणे), *'गोपवेशो मे पुरस्तादाविर्बभूव'* (गोपालतापनी पूर्व २८) इत्यादि। *'गोपीजनवल्लभः'*, *'स्वामी भवति'* (गोपालतापनी उत्तर), *'कृष्णवध्वः'* (श्रीमद्भा० १०/३३/७), *'बल्लव्यो मेऽनुशान्तये'* इत्यादि। अधिष्ठातृत्वे *'नृसिंहो नन्दनन्दनः'* (श्रीभक्तिरसामृते २/५/११९), *'शृङ्गाररससर्वस्वम्'* (कर्णामृते ९३), *'जन्माद्यस्य यतः'* (श्रीमद्भा० १/१/१), *'शृङ्गारः सखि मूर्त्तिमानिव'* (गीतगोविन्दे १/४८) इत्यादि। *'यं श्यामसुन्दरं'* (ब्रह्म संहिता ५/३८), *'श्याममेव परं रूपम्'* (पद्यावली ८३) इत्यादि। *'कन्दर्पकोटिलावण्यः'* (स्तवमाला महानन्द २), *'कन्दर्पकोटि रम्याय'* (स्तवमाला प्रणाम १) इत्यादि। *'वेणुं क्वन्तं'* (ब्रह्म संहिता ५/३०), *'वेणुवाद्यमहोल्लास'* (गौतमीये स्तवराजः १३), *'गोविन्दं कलवेणुवादनपरम्'* (पद्यावली ४६) इत्यादि। *'गोवर्द्धनगिरौ रम्ये स्थितं रासरसोत्सुकम्'* (गौतमीये स्तवराजः ११); *'न हि जाने स्मृते रासे मनो मे कीदृशं भवेत्'* (बृहद्वामन पुराण); *'अभूदाकुलितो रासः प्रमदाशतकोटिभिः।'*; *'रासोत्सवः संप्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः'* (श्रीमद्भा० १०/३३/३); *'जयति श्रीपतिर्गोपीरासमण्डल-मण्डितः'* (भावार्थदीपिका १०/२९ प्रारम्भ २) इत्यादि॥३१॥

भावानुवाद—मेरी कृपासे तुम्हें मेरे और मुझसे सम्बन्धित समस्त प्रकारके तत्त्वज्ञानकी स्फूर्ति हो। इस श्लोकमें 'यावानहं' शब्द मेरे स्वरूपका प्रकाशक है। मैं गोलोक-धामवासी, गोपवेशधारी और गोपीपति हूँ। 'गोपीपति' शब्दसे गोपियोंके उपपतिको ही समझना होगा।

'यथाभावः' शब्द द्वारा उज्ज्वलादि विविध भावोंके आश्रयका बोध होता है। 'यद्रूपगुणकर्मकः' पदमें 'रूप' शब्दसे श्यामसुन्दर, कोटि-कन्दर्प-लावण्यमय विग्रहादि ध्वनित होता है; 'गुण' शब्दसे असाधारण चार गुण अर्थात् लीलामाधुरी, वेणुमाधुरी, रूपमाधुरी और प्रेममाधुरीको जानना होगा और 'कर्मः' शब्द रासलीलादिके विनोदका वाचक है। यह सब तत्त्व निगमके लिए भी निगूढ़ होनेके कारण निगमकर्त्ता ब्रह्माके लिए भी अगोचर और दुर्बोध्य हैं, इसलिए श्रीभगवान्‌को उन्हें आशीर्वाद देनेकी आवश्यकता पड़ी।

इन तथ्योंका प्रमाण इस प्रकार है—

> कं प्रति कथयितुमीशे संप्रति को वा प्रतीतिमायातु।
> गोपति-तनया-कुञ्जे गोपवधूटी-विटं ब्रह्म॥
>
> (श्रील रूप गोस्वामी कृत पद्यावली ९९)

मैं इस रहस्यकी बातको किसे कहूँ? अथवा अब ऐसा कौन है जो मेरी इस बातपर विश्वास करेगा कि निखिल श्रुतियोंके प्रतिपाद्य वे परब्रह्म श्रीयमुनाके तीर स्थित निकुञ्जमें गोपतरुणी श्रीराधिकाजीके साथ उपपतिरूपमें लीला करते हुए सदा-सर्वदा विराजमान हैं। [यहाँ 'विट' का अर्थ 'उपपति' जानना होगा।]

ब्रह्मसंहिता (५/४३) में कहा गया है—"गोलोकनाम्नि निजधाम्नि" अर्थात् चौदह भुवनरूपी देवीधाम, उसके ऊपर महेश धाम, उससे ऊपर हरिधाम और सबसे ऊपर गोलोक नामका अपना (स्वयंभगवान् गोविन्दका) धाम है। उन-उन धामोंके अलग-अलग, विशेष-विशेष प्रभावोंका जो नियमन करते हैं, उन आदिपुरुष श्रीगोविन्दका मैं भजन करता हूँ। तथा ब्रह्मसंहिता (५/३७) में कथित है—"गोलोक एव निवसति" अर्थात् वे अखिलात्मभूत गोविन्द गोलोकधाममें ही निवास करते हैं।

गौतमीयतन्त्रमें कहा गया है—"कृष्णं गोपालरूपिणम्" अर्थात् गोपालरूपी श्रीकृष्णको मैं प्रणाम करता हूँ तथा ब्रह्माण्डपुराणमें कथित है—"भवेयुस्तानि तुल्यानि न मया गोपरूपिणा।" अर्थात् मेरे गोपवेश और व्रजराजनन्दन स्वरूपमें जिस प्रकार सौन्दर्य-माधुर्य और ऐश्वर्यकी

पराकाष्ठा विद्यमान है, वैसी मेरे अन्य किसी स्वरूपमें नहीं है। गोपालतापनी (पूर्व २८) में कथित है—"गोपवेशो मे पुरस्तादाविर्बभूव" अर्थात् [जब सनकादिक मुनिगण ब्रह्माजीसे अष्टादशाक्षरी मन्त्रका स्वरूप जिज्ञासा करते हैं, तब ब्रह्माजी कहते हैं]—"हे पुत्रो! एक परार्द्धकाल तक मैंने उन श्रीव्रजेन्द्रनन्दनका ध्यान तथा स्तुति की, तब परार्द्धके अन्तमें वे परब्रह्म गोपवेशमें मेरे सम्मुख प्रकट हुए थे।"

गोपालतापनी (पूर्व ३) में कहा गया है—"गोपीजनवल्लभः" अर्थात् गोपियोंके वल्लभ; "स्वामी भवति" (गोपालतापनी उत्तर २३) अर्थात् वे श्रीभगवान् ही तुम्हारे स्वामी हैं। श्रीभागवत (१०/३३/८) में कथित है—"कृष्णवध्वः" अर्थात् श्रीकृष्णकी वधुएँ, श्रीभागवत (१०/४६/६) में कथित है—"बल्लव्यो मेऽनुशान्तये [मदात्मिकाः]" अर्थात् उक्त गोपियाँ मेरी स्वरूपशक्तिभूता हैं।

"नृसिंहो नन्दनन्दनः" (भक्तिरसामृतसिन्धु २/५/११९) अर्थात् अधिष्ठातृके रूपमें श्रीनन्दनन्दन। कृष्णकर्णामृत (९३) में बिल्वमङ्गल कहते हैं—"शृङ्गाररससर्वस्वं शिखिपिच्छविभूषनं। अङ्गीकृतनराकारं आश्रये भुवनाश्रयं॥" अर्थात् मनुष्य आकृतिको धारण करनेवाले और त्रिलोकीके आश्रय इन मोरमुकुटधारी शृङ्गाररससर्वस्वकी मैं सर्वात्मभावसे शरण लेता हूँ। इसी प्रकार श्रीभागवत (१/१/१) में "जन्माद्यस्य यतः" अर्थात् जिन श्रीकृष्णसे आदि-रस—शृङ्गाररसकी उत्पत्ति हुई है। गीतगोविन्दके प्रथम सर्गमें (१/४८) "शृङ्गारः सखि मूर्त्तिमानिव" अर्थात् विलास-रसमें उन्मत्त श्रीकृष्ण मूर्त्तिमान शृङ्गाररसस्वरूप होकर विहार कर रहे हैं।

ब्रह्मसंहिता (५/३८) में "यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं" अर्थात् जिनका अचिन्त्यगुणविशिष्ट श्यामसुन्दर स्वरूप है। "श्याममेव परं रूपं" (पद्यावली ८३) अर्थात् मेरा श्यामरूप ही सर्वश्रेष्ठ रूप है।

"कन्दर्पकोटिलावण्यः" (स्तवमाला महानन्द २) अर्थात् वे कोटि-कोटि कन्दर्पोंके लावण्यसे युक्त हैं तथा "कन्दर्पकोटिरम्याय" (स्तवमाला प्रणाम १) अर्थात् कोटि-कोटि कन्दर्पोंसे भी कमनीय हैं।

(ब्रह्मसंहिता ५/३०) "वेणुं क्वणन्तम्" अर्थात् वेणुवादनमें तत्पर रहते हैं, "वेणुवाद्यमहोल्लास" (गौतमीये स्तवराजः १३) अर्थात् वेणु

वादन द्वारा महान उल्लास अर्थात् आनन्द प्रदान करते हैं। "गोविन्दं कलवेणुवादनपरम्" (पद्यावली ४६) अर्थात् श्रीगोविन्द अव्यक्त एवं मधुरध्वनिसे युक्त वेणु वादन कर रहे हैं।

"रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः" (श्रीमद्भा॰ १०/३३/३) अर्थात् सहस्त्र गोपियोंके मण्डलसे शोभायमान भगवान् श्रीकृष्णका दिव्य रासोत्सव आरम्भ हुआ। और अन्ततः "जयति श्रीपतिर्गोपीरासमण्डल–मण्डितः" (भावार्थदीपिका १०/२९ प्रारम्भ २) अर्थात् गोपियोंके साथ रासमण्डलमें सुशोभित परब्रह्म श्रीपति श्रीकृष्णकी जय हो॥३१॥

चतुर्थ-श्लोक

चतु:श्लोकीके अन्तर्गत प्रथम श्लोक—श्रीभगवान् द्वारा चार वस्तुओंमेंसे सर्वप्रथम भगवत्-ज्ञानका प्रतिपादन

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत् सदसत्परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥

(श्रीमद्भा॰ २/९/३२)

अन्वय

[यावानित्यस्य अर्थ स्फुटयति (इकत्तीसवें श्लोकके 'यावानहं' इत्यादिका अर्थ विस्तारपूर्वक प्रकाश कर रहे हैं)]—अहम् एव अग्रे (सृष्टिके पूर्व एकमात्र मैं ही) आसम् एव (स्थित था) यत् सत् (स्थूल) [और] असत् (सूक्ष्म) परं (इन दोनोंके कारणभूत प्रधान अथवा प्रकृति), [मुझसे पृथक् रूपमें] अन्यत् न (अन्य कुछ भी नहीं था), पश्चात् (सृष्टिके पश्चात्) अहम् [एव] अस्मि (एकमात्र मैं ही रहता हूँ) [क्योंकि] यत् एतत् (यह विश्व भी) [मैं ही हूँ] च (और) [प्रलयमें] यः अवशिष्येत सः (जो अवशिष्ट रहेगा वह भी) अहम् [एव] (मैं ही हूँ)॥३२॥

अनुवाद

सृष्टिके पूर्व एकमात्र मैं ही था। स्थूल और सूक्ष्म तथा इन दोनोंके कारणभूत प्रधान अथवा प्रकृति मुझसे पृथक् रूपमें अन्य कुछ भी नहीं था। सृष्टिके पश्चात् भी एकमात्र मैं ही रहता हूँ, क्योंकि यह विश्व भी मैं ही हूँ तथा प्रलयमें भी एकमात्र मैं ही अवशिष्ट (बचा) रहता हूँ॥३२॥

श्रीभक्तिविनोद ठाकुर

प्रस्तुत श्लोकसे आरम्भकर चार श्लोकोमें श्रीभगवान् चार तत्त्वोंका भेद दिखला रहे हैं। इसीका नाम चतुःश्लोकी-भागवत है। मैं परम नित्य एक अद्वयतत्त्व हूँ। पहले मैं ही था। सत् और असत्—इन दोनोंसे श्रेष्ठ केवल मैं ही था, अन्य कुछ भी नहीं था। असत् अर्थात् आगमापायी (जन्म-मरणशील, नश्वर) अवस्था और सत् अर्थात् सृष्टिसे मेरा अन्वय सम्बन्ध—ये दो क्रियाएँ जिस सृष्टिमें प्रकट हुई हैं, वह भी मैं हूँ। अग्निसे जिस प्रकार चिनगारियाँ निकलती हैं तथा सूर्यसे जिस प्रकार किरणें निकलती हैं, उसी प्रकारसे समस्त प्राणी ही मेरी शक्तिके परिणाम हैं। मैं परिणत (विकृत) नहीं होता हूँ, किन्तु चिन्तामणिके द्वारा स्वर्ण प्रसवके समान मेरी अक्षयशक्ति अविकृत रहकर भी इस चराचर जगत्को उत्पन्न करती है। सृष्टि होनेसे मेरी अद्वयताकी हानि नहीं होती। सृष्टितत्त्वकी पृथक्ता होनेपर भी मैं सर्वस्वरूप एक ही तत्त्व हूँ—यही मेरी अचिन्त्यशक्तिका भेदाभेद परिचय है। पुनः प्रलयकालमें एकमात्र मैं ही अवशिष्ट (बचा) रहता हूँ। केवलाद्वैतवाद, केवल-द्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद और शुद्धाद्वैतवाद—ये सब नाममात्रके विवाद हैं। समस्त वादोंका वादत्व दूर होनेपर जो परम सत्य रहता है, वह मेरी अचिन्त्यशक्तिका परिणामरूप नित्य-भेदाभेदज्ञान है। यही समस्त वेदवाक्यों तथा महावाक्यों द्वारा सम्मत है (श्रीभागवतार्कमरीचिमाला १०/४)॥३२॥

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीपाद

एवं श्लोकाभ्यां देयत्वेन ज्ञानादिकं प्रतिश्रुत्य तत्प्राप्तावाशिषैव योग्यतामापद्य च, प्रथमं ज्ञानमुपदिशन्नेव *'परावरे यथारूपे जानीयाम्'* (श्रीमद्भा॰ २/९/२५) इति प्रश्नस्योत्तरमाह—अहमेवाग्रे सृष्टेः पूर्वमासमिति तर्जन्या स्ववक्षः स्पृशति; एवकारेणान्ययोगव्यवच्छेदकेन मद्विजातीयं प्राकृतं वस्तु किमपि नासीदिति लभ्यते। अयमर्थः—संप्रति भवन्तं प्रति प्रादुर्भवन्नसौ परममनोहराकरो रूपगुणमाधुरी-महोदधिरहमेवाग्रे महाप्रलयकालेऽप्यासमेव। *'वासुदेवो वा इदमग्र आसीन्न ब्रह्मा न च शङ्करः'* इति, *'आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः'* इति, *'पुरुषो ह वै नारायणः'* इति, *'एको ह वै नारायण आसीत्'* इति, *'पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत। अथ नारायणादजोऽजायत,*

यतः सर्वाणि भूताणि। नारायणः परं ब्रह्म, तत्त्वं नारायणः परम्। ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम्॥' इति, *'एको नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानः'* इत्यादिश्रुतिभ्यः, *'भगवानेक आसेदम्'* (श्रीमद्भा॰ ३/५/२३)—इत्यादि-स्मृतेश्च। अत्र वैकुण्ठतत्पार्षदादीनामपि तदुपाङ्गत्वात् अहं-पदेनैव ग्रहणं—राजासौ प्रयातीतिवत्। अतस्तेषाञ्च तद्वदेव स्थितिर्बोध्यते। तथा च राजप्रश्नः (श्रीमद्भा॰ २/८/१०)—*'स चापि यत्र पुरुषो विश्वस्थित्युद्भवाप्ययः। मुक्त्वात्ममायां मायेशः शेते सर्वगुहाशयः॥'* इति, श्रीविदुरप्रश्नश्च (श्रीमद्भा॰ ३/७/३७)—*'तत्त्वानां भगवंस्तेषां कतिधा प्रतिसंक्रमः। तत्रेमं क उपासीरन् क उ स्विदनुशेरते॥'* इति। श्रीस्वामिचरणानां व्याख्या च—'तत्र प्रलये इमं परमेश्वरं शयानं राजानमिव चामरग्राहिणः के उपासीरन् के वा तदनुशेरते शयानमनुस्वपन्ति।' इत्येषा। काशीखण्डेऽप्युक्तं—*'न च्यवन्तेऽपि यद्भक्ता महत्यां प्रलयापदि। अतोऽचयुतोऽखिले लोके स एकः सर्वगोऽव्ययः॥'* इति। आसमेवेत्योगव्यवच्छेदः, 'अस्तेः' सत्तार्थकत्वात् तदानीं मद्विद्यमानताया अभावः सर्वथा माभूदित्येवार्थप्रतीतेः। अहमेवासमेव न किमप्यकरवमिति क्रियान्तरव्यावृत्तिस्तु वस्तुतो न घटते; अस्तेः सर्वधात्वर्थेष्वेवानुस्यूतत्वात्। पूर्वस्मिन् वर्षे तत्र ग्रामे चैत्र आसीदेवेत्युक्ते चैत्रस्य शयनासनभोजनादिक्रिया नैव व्यावर्त्तन्ते, किन्त्वभाव एवेति, किन्तूक्तिपरिपाट्या घट्यते च। यथा सन्दर्भे—'आसमेवेति ब्रह्मादिबहिर्जनज्ञान-गोचरसृष्ट्यादिलक्षणक्रियान्तरस्यैव व्यावृत्तिर्न तु स्वान्तरङ्गलीलाया अपि। यथा—अधुनासौ राजा न किञ्चिपि करोतीत्युक्ते, राजसम्बन्धिकार्यमेव निषिध्यते, न तु शयनभोजनादिकमपीति तद्वत्' इति दृष्टम्। ननु, क्वचिन्निर्विशेषमेव ब्रह्मासीत् इति श्रूयते? तत्राह—सत् कार्यम्, असत् कारणम्, ताभ्यां परं यद्ब्रह्म तन्न मत्तोऽन्यत्। क्वचिदधिकारिणि शास्त्रे वा मत्स्वरूपभूत-नानाविशेषव्युत्पत्त्यसमर्थे सोऽयमहमेव निर्विशेषब्रह्मतया प्रतिभामीत्यर्थः। त्वन्तु पूर्वश्लोकोक्त-मदाशीर्वादानुग्रहाभ्यां रूपगुणादिविशिष्टमेव मां जानीहीति भावः। ननु, सृष्टेरनन्तरं जगदेव, न तु त्वमुपलभ्यसे? तत्राह—पश्चात् सृष्टेरनन्तरमप्यहमेवास्म्येवेति वैकुण्ठेषु भगवदाद्याकारेण, प्रपञ्चेष्वन्तर्यामिरूपेण, यथासमयं मत्स्याद्यवताररूपेण च। ननु तर्हि पृथिव्यादिकं देवतिर्यगादिकञ्च त्वं न भवसीति तवापूर्णत्वप्रसक्तिः? तत्राह—यदेतच्च व्यष्टि-समष्टिविराण्मयं विश्वं तदप्यहमेव, मच्छक्तिजन्यत्वान्ममैव प्राकृतं रूपं; *'परावरे यथा रूपे जानीयाम्'* (श्रीमद्भा॰ २/९/२५) इति त्वया यदवरं रूपं पृष्टं तदेवेदं त्वं जानीहीत्यर्थः। तथा योऽवशिष्येत *'भवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञः'* (श्रीमद्भा॰ १०/३/२५) इत्याद्युक्तः परमेश्वरः सोऽहमस्मि। तत्र 'अहम्' इत्यस्य त्रिरावृत्त्या निर्धारणस्य सूचितत्वात् एतद्रूपगुणादिविशिष्टस्य मम त्रैकालिकनित्यस्थित्या पररूपत्वं, सृष्टिसंहारयोर्मध्य एव दृश्यमिदं मायिकप्रपञ्चजातमवरं रूपमिति परावररूपयोर्ज्ञानमुक्तं, विज्ञानन्तु पररूपस्य प्रथमस्यैव। तच्च तदैव स्याद्यदा श्रवणकीर्त्तनादिजन्य-प्रेमभक्त्या तद्रूपगुणादिमाधुर्यमास्वाद्यमानं स्यादिति चतुर्थश्लोके व्यक्तं भावि॥३२॥

भावानुवाद—इस प्रकारसे पूर्वोक्त दोनों श्लोकोंके द्वारा श्रीब्रह्माको ज्ञान और विज्ञान आदि प्रदान करनेकी प्रतिज्ञाकर तथा उसकी प्राप्तिके विषयमें आशीर्वाद देकर श्रीभगवान्‌ने उनमें योग्यता प्रदान की। तत्पश्चात् सर्वप्रथम भगवत्-ज्ञानका उपदेश करते हुए श्लोक २५ में वर्णित—"जिससे मैं आपका प्राकृत (अवर) और अप्राकृत (पर) रूप जान सकूँ।"—ब्रह्माजीके इस प्रश्नके उत्तरमें "अहम् एव अग्रे अर्थात् सृष्टिके पूर्व मैं ही था"—यह श्रीभगवान्‌ने अपनी तर्जनी अङ्गुलीके द्वारा अपने वक्षःस्थलका स्पर्श करते हुए कहा था (अर्थात् इस समय तुम्हारे नेत्रोंके सामने खड़ा हुआ भगवान् मैं ही था)। यहाँ 'एव' कारके प्रयोगसे अन्य वस्तुके संयोगका खण्डन सूचित कर रहे हैं, अर्थात् "उस समय मेरी विजातीय कोई प्राकृत वस्तु थी ही नहीं।" भावार्थ यह है कि इस समय तुम्हारे सम्मुख आविर्भूत परम मनोहर आकृति, रूप, गुण और माधुर्यके महासमुद्र रूपमें विराजमान मैं ही सृष्टिके पूर्व अर्थात् महाप्रलयकालमें भी वर्त्तमान था।

श्रुतियों और स्मृतियोंके अनेक प्रमाणोंसे ऐसा ही अवगत हुआ जाता है—"इस विश्वसृष्टिके पूर्व श्रीवासुदेव ही थे, ब्रह्मा अथवा शङ्कर कोई भी नहीं थे", "इस सृष्टिके पहले पुरुषाकृति आत्मा ही थे", "वही पुरुष नारायण हैं", "एकमात्र नारायण ही थे", "उस पुरुषरूपी श्रीनारायणके इच्छा करनेपर उन श्रीनारायणसे ब्रह्माजीने जन्म ग्रहण किया, जिनसे समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है। श्रीनारायण ही परब्रह्म हैं, श्रीनारायण ही परमतत्त्व हैं। नित्य सत्य, परब्रह्म पुरुष कृष्णपिङ्गल अर्थात् पीताभ-श्यामवर्णके हैं, उनमें ही लावण्यकी पराकाष्ठा है।" "एकमात्र श्रीनारायण ही थे, ब्रह्मा अथवा ईशान (शङ्कर) कोई भी नहीं थे।"—इत्यादि श्रुतियोंसे तथा श्रीभागवतके तृतीय-स्कन्ध (३/५/२३) में विदुर-मैत्रेय संवादमें कहा गया है—"इस विश्वकी सृष्टिके पहले समस्त आत्माओंके आत्मा एकमात्र विभु भगवान् श्रीहरि ही थे।"—इत्यादि स्मृतियोंसे।

जिस प्रकार "यह राजा जा रहा है"—ऐसा कहे जानेके साथ-ही-साथ उसके रक्षक, सेवक, पार्षद और सम्बन्धी आदिका भी गमन समझा जाता है, राजाका अकेला गमन नहीं समझा जाता, उसी

प्रकार 'अहं' पदसे श्रीभगवान्‌के साथ उनका धाम—वैकुण्ठ और पार्षद आदि भी श्रीभगवान्‌के उपाङ्ग होनेके कारण ग्रहणीय हैं। अतएव श्रीभगवान्‌का धाम और उनके पार्षद आदिकी भी उनके समान ही विश्वसृष्टिके पहले विद्यमानता समझनी होगी। महाराज परीक्षित्‌ने भी इसी द्वितीय-स्कन्धके अष्टम अध्याय (श्रीमद्भा॰ २/८/१०) में श्रीशुकदेव गोस्वामीसे इसी प्रकारका प्रश्न किया है—"हे ब्रह्मन्! जिनसे इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति और लय होता है, वे मायाधीश, सबके अन्तर्यामी पुरुष आत्ममायाका परित्याग करके जिस प्रकारसे शयन करते हैं, उसे तत्त्वतः वर्णन करें।" तृतीय-स्कन्धके सप्तम अध्याय (श्रीमद्भा॰ ३/७/३७) में महामुनि श्रीमैत्रेयसे श्रीविदुरने भी इसी प्रकारसे प्रश्न किया है—"हे मुने! आपने जिन सब तत्त्वोंके सम्बन्धमें वर्णन किया है, उन सबका लय कितने प्रकारका होता है? प्रलयकालमें श्रीभगवान्‌के शेषशय्यापर निद्रित होनेपर, निद्रित उन परमेश्वरकी कौन सेवा करते हैं तथा उनके साथ कौन-कौनसे पदार्थ सुप्त रहते हैं?" श्रीश्रीधर स्वामिपादने इसकी व्याख्या की है—"राजाके शयन करनेपर जिस प्रकार सेवकगण चामरके द्वारा उनकी सेवा करते हैं, उसी प्रकार उस प्रलयकालमें कौन उन निद्रित परमेश्वरकी सेवा करते हैं? तथा कौन-कौन उनके साथ-साथ सुप्त रहते हैं?" काशीखण्डमें भी कहा गया है—"महाप्रलयरूप विपत्तिमें भी जिनके भक्तगण विच्युत (भ्रष्ट) नहीं होते, अतएव इस अखिल विश्व ब्रह्माण्डमें एकमात्र आप ही 'अच्युत', सर्वव्यापक तथा अव्यय हैं।"

"आसम् एव" अर्थात् केवल मैं ही वर्त्तमान था, यहाँ 'एव'—इस शब्दके प्रयोगके द्वारा अन्य विषयके संयोगका खण्डन किया गया है, तथा 'अस्ति' क्रियाके 'सत्ता'-वाचक होनेके कारण उस समय भी मेरी विद्यमानताका अभाव किसी प्रकारसे नहीं हुआ, यही 'एव' पदका अर्थ है। "एकमात्र मैं ही विद्यमान था, किन्तु कुछ भी करता नहीं था"—इस प्रकारसे श्रीभगवान्‌के द्वारा अन्यकार्य करनेका निषेध वास्तविक नहीं है, क्योंकि समस्त धातुओंके अर्थोंमें ही 'अस्ति' क्रियाका अर्थ विद्यमान रहता है—यह देखा जाता है। उदाहरणके लिए यदि कहा जाय, "पिछले वर्ष उस गाँवमें चैत्र था।"—इस

वाक्यके 'चैत्र था' कथनके द्वारा चैत्रके शयन, गमन और भोजन आदि क्रियाओंका कभी निषेध नहीं किया गया, किन्तु केवल चैत्रकी अविद्यमानताका ही निषेध किया गया है (अर्थात् वह विद्यमान था)। यहाँपर स्पष्ट रूपसे भोजनादि अन्यान्य क्रियाओंके निषेधका उल्लेख होनेपर ही भोजनादिका निषेध होता है, अन्यथा नहीं।

जैसा कि क्रम-सन्दर्भमें देखा जाता है—'आसमेव' अर्थात् "मैं ही विद्यमान था"—इस कथनके द्वारा ब्रह्मादि बहिर्जनोंके ज्ञानगोचर सृष्टि आदि लक्षणोंसे युक्त केवल श्रीभगवान्की अन्य क्रियाओंका ही निषेध किया गया है, किन्तु उनकी अपनी अन्तरङ्ग लीलाओंका निषेध नहीं किया गया है। जिस प्रकार यदि कहा जाय—"यह राजा अब कुछ भी नहीं करता"—ऐसा कहनेपर उस राजाके केवलमात्र राज्य-सम्बन्धी कार्योंका ही निषेध समझा जाता है, किन्तु राजाके शयन, भोजनादिरूप स्वाभाविक कर्मोंका निषेध नहीं। उसी प्रकार उपरोक्त विषयको समझना होगा। (अर्थात् केवलमात्र श्रीभगवान्की विद्यमानता कहनेसे उनके अन्तरङ्ग परिकरोंके साथ उनकी लीलाकी भी विद्यमानता समझनी होगी।)

यदि कहो कि कहीं-कहीं "एकमात्र निर्विशेष ब्रह्म ही थे"—ऐसा सुना जाता है? इसके उत्तरमें कहते हैं—'सदसत्परम्' अर्थात् 'सत्'—कार्य तथा 'असत्'—कारण तथा इन दोनोंसे 'पर' अर्थात् पृथक् वस्तु जो ब्रह्म है, वह भी मुझसे भिन्न नहीं है। मुझ भगवान्के स्वरूपभूत चित्-विलासका सम्पूर्ण अर्थात् बहुविध विशेषपरक ज्ञान प्राप्त करनेमें असमर्थ होनेके कारण कोई-कोई निर्विशेषाधिकारी अथवा निर्विशेषपरक शास्त्रमें मैं ही निर्विशेष ब्रह्मरूपमें प्रतिभात होता हूँ। किन्तु हे ब्रह्मा! तुम पूर्व श्लोकमें कथित मेरे आशीर्वाद और अनुग्रहके बलसे मेरे अप्राकृत रूप और गुण आदिसे युक्त रूपमें ही मुझे जानो—यही भावार्थ है।

यदि कहो कि सृष्टिके बाद जगत्को ही देखा जाता है, किन्तु आपको तो देखा (जाना) नहीं जाता? इसके उत्तरमें कहते हैं—"पश्चात् अहं" अर्थात् सृष्टिके बाद भी मैं ही रहता हूँ, क्योंकि

अनन्त वैकुण्ठोंमें षडैश्वर्यशाली भगवत्-रूपोंमें, प्रपञ्चमें अन्तर्यामी रूपमें तथा अवतार लेनेके उपयुक्त समयमें मत्स्यादि अवतार-रूपोंमें मेरी ही विद्यमानता है। यदि कहो कि आप तो पृथ्वी आदि प्रपञ्च तथा देवता-तिर्यक् आदि नहीं हैं, अतएव आपकी अपूर्णता अर्थात् खण्डत्वका प्रसङ्ग उपस्थित होता है? इसके उत्तरमें कहते हैं—'यदेतच्च', अर्थात् यह जो व्यष्टि-समष्टि-विराट् रूप विश्व है, वह भी मैं ही हूँ—यह मेरी बहिरङ्गा मायाशक्तिसे उत्पन्न होनेके कारण मेरा ही प्राकृत रूप है। "आपके अप्राकृत तथा प्राकृत रूपोंको जान सकूँ"—आदि प्रकारसे तुमने जो मेरे 'अवर' अर्थात् प्राकृत रूपके सम्बन्धमें जिज्ञासा की थी, इस विश्वको मेरा प्राकृत रूप ही समझो—यही भावार्थ है।

उसी प्रकार "यः अवशिष्येत अर्थात् जो अवशिष्ट (बचा) रहता है," "भवानेकः शिष्यते शेष संज्ञः" अर्थात् आप ही एकमात्र अवशिष्ट रहते हैं, इसीलिए शेष आपकी ही संज्ञा है—आदि रूपसे दशम-स्कन्ध (१०/३/२५) में देवकी देवीकी स्तुतिमें जिन परमेश्वरका वर्णन है, वह भी मैं ही हूँ।

इस श्लोकमें 'अहम्' (मैं)—इस पदकी तीन बार आवृत्तिके द्वारा मेरा ही निर्धारण अर्थात् (सर्वाधिक उत्कर्षकी निश्चयता) सूचित होनेसे, अप्राकृत रूप-गुणादि विशिष्ट मेरी त्रैकालिक (भूत-भविष्यत्-वर्त्तमान इन तीनों कालोंमें) नित्य स्थितिके कारण पर-रूपत्व (अप्राकृत रूप) तथा सृष्टि और संहारके बीच जीवोंके दृश्य मायिक प्रपञ्चका अवरत्व (प्राकृत रूप)—इस प्रकार पर (अप्राकृत) और अवर (प्राकृत) दोनों ही रूपोंका ज्ञान कहा गया है। किन्तु, प्रथमोक्त 'पर' (अप्राकृत, नित्य चिन्मय) रूपका ही विज्ञान होता है, 'अवर' रूपका विज्ञान नहीं होता। तथा उस अप्राकृत रूपका विज्ञान भी तभी होता है, जब (भगवान्के नाम, रूप, गुण, लीलादिके) श्रवण, कीर्त्तन आदिसे उदित प्रेमभक्तिके द्वारा उनके अप्राकृत रूप-गुणादिके माधुर्यका आस्वादन होता है—इस विषयमें चतुर्थ ("यथा महान्ति भूतानि") श्लोकमें विशेष रूपसे कहा जायेगा॥३२॥

श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीपाद

सृष्टिर पूर्वे षडैश्वर्यपूर्ण आमि त' हईये।
'प्रपञ्च', 'प्रकृति', 'पुरुष' आमातेई लये॥

सृष्टि करि तार मध्ये आमि त' बसिये।
प्रपञ्च ये देख सब, सेह आमि हईये॥

प्रलये अवशिष्ट आमि 'पूर्ण' हईये।
प्राकृत प्रपञ्च पाय आमातेई लये॥

'अहमेव'-श्लोके 'अहम'-तिनबार।
पूर्णैश्वर्य-विग्रहेर स्थितिर निर्द्धार॥

ये 'विग्रह' नाहि माने, 'निराकार' माने।
तारे तिरस्करिवारे करिला निर्द्धारणे॥३२॥

(चै॰ च॰ म॰ २५/१०८-११०; ११२-११३)

भावानुवाद—सृष्टिसे पूर्व छह ऐश्वर्योंसे परिपूर्ण केवल मैं ही था। उस समय प्रपञ्च, प्रकृति और पुरुष (जीव) मुझमें ही लीन थे।

सृष्टिके उपरान्त मैं ही उसमें विराजित हूँ। प्रपञ्चमें जो कुछ भी दृष्टिगोचर होता है, वह (मेरी शक्तिके परिणामस्वरूप) मैं ही हूँ।

प्रलयके समय अपनेमें ही परिपूर्ण होकर केवल मैं ही रहता हूँ तथा प्राकृत (प्रकट) प्रपञ्च मुझमें ही लीन रहता है।

श्रीभगवान् द्वारा कथित 'अहमेव' आदि श्लोक (श्रीमद्भा॰ २/९/३३) में 'अहम्' शब्द तीन बार कहा गया है—'अहमेव', 'पश्चाद् अहम्', 'सोऽस्मि अहम्'।

'अहम्' की पुनरावृत्ति द्वारा छहों ऐश्वर्योंसे परिपूर्ण विग्रह परमपुरुष श्रीभगवान्की स्थिति ही निर्द्धारित हुई है।

जो लोग श्रीभगवान्के श्रीविग्रहको न मानकर उन्हें निराकार मानते हैं, उनके तिरस्कारके लिए ही तीन बार 'अहम्' शब्दको कहकर श्रीभगवान्के अप्राकृत श्रीविग्रहका निर्द्धारण किया गया है॥३२॥

श्रीजीव गोस्वामीपाद

तदेवाभिधेयादि-चतुष्टयं चतुःश्लोक्या निरूपयन् प्रथमं ज्ञान-विज्ञानार्थं स्वलक्षणं प्रतिपादयति—अहमेवासमिति। अत्राहंशब्देन तद्वक्ता मूर्त्त एवोच्यते, न तु निर्विशेषं ब्रह्म—तदविषयत्वात्; आत्मज्ञान-तात्पर्यकत्वे तु (छा॰ ६/८/७) *'तत्त्वमसि'* इतिवत् त्वमेवासीरित्येव वक्तुमुपयुक्तत्वात्। ततश्चायमर्थः—सम्प्रति भवन्तं प्रति प्रादुर्भवन्नसौ परममनोहरश्रीविग्रहोऽहमेवाग्रे महाप्रलय-कालेऽप्यासमेव; *'वासुदेवो वा इदमग्र आसीन्न ब्रह्मा न च शङ्करः'*; (महोपनिषत् १) *'एको नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानः'* इत्यादि श्रुतिभ्यः; (श्रीमद्भा॰ ३/५/२३) *'भगवानेक आसेदमग्र आत्मात्मनां विभुः'* इत्यादि तृतीयात्। अतो वैकुण्ठ-तत्पार्षदादीनामपि तदुपाङ्गत्वादहंपदेनैव ग्रहणम्—राजाऽसौ प्रयातीतिवत्। ततस्तेषाञ्च तद्वदेव स्थितिर्बोध्यते। तथा च राजप्रश्नः—(श्रीमद्भा॰ २/८/९) *'स चापि यत्र पुरुषो विश्वस्थित्युद्भवापयः। मुक्त्वात्ममायां मायेशः शेते सर्वगुहाशयः॥'* इति; श्रीविदुर-प्रश्नश्च—(श्रीमद्भा॰ ३/७/३७) *'तत्त्वानां भगवंस्तेषां कतिधा प्रतिसंक्रमः। तत्रेमं क उपासीरन् क उ स्विदनुशेरते॥'* इति; काशीखण्डेऽप्युक्तं श्रीध्रुवचरिते—*'न च्यवन्ते हि यद्भक्ता महत्यां प्रलयादपि। अतोऽच्युतोऽखिले लोके स एकः सर्वगोऽव्ययः॥'* इति। अहमेवेत्येव-कारेण कर्त्रन्तरस्यारूपत्वादिकस्य च व्यावृत्तिः। आसमेवेति तत्रासम्भावनाया निवृत्तिस्तदुक्तम्—यद्रूप-गुणकर्मक इति। यद्वा, आसमेवेति ब्रह्मादि-बहिर्जन-ज्ञानगोचर-सृष्ट्यादि-लक्षण क्रियान्तरस्यैव व्यावृत्तिः, न तु स्वान्तरङ्गलीलाया अपि। यथा—'अधुनाऽसौ राजाकार्यं न किञ्चित् करोति' इत्युक्ते राज्यसम्बन्धि-कार्यमेव निषिध्यते, न तु शयन- भोजनादिकमपीति, तद्वत्। यद्वा, (पाणिनि॰ ६/४/९८) *'अस् गतिदीप्त्यादानेषु'* इत्यस्मादासम्—साम्प्रतं भवता दृश्यमानैर्विशेषैरेभिरग्रेऽपि विराजमान एवातिष्ठमिति निराकारत्वादिकस्यैव विशेषतो व्यावृत्तिः। तदुक्तमनेन श्लोकेन साकार-निराकार-विष्णुलक्षणकारिण्याः मुक्ताफलटीकायामपि—*'नापि साकारेष्वव्याप्तिः, तेषामाकारातिरोहि-तत्वात्'* इति; ऐतरेयक-श्रुतिश्च—(बृ॰ १/४/१) 'आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः' इति। एतेन प्रकृतीक्षणतोऽपि प्राग्भावात् पुरुषादप्युत्तमत्वेन भगवज्ज्ञानमेव कथितम्। ननु क्वचिन्निर्विशेषमेव ब्रह्मासीदिति श्रूयते? तत्राह—सत् कार्यमसत् कारणम्, तयोः परं यद्ब्रह्म, तन्न मत्तोऽन्यत्—क्वचिदधिकारिणि शास्त्रे वा स्वरूपभूतविशेष-व्युत्पत्यसमर्थे सोऽयमहमेव निर्विशेषतया प्रतिभामीत्यर्थः। यद्वा, तदानीं प्रपञ्चे विशेषाभावान्निर्विशेष-चिन्मात्राकारेण, वैकुण्ठे तु सविशेष-भगवद्रूपेणेति शास्त्रद्वय-व्यवस्था। एतेन च (गी॰ १४/२७) *'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्'* इत्यत्रोक्तं भगवज्ज्ञानमेव प्रतिपादितम्। अतएवास्य ज्ञानस्य परम-गुह्यत्वमुक्तम्। ननु सृष्टेरनन्तरं जगति नोपलभ्यसे? तत्राह—पश्चात् सृष्टेरनन्तरमप्यहमेवास्म्येव, वैकुण्ठेषु भगवदाद्याकारेण, प्रपञ्चेष्वन्तर्या-म्याकारेणेति शेषः। एतेन (श्रीमद्भा॰ ११/३/३५) *'सृष्टि-स्थिति-प्रलयहेतुरहेतुरस्य'*

इत्यादि-प्रदिपादितं भगवज्ज्ञानमेवोपदिष्टम्। ननु सर्वत्र घटपटाद्याकारा ये दृश्यन्ते, ते तु त्वद्रूपाणि न भवन्तीति तवापूर्णत्वप्रसक्तिः स्यादित्याशङ्क्याह—यदेतद्विश्वं तदप्यहमेव—मदनन्तत्वान्मदात्मकमेवेत्यर्थः। अनेन (श्रीमद्भा॰ २/७/५०) *'सोऽयं तेऽभिहितस्तात भगवान् विश्वभावनः। समासेन हरेर्नान्यदन्यस्मात् सदसच्च यत्॥'* इत्याद्युक्तं भगवज्ज्ञानमेवोपदिष्टम्। तथा प्रलये योऽवशिष्येत, सोऽहमेवास्म्येव। एतेन (श्रीमद्भा॰ ३/५/२३) *'भगवानेक आसेदम्'* इत्यादुक्तं भगवज्ज्ञानमेवोपदिष्टम्। तथा पूर्वं सानुग्रहप्रकाश्यत्वेन प्रतिज्ञातं यावत्त्वं सर्वकाल-देशापरिच्छेद्यत्व-ज्ञापनयोपदिष्टम् एवं 'नान्यद्यत् सदसत्परम्' इत्यनेन (गी॰ १४/२७) *'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्'* इति ज्ञापनया यथाभावत्वम्, सर्वाकारावयविभगवदाकारनिर्देशेन विलक्षणानन्तरूपत्व-ज्ञापनया यद्रूपत्वम्, सर्वाश्रयता-निर्देशेन विलक्षणानन्तगुणत्व-ज्ञापनया यद्गुणत्वम्, सृष्टि-स्थिति-प्रलयोपलक्षित-विविधक्रियाश्रयत्व-कथनेनालौकिकानन्तकर्मत्व-ज्ञापनया यत्कर्मत्वञ्च॥३२॥

भावानुवाद—उन चार वक्तव्योंको ही श्रीभगवान् चतुःश्लोकी द्वारा निरूपण कर रहे हैं। प्रथम दो श्लोकोंमें ज्ञान और विज्ञानके अर्थसे युक्त अपने लक्षणका प्रतिपादन कर रहे हैं। उनमेंसे पहले ज्ञानार्थक श्लोकको बतला रहे हैं।

प्रस्तुत श्लोकमें 'अहं' शब्दके द्वारा बतलाया जा रहा है कि श्लोकके वक्ता (श्रीभगवान्) मूर्त्तविग्रह हैं, किन्तु अज्ञेय निर्विशेष ब्रह्म नहीं हैं। इसका कारण है कि आत्मज्ञानके तात्पर्यके विषयमें 'तत्त्वमसि'—इस वेदवाक्यमें जिस प्रकार "तुम ही हो" अर्थात् तुम्हारी पृथक् मूर्त्तिमत्ता है—यह कहना उपयुक्त है, उसी प्रकार श्रीभगवान्का भी स्वतन्त्र विग्रहवान होना निश्चित है। अब हे ब्रह्मन्! इस समय तुम्हारे निकट मैं यह जो परम मनोहर श्रीविग्रहविशिष्ट रूपमें प्रादुर्भूत हुआ हूँ, वही मैं ही पहले अर्थात् महाप्रलयकालमें भी वर्त्तमान था। जैसा कि श्रुतियोंमें भी वर्णन है—"इस विश्वसृष्टिके पूर्व श्रीवासुदेव ही थे, ब्रह्मा अथवा शङ्कर कोई भी नहीं थे", "एकमात्र श्रीनारायण ही थे, ब्रह्मा अथवा ईशान कोई भी नहीं थे।" तृतीय-स्कन्ध (श्रीमद्भा॰ ३/५/२३) में भी कथित है—"सृष्टिके पूर्व समस्त आत्माओंके आत्मा एकमात्र विभु भगवान् श्रीनारायण ही थे।"

"यह राजा जा रहा है"—ऐसा कहनेपर जिस प्रकार राजवेश पहनकर राजदण्ड, राजछत्र, सेना, मन्त्रियों और सेवकोंके साथ ही

राजाका गमन समझा जाता है, उसी प्रकार 'अहं' पद द्वारा श्रीभगवान्‌के वैकुण्ठादि धाम तथा उनके पार्षदादिको भी श्रीभगवान्‌के उपाङ्गके रूपमें ग्रहण करना होगा तथा उनकी भी स्थिति भगवान्‌के समान ही समझनी होगी। श्रीभागवत (२/८/९) में भी श्रीपरीक्षित्‌के प्रश्नमें कहा गया है—"हे ब्रह्मन्! जिनसे इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति और प्रलय होता है, वे मायाधीश सर्वान्तर्यामी पुरुष आत्ममायाका परित्याग करके जिस प्रकारसे शयन करते हैं, उसका तत्त्वतः वर्णन कीजिये।" पुनः श्रीभागवत (३/७/३७) में श्रीविदुरके प्रश्नमें भी इसीका उल्लेख हुआ है—"हे मुने! आपने जिन सब तत्त्वोंका वर्णन किया है, उन सबका लय कितने प्रकारका होता है? राजाके शयन करनेपर जिस प्रकार सेवकगण चामरादि द्वारा उसकी सेवा करते हैं, उसी प्रकार प्रलयकालमें शेष शय्यापर शयन करते समय श्रीभगवान्‌की सेवा कौन करते हैं तथा उनके साथ कौन-कौनसे पदार्थ सुप्त रहते हैं?" काशीखण्डके अन्तर्गत ध्रुव-चरित्रमें भी कहा गया है—"महाप्रलयरूप आपत्कालमें भी उनके भक्त भ्रष्ट नहीं होते, इसलिए श्रीभगवान् अखिल लोकोंमें अच्युत, एक (अद्वितीय), सर्वग अर्थात् सर्वव्यापक और अव्ययके रूपमें जाने जाते हैं।"

'अहमेव' पदके 'एव' कारके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णके अतिरिक्त दूसरे कर्त्ताकी सत्ता और नित्य नाम, रूप, गुण, लीला तथा धामादि अर्थात् चित्-वैचित्र्य-विहीन तत्त्ववस्तुकी सत्ताका खण्डन किया गया है। 'आसमेव' कथनके द्वारा श्रीभगवान्‌के अस्तित्वकी असम्भावना अर्थात् उनके अनस्तित्व (सत्ताशीलरहित होने) का खण्डन किया गया है। इसीलिए 'यद्रूपगुणकर्मकः' अर्थात् "मैं जिस रूप, गुण और लीलासे विशिष्ट हूँ"—ऐसा कहा गया है। अथवा 'आसमेव' पदमें ब्रह्मादि बहिर्जनोंके ज्ञानगोचर सृष्टि आदि लक्षणयुक्त अन्य क्रिया श्रीभगवान्‌के लिए निषिद्ध हुई है, किन्तु इसीलिए श्रीभगवान्‌की अपनी अन्तरङ्ग लीलाका भी खण्डन हुआ है—ऐसा नहीं है। जिस प्रकार "यह राजा अब कोई कार्य नहीं करता"—ऐसा कहनेपर उसके राज्य-सम्बन्धी कार्योंका ही निषेध होता है अर्थात् वह राज्यकार्यसे विरत हो गया है, मात्र इतना ही समझा जाता है। परन्तु इसके द्वारा राजाका

शयन-भोजनादिरूप स्वरूप अथवा उसके अन्तरङ्गोचित कार्य-कलापका निषेध नहीं समझा जाता, श्रीभगवान्‌के सम्बन्धमें भी इसी प्रकार समझना होगा। अथवा 'अस्' धातु 'गति', 'दीप्ति', 'ग्रहण' अर्थोंमें भी व्यवहृत होती है। इसलिए 'आसम्' शब्द द्वारा श्रीभगवान् कह रहे हैं—हे ब्रह्मन्! तुम्हारे द्वारा दृश्य इस जड़वैचित्र्यके पूर्व भी मैं विराजमान था—इसके द्वारा श्रीभगवान्‌के निराकार रूपका ही विशेष भावसे निषेध किया गया है।

प्रस्तुत श्लोकके द्वारा साकार-निराकार-विष्णुलक्षण निर्देशकारिणी 'मुक्ताफल' टीकामें भी कथित हुआ है—"श्रीभगवान्‌के आकार अर्थात् रूप-गुणादिके तिरोहित न होनेके कारण साकार आदिसे अर्थात् रूप-गुणादिमें भी उनकी अव्याप्ति नहीं है, अर्थात् वे खण्डित अथवा सीमित नहीं हैं।" ऐतरेय श्रुतिमें भी वर्णित है—"इस विश्वसृष्टिके पूर्व पुरुषरूपमें एकमात्र आत्मा ही विद्यमान था।" इसके द्वारा प्रकृतिके प्रति ईक्षण-क्रियाके भी पूर्व वर्त्तमान होनेके कारण श्रीभगवान्‌की प्रकृतिके वशीभूत होने योग्य पुरुष (जीव) से श्रेष्ठता है, इसलिए यहाँ भगवत्-ज्ञान ही कथित हुआ है।

यदि कहो कि श्रुतियोंमें कहीं-कहींपर ऐसा क्यों देखा जाता है कि निर्विशेष ब्रह्म ही विश्व सृष्टिके पूर्व थे? इसके उत्तरमें कहते हैं—'सत्' अर्थात् कार्य, 'असत्' अर्थात् कारण, इन दोनोंसे अतीत जो ब्रह्म है, वह भी मुझसे पृथक् अन्य वस्तु नहीं है। अथवा श्रीभगवान्‌के स्वरूपभूत चित्-विलासको समझनेमें असमर्थ किसी-किसी निर्विशेषाधिकारी शास्त्रमें मैं ही निर्विशेष रूपमें प्रतिभात होता हूँ। अथवा उस (प्रलयके) समय विश्व-प्रपञ्चमें वैचित्र्य-हीनताके कारण निर्विशेष अचित्-मिश्रातीत चिन्मात्र रूपमें तथा वैकुण्ठमें चित्-विलासमय सविशेष भगवत्-रूपमें मैं ही विद्यमान था—शास्त्रमें यही दो व्यवस्थाएँ हैं (अर्थात् भगवत्-तत्त्वके दो स्वरूप हैं—भगवान् और ब्रह्म)। इसके द्वारा "मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ"—श्रीगीता (१४/२७) में उक्त यह भगवत्-ज्ञान ही प्रतिपादित हुआ है और इसी कारण भगवत्-ज्ञानका परम गूढ़त्व कथित हुआ है। यदि तुम (ब्रह्मा) कहो कि—हे भगवान्! सृष्टिके उपरान्त तो आपकी उपलब्धि नहीं की जा सकेगी? इसके

उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं—सृष्टिके बाद भी मैं ही दोनों रूपोंमें रहूँगा, अर्थात् वैकुण्ठमें षडैश्वर्यपूर्ण सच्चिदानन्द-विग्रहके रूपमें और प्रापञ्चिक ब्रह्माण्डमें अन्तर्यामीके रूपमें। इसके द्वारा "विश्वकी सृष्टि-स्थिति-प्रलयके कारण और अकारण श्रीभगवान् ही हैं" आदि प्रकारसे श्रीमद्भागवत (११/३/३५) में प्रतिपादित भगवत्-ज्ञानका ही उपदेश हुआ है।

यहाँ आपत्ति हो सकती है कि सर्वत्र जो घट-पटादि रूप देखा जाता है, यदि वह समस्त रूप आपका नहीं है, तब तो आपके अपूर्णत्वका (खण्ड-भावका) ही प्रसङ्ग उपस्थित होता है? ऐसी आशङ्काके उत्तरमें श्रीभगवान् कह रहे हैं—यह जो विश्व है, वह भी मैं ही हूँ अर्थात् यह मुझसे अतिरिक्त अन्य वस्तु (पृथक् सत्ताशील) नहीं है। वस्तुतः वह भगवदात्मक (ईशावास्य) ही है। इसके द्वारा "हे तात! उन भगवान् विश्वभावन श्रीविष्णुकी कथा ही तुमने कही।" आदि (श्रीमद्भा॰ २/७/५०) में कहे गये भगवत्-ज्ञानका ही उपदेश दिया गया है।

इस प्रकार "प्रलयके बाद जो अवशिष्ट रहता है, वह भी मैं ही हूँ—इस अर्थके द्वारा एकमात्र आप ही 'शेष' नामसे अवशिष्ट रहते हैं।" आदि श्लोक (श्रीमद्भा॰ ३/५/२३) में कथित भगवत्-ज्ञानका ही उपदेश दिया गया है। आपने पहले अनुग्रहपूर्वक जो अपने परिमाणकी बात ब्रह्माके समीप प्रकाशित करनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसकी सार्वदेशिकता और सार्वकालिकताकी अपरिमेयता (असीमता) ज्ञात कराना ही भगवत्-परिमाण है। 'सत्' और 'असत्' के परे (अतीत) कोई भी वस्तु मुझसे पृथक् नहीं है, इस वर्णनके द्वारा (श्रीगी॰ १४/२७) "मैं ब्रह्मकी भी प्रतिष्ठा हूँ"—यह बतलाकर इसके द्वारा भगवत्-लक्षण कहा गया है; सभी अवतारोंके मूल अङ्गी श्रीभगवान्‌के आकारके निर्देश द्वारा जड़से विलक्षण उनके अनन्त रूपोंका विवरण ज्ञात कराकर भगवान्‌के रूपका वर्णन किया गया है; भगवान् सबके आश्रय हैं—इसके निर्देश द्वारा उनके जड़से विलक्षण अनन्त गुणोंको बतलाया गया है; भगवान्‌के गुणों और विश्वकी सृष्टि, स्थिति और प्रलयके वर्णनसे उपलक्षित विविध लीलाओंका आश्रयत्व वर्णनकर

उनकी अप्राकृत अनन्त लीलाओंके वर्णन द्वारा श्रीभगवान्‌की लीलाओंका ही उपदेश किया गया है॥३२॥

श्रीश्रीधर–स्वामीपाद

एतदेव सम्यगुपदिशन् यावानित्यस्यार्थं स्फुटयति—अहमेवाग्रे सृष्टेः पूर्वं आसं स्थितः; नान्यत् किञ्चित् यत् सत् स्थूलम्, असत् सूक्ष्मम्, परम् तयोः कारणम् प्रधानं। तस्याप्यन्तर्मुखतया तदा मय्येव लीनत्वात्। अहञ्च तदा आसमेव केवलं, न चान्यदकरवम्; पश्चात् सृष्टेरनन्तरमपि अहमेवास्मि; यदेतद् विश्वं, तदप्यहमेवास्मि; प्रलये योऽवशिष्येत, सोऽप्यहमेव। अनेन चानाद्यनन्तत्वात् अद्वितीयत्वाच्च परिपूर्णोऽहमित्युक्तं भवति॥३२॥

भावानुवाद—इस विषयका (अर्थात् पिछले श्लोकमें कहे गये श्रीभगवान्‌के रूप-गुण आदिका) ही सम्यक् रूपसे उपदेश करनेके लिए अब श्रीभगवान् पूर्व श्लोकका अर्थ स्पष्ट कर रहे हैं—मैं विश्व-सृष्टिके पूर्व विद्यमान था, मेरे अतिरिक्त 'सत्' अर्थात् स्थूल अथवा कार्य, 'असत्' अर्थात् सूक्ष्म अथवा कारण तथा 'पर' अर्थात् स्थूल-सूक्ष्मका कारण प्रधान—इस प्रकारका अन्य कुछ भी नहीं था, क्योंकि अन्तर्मुखतावशतः यह सब मुझमें ही लीन था। उस समय मैं भी अन्तरङ्ग लीलामय था, बहिरङ्ग क्रिया आदि कुछ नहीं करता था। अनन्तर विश्वसृष्टिके पश्चात् भी मैं ही हूँ। यह जो विश्व है, वह भी मैं ही हूँ—इसकी मुझसे पृथक् सत्ता नहीं है। प्रलयमें जो शेष रूपमें वर्त्तमान रहता है, वह भी मैं ही हूँ, अन्य कोई नहीं है—इसके द्वारा मेरा अनादि, अनन्त और अद्वितीय रूपमें परिपूर्ण होना ही कथित हुआ है॥३२॥

श्रीमध्वाचार्यपाद

परं स्वतन्त्रं न।

'विष्णोरधीनं प्राक्सृष्टेस्तथैव च लयादनु।
अस्य सत्त्वप्रवृत्त्यादि विशेषेणाधिगम्यते॥

स्वातन्त्र्यं स्थितिकाले तु कथञ्चिद्बुद्धि-मोहतः।
प्रतीयमानमपि तु तस्मान्नैवेति गम्यते॥

जनिष्येऽहं लयिष्येऽहमिति न ह्यभिसन्धितः।
अतो जीवनमप्येतद्भवेदीशाभिसंहितम्॥

अतः स्वरूपभेदेऽपि ह्यात्मैवेदमिति श्रुतिः।
वदत्यस्येशतन्त्रत्वाद्यदशक्तस्त्वसन्निति ॥

विद्यन्ते हि तदा जीवाः कालकर्मादिकं तथा।
क्वान्यथा हि पुनः सृष्टिः पूर्वकर्मानुसारिणी॥'

इति ब्रह्मतर्के।

त्वमेतच्च परं न भवति स्वतन्त्रं न॥३२॥

भावानुवाद—'परम्' अर्थात् स्वतन्त्र नहीं होना। ब्रह्मतर्कमें कहा गया है—"जिस प्रकार सृष्टिके पूर्व विश्वकी उत्पत्ति और स्थिति आदि कार्य विष्णुके अधीन हैं, उसी प्रकार प्रलयके पश्चात् भी इस विश्वकी स्थिति तथा प्रवृत्ति (उत्पत्ति) आदि कार्य विष्णुके ही अधीन हैं, यह विशेष रूपसे जाना जाता है। किसी प्रकार बुद्धिकी मूढ़तावश जगत्के स्थितिकालमें विष्णुसे इसकी स्वतन्त्रता प्रतीत होनेपर भी यह उनसे स्वतन्त्र अथवा पृथक् नहीं है"—यही जाना जाता है। "मेरा जन्म होगा, मेरा विनाश (मरण) होगा"—यह सम्पूर्ण रूपसे अद्वयज्ञान-प्रतीतियुक्त कथन नहीं है। इसलिए यह जीव भी ईश्वरसे अभिन्न है, अतएव स्वरूप भेदमें भी यह आत्माके अतिरिक्त दूसरी वस्तु नहीं है। इस जगत्की ईश्वराधीनता होनेके कारण यह दुर्बल है तथा नित्यसत्य नहीं है—ऐसा श्रुतियाँ कहती हैं। जीव तथा काल-कर्मादि भी उसी प्रकारसे वर्त्तमान हैं (अर्थात् भगवान्के समान नित्य हैं), अन्यथा किस प्रकारसे पुनः पूर्वकर्मके अनुसार सृष्टि होती है?" अतएव हे ब्रह्मन्! तुम स्वतन्त्र नहीं हो तथा यह प्रापञ्चिक विश्व भी स्वतन्त्र नहीं है॥३२॥

श्रीविजयध्वज तीर्थपाद

ज्ञानोपदेश-प्रकारमाह—अहमिति। अग्रे सृष्टेःप्राक् अहमेवासं; च शब्दात् सदसदासीत्, काल-प्रकृत्यादिकं अभूत्, तथापि प्रलये यत्काल-कर्मादिकमन्यत् हरेर्भिन्नमभूत्, तत्परम् स्वतन्त्रम् न आसं, किञ्च, मायावृतत्वेन मदधीनमेवाभूत्। पश्चात् सृष्ट्यनन्तरम् स्थितिकाले त्वमहम्-ऐतज्जगच्च आसीत्, आसम्, आसीत्,

फलितमाह—यः इति। स्थितिकाले भोक्ताऽहं-कर्त्ताऽहं इति स्वातन्त्र्यप्रतीतेः सृष्टेःप्राक् लयानन्तरम् च अस्य जगतः स्वातन्त्र्यम् स्यादिति चेत्? न, तत्प्रतीतेः बुद्धि मोह-मूलत्वात्। तदुक्तं—विष्णोरधीने प्राक्सृष्टेस्तथैवप्रलयादनु अस्यसत्त्वप्रवृत्त्यादि विशेषेण अधिगम्यते, स्वातन्त्र्यम् स्थितिकाले तु कथञ्चित् बुद्धिमोहतः प्रतीयमानमपि तु तस्मान्नैवेति गम्यतामित्यादि। अनेन, कालत्रयेऽपि स्वतन्त्रोऽहम्; त्वदादिकम् सर्वं यदधीनमेवेत्युक्तम् भवति॥३२॥

भावानुवाद—इस श्लोकमें श्रीभगवान् ज्ञानके उपदेशका प्रकार बतला रहे हैं। सृष्टिके पूर्व मैं ही था। 'च' शब्दसे सत्-असत् तथा काल और प्रकृति आदिका होना भी जाना जाता है। तथापि प्रलयमें काल-कर्मादि जो कुछ हरिसे भिन्न हुए थे, वे सब मुझसे (श्रीहरिसे) स्वतन्त्र नहीं थे तथा माया द्वारा आवृत होनेके कारण वे सब मेरे अधीन तत्त्वरूपमें ही हो गये थे। सृष्टिके पश्चात् स्थिति-कालमें तुम, मैं और यह जगत् थे। यदि आपत्ति हो कि स्थिति कालमें "भोक्ता मैं", "कर्त्ता मैं"—इस स्वतन्त्र-प्रतीतिके लिए सृष्टिके पूर्व और प्रलयके उपरान्त इस जगत्की स्वतन्त्रता रहती है? परन्तु वैसा नहीं है, क्योंकि ऐसी प्रतीति बुद्धिके मोहवशतः है। सृष्टिके पूर्व तथा प्रलयके बाद भी इस जगत्की सृष्टि-स्थिति आदि श्रीविष्णुके अधीन ही है—ऐसा विशेष भावसे जाना जाता है, किन्तु स्थितिकालमें किसी भी प्रकारसे बुद्धि-मोहके कारण उनसे स्वतन्त्र प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः वैसा नहीं है—ऐसा समझना होगा। इसके द्वारा त्रिकालमें भी मैं स्वतन्त्र हूँ। तुम और अन्य जो कुछ है, वे सभी मेरे अधीन तत्त्व हैं॥३२॥

श्रीवीरराघवाचार्यपाद

'यावान्' (श्रीमद्भा॰ २/९/३१) इत्यस्यार्थमेव स्फुटयन् प्रधान्यतया-ज्ञातव्य परशब्दोक्तं भगवत्स्वरूपमाह—अहमिति। सदसत्परम् चेतनाचेतन-विलक्षणं यद्वस्तु, तदहमेवासम् अभवम्। अन्यत्रचिदचिद्विलक्षणं न भवति, अन्यत्सर्वं चिदचिदन्तर्गतं, अहमेव तद्विलक्षणमित्यर्थः। अग्रे सृष्टेः प्राक्यद्वस्तु, पश्चात्सृष्टिकाले जातस्त्वमेतत्कार्यजातं च, तदप्यहं कारणचिदचिद्रूपः कार्यचिदचिद्रूपश्चाहमित्यर्थः; पुनः संहारकाले योऽवशिष्येत संहिते, सोऽप्यहमेवेत्यर्थः। प्रकृतिपुरुषविलक्षणः तच्छरीरकश्चाहमेक एव, य एव सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सर्वेश्वरः। सृष्टेः प्रागविभक्त नाम-रूप सूक्ष्म-प्रकृति-पुरुष शरीरकः, सृष्टिकाले विभक्त नाम-रूप प्रकृति-पुरुष शरीरकः स्वपर्यन्त नाम-रूप

आसम्, संहारविषयोप्यहमेवेत्यर्थः। एवं कारण अवस्थायाम् विभक्त नाम-रूप प्रकृतिशरीरकत्वेन, कार्यावस्थायाम् विभक्त नाम-रूप प्रकृति-पुरुष शरीरकत्वेन अवस्थितस्यापि परमात्मनः स्वशरीरभूत चेतनाचेतनगत अज्ञत्व-दुःखित्व-कर्मवशत्व-परिणामित्व-जडत्वादिभिर्विकारैः जीवात्मनस्तच्छरीरगत बालत्व-युवत्व-स्थविरत्वादिभिरिव अस्पर्शात् चेतनाचेतनवैलक्षण्यमविहितमेवावतिष्ठते। कार्यत्वं कारणत्वं च स्वशरीरभूत प्रकृति-पुरुष द्वारकमुपपन्नमिति अत्र भाष्यादिषु विस्तरोद्रष्टव्यः॥३२॥

भावानुवाद—पूर्व श्लोकके 'यावान्' (जो परिमाण) पदका अर्थ स्पष्ट करनेके लिए श्रीभगवान् मुख्यतः जानने योग्य 'पर' शब्द द्वारा निर्दिष्ट भगवत्-स्वरूपका वर्णन कर रहे हैं। 'सदसत्पर' शब्दमें चेतन-अचेतनसे विलक्षण जो वस्तु है, वह मैं ही हूँ। अन्य वस्तु चिदचित्-विलक्षण नहीं होती, अपितु सभी चिदचित्के अन्तर्गत हैं, केवल मैं ही उससे विलक्षण हूँ। 'अग्रे' अर्थात् सृष्टिके पूर्व जो वस्तु थी, 'पश्चात्' अर्थात् सृष्टिकालमें उत्पन्न तुम और यह कार्यसमूह—वह भी मैं ही हूँ तथा कारण चिदचित्-रूप और कार्य चिदचित्-रूप भी मैं हूँ; पुनः संहारकालमें जो अवशिष्ट रहता है, वह भी मैं ही हूँ। प्रकृति-पुरुषसे विलक्षण यह शरीर-विशिष्ट मैं ही एक (अद्वितीय), सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वेश्वर हूँ। सृष्टिके पूर्व विभक्त नाम-रूप सूक्ष्म-प्रकृति-पुरुष-शरीरविशिष्ट, सृष्टिकालमें विभक्त नाम-रूप प्रकृति-पुरुष-शरीरविशिष्ट मेरे भी अपने अलग-अलग नाम-रूप हैं और संहार-विषय भी मैं ही हूँ। इस प्रकारसे कारणावस्थामें विभक्त नाम-रूप-प्रकृति शरीरयुक्त और कार्यावस्थामें विभक्त नाम-रूप-प्रकृति-पुरुष शरीरयुक्त रूपमें अवस्थित होनेपर क्या परमात्मा स्व-शरीर-भूत चेतनाचेतनगत अज्ञता, दुःखित्व, कर्मवशता, परिणाम और जड़तादि विकारसे युक्त हैं? इसके समाधानमें कहते हैं कि जिस प्रकार जीवात्मा शरीरगत बाल्य, यौवन और वृद्धावस्था आदि विकारोंसे स्पर्शरहित है, उसी प्रकार परमात्मा भी इन विकारोंसे स्पर्शरहित होनेके कारण चेतनाचेतन-विलक्षण होकर ही अवस्थान करते हैं। कार्यत्व और कारणत्व अपने शरीरभूत प्रकृति-पुरुष द्वारा उत्पन्न हैं॥३२॥

श्रीशुकदेवपाद

अथ संक्षेपतस्तदेव ज्ञानं ज्ञेयवस्तूपदेशद्वारा उपदिशन्, परावरे रूपे दर्शयति—अहमिति। सदसतोः स्थूलसूक्ष्मयोः, परम् बीजभूतं कारणं, यदग्रे सृष्टेः पूर्वं वस्तु तदहमेवासम् नान्यत् किञ्चिदासीत्। यश्च पश्चादवशिष्येत सोऽप्यहमस्मि। एवं परावररूपो जगदायत्तरूपो अहमेवास्मीत्यर्थः। यदेतच्चिदचिदात्मकं विश्वं तदप्यहमेवास्मि विश्वभिन्नाभिन्नस्वरूपोऽस्मीत्यर्थः। अनेन, परिमाणतः अपरिच्छिन्नः, त्रैकालिक-सत्तावान्, जगद्भिन्नाभिन्नस्वरूपः विश्वसृष्ट्याद्यनुरूप, सर्वज्ञत्वादि गुणवान्, विश्वेकर्माश्चाहमस्मि। तद्विषयकज्ञानवान् ममानुग्रहात् भूत्वा दृढविश्वासेन माम् भजेत्युपदिष्टम्॥३२॥

भावानुवाद—सृष्टिके पूर्व स्थूल और सूक्ष्मसे श्रेष्ठ बीजभूत कारणस्वरूप जो वस्तु वर्त्तमान थी, वह मैं ही था, मेरे अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु ही नहीं थी। बादमें भी जो अवशिष्ट रहता है, वह भी मैं ही हूँ। इस प्रकारसे परावरस्वरूप और जगत्के आश्रय रूपमें मैं ही वर्त्तमान हूँ। यह जो चित्-अचिदात्मक विश्व दृष्टिगोचर होता है, वह भी मैं ही हूँ, अर्थात् मैं विश्वसे भिन्न और अभिन्न स्वरूप-विशिष्ट हूँ। इसके द्वारा परिमाणतः अपरिच्छिन्न, त्रैकालिक सत्तावान्, जगत्से भेदाभेद स्वरूप विश्वस्रष्टा आदि अनुरूप, सर्वज्ञतादि गुणवान तथा विश्वकर्मा स्वरूपमें मैं ही नित्य वर्त्तमान हूँ—इस प्रकार समझा रहे हैं। मेरी कृपासे इस विषयका ज्ञान प्राप्त करके दृढ़ विश्वासपूर्वक मेरा भजन करना ही कर्त्तव्य है—यही उपदेश किया है॥३२॥

श्रीवल्लभाचार्यपाद

एवं ज्ञानद्वयं निरूपयितुमशक्यत्वान्निरूपणे वा ब्रह्मणो हृदये स्फुरणासम्भवात् स्वयमेव दत्वा शिक्षार्थं चतुःश्लोकीमाह—अहमेवासमेवाग्र इति। यादृग्रूपं भगवान् जगत्करोति तच्छिक्षायाम् प्रार्थितं, तत्राह—अहमेव तद्रूपो जातः नान्यदिति; अन्यथाभानं च मन्माययेति। जडे देहादौमध्ये जीवप्रतीतिश्च घटादावाकाश-प्रतीतिवत्। आधाराधेयभावो बाह्याभ्यन्तरभेदहेतुश्च अहमेवेति। स्वरूपतो मूलभूतं जगत्। प्रतीतितो मायारूपं अनुप्रवेशको जीव इति सर्वं जगत्सर्वप्रकारेणाहमेवेति ज्ञात्वा स्वस्वरूपमपि तथा ज्ञातव्यम्। इयमेव शिक्षा। एवं मद्रूपो भूत्वा मद्रूपं चेज्जगत्करोति, तदा गर्वो न भवतीति तद्धेतुभूतो मोहोऽपि न भवतीति

पञ्चश्लोकानामर्थः। तत्र सर्वं जगत् कथं भगवान्? इत्याकाङ्क्षायाम् तज्जलानिति हेतुं विस्तरेण वदति—सृष्टेः पूर्वं अहमेव। 'एको नारायण आसीन्न ब्रह्मा न च शंकरः।' 'वासुदेवो वा इदमग्र आसीन्न ब्रह्मा न च शंकरः' इति श्रुतेः सृष्टेः पूर्वमहमेव। किञ्च, मत्तोऽपि पूर्वमिति नाशङ्कनीयम्। यथा जगतः पूर्वमहं, मत्तोऽपि पूर्वमन्यदिति तदैवं भवेत्—यदि कदाचिदप्यहं नासं, तत्तु मम न सम्भवति। सद्रूपेणैव निरूपणात्। 'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुतेः आसमेव। अग्रे सृष्टेः पूर्वम्। 'असद्वा इदमग्र आसीत्ततो वै सदजायत' इत्यादीनां पश्चात्प्रतीयमानजगतः पूर्वमेतादृशरूपेणानवस्थितत्वप्रतिपादकत्वात्; अन्यथा, असतः सत्ताबोधकत्वे विरोधः। 'नासतो विद्यते भावः' इति वाक्यात्, 'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्' इत्यादेस्तु स्थूलसूक्ष्मकार्यपरत्वम्। 'आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्' इति तु अवान्तरकल्पाभिप्रायेण। आपो नाना विधानि जलानि, इदं तत्कार्यं च, जगत्सर्वं सलिलं प्रलयोदकरूपमेवासीदित्यर्थः। 'अव्यक्तादीनि भूतानि' इति तु अव्यक्तरूपं ब्रह्मैव। लीनत्वकल्पकस्य पश्चादेव सिद्धेः पश्चादेव पूर्वलीनत्वं सिध्यति, न पूर्वं। अनेन, 'प्रकृतिं पुरुषं च' इत्यपि निरस्तम्। मतान्तरत्वात्। 'आसीज्ज्ञानमथो ह्यर्थ' इति वाक्यविरोधाच्च। 'तम आसीत्' इति तमोऽपि ब्रह्मैव। सर्वतः सुप्तत्वेन साम्यात्। न प्रकृतिः। 'किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्' इति कार्याश्रयप्रयोजनाभावात् तस्याः कार्यैकोन्नेयस्वरूपाया अभावात्। एवमन्यान्यपि वाक्यानि तत्तद्भावप्रकारेण बोधयन्ति, पूर्वमेकरूपे भगवति न बाधकानि भवन्ति। अतएव श्रुतिसिद्धत्वादन्यानि तत्काले निषेधति—नान्यदिति। सदसतोः श्रुतौ पूर्वसिद्धत्वेऽपि न तयोरन्यत्वम्। तदाह—सदसदिति। सच्छब्देन असच्छब्देन च ब्रह्मैवोच्यत इत्यर्थः। 'योऽस्मात्परस्मात् पर' इति, परशब्देनापि न कालादिरुच्यते, किन्त्वहमेव। तस्मात् पूर्वमहमेवेति सिद्धम्। अभावास्त्वस्मन्मते तिरोभावातिरिक्तो न भवतीति। तस्य च भगवच्छक्तित्वात्, 'पूर्ववद्ध' इति न्यायेन शक्तिधर्माणामपि तदोद्गमत्वाभावेन, कालस्यापि निरूपणासमय एव तथा वचनात् प्रकृति तुल्यत्वेन भगवानेकएव सिद्ध इत्यविवादम्। किञ्च, पश्चादहं। सर्वभवनसमर्थात्स्वरूपादेव चेष्टावत् प्रादुर्भावः। कालस्य पश्चाद्गुणरूपेण शक्तिरूपेण च पश्चात्कार्यरूपेण। 'स आत्मानं स्वयमकुरुत' इति श्रुतेः, असतः सत्तानङ्गीकाराच्च। 'यदेतत्' इति परिदृश्यमानं सर्वं, चकारात् अपरिदृश्यमानमप्रसिद्धं च। अनेन, जीवा अपि संगृहीता। 'त्वमेतच्च' इति पाठे जीवजडात्मकं सर्वमहमेवेत्यर्थः। अयं मुख्यो ब्रह्मवादः। न तु पदार्थविरोधे शब्दो न प्रमाणम्, भगवांश्च सर्वदोषरहितः। विकारादयश्च दोषाः, 'सर्व' शब्दे संकोचाभावात् उपदेश्याभावः, शास्त्रोच्छेदश्च। प्रयोजनाभावात् हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः, पुरुषोत्त-मत्वाभावश्च। तस्मादनेकदोषदुष्टत्वात् ब्रह्मवादोऽनुपपन्न इति चेत् मैवं। प्रत्यक्षादृष्टविषये पदार्थाः श्रुतिबोधिताः। परस्परं विरुद्धास्तेनैकशेषं भजन्ति हि। उभयोर्वैदिकत्वेन कः स्यादत्र नियामकः? विचारकाणां बुद्धिस्तु सोपजीव्या श्रुतेः सदा। क्रियाविद्यापरत्वे

तु विकल्पेनैकवाक्यता। दुष्टोप्याश्रीयते पक्षो विकल्पाख्यः श्रुतेर्बलात्। तथैव भगवद्रूपं, यथा हस्तादयः पृथक्। यथा सर्वाविरोधः स्यात्, तथैवात्र विचारणम्। सर्वरूपसमर्थत्वं अतो ब्रह्मणि गीयते। अन्यथा, प्रतिभानं यदुच्चनीचादिभेदेतः। तद्भानं तस्य कर्त्ता च हरिरेव तथाविधः। यत्किञ्चिद्दूषणं त्वत्र दूष्यं चापि हरिः स्वयं। विरुद्धपक्षाः सर्वेपि सर्वमत्रैव शोभते। योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहमिति। उद्भूतस्य सर्वस्य तिरोभावप्रापणे यत्तिरोभूतं न भवति, तिरोभावस्तदाश्रयोर्वा, अंशभेदेन वा, तदप्यहं अस्मीत्यनेन सर्वाएव क्रियास्तद्विषयश्चाहं इति ज्ञापयति॥३२॥

भावानुवाद—इस प्रकार उक्त दोनों ज्ञानोंका निरूपण करना किसीके लिए भी सम्भव न होनेके कारण तथा श्रीभगवान्‌के द्वारा उन दोनों ज्ञानोंका निरूपण होनेपर भी उनका श्रीब्रह्माके हृदयमें स्फुरित (प्रकाशित) होना असम्भव होनेके कारण श्रीभगवान्‌ने स्वयं ही उन दोनों ज्ञानोंको वरदानके रूपमें श्रीब्रह्माको दिया।

अब तृतीय प्रकारके ज्ञान अर्थात् जगत्-रचनाकी शिक्षाके लिए श्रीभगवान् चतुःश्लोकी (चार श्लोक) कह रहे हैं। श्रीभगवान् जिस रूपका जगत् निर्माण करना चाहते हैं, उसकी शिक्षाके लिए श्रीब्रह्माने उनसे प्रार्थना की थी। उसके उत्तरमें श्रीभगवान् 'अहमेव' आदि श्लोक द्वारा कह रहे हैं कि मैं ही जगत्-रूप हो गया हूँ। जगत् कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। इस जगत्‌का जो रूप और वैचित्रता दिखायी दे रही है, वह मेरी माया ही है। जिस प्रकार घटमें आकाश प्रतीत होता है, उसी प्रकारसे जड़-देहादिके बीचमें जीवकी प्रतीति मायासे हो रही है। घट और आकाशमें अथवा देह और जीवमें जो आधार-आधेयभाव दिखलायी दे रहा है, अथवा घट बाह्य है और आकाश भीतर है या देह बाह्य है और जीव भीतर है—इस बाह्याभ्यन्तर भेदका कारण मैं ही हूँ। अर्थात् मैं ही आधार-आधेय और बाह्य और भीतर हूँ। सब कुछ मैं ही हूँ। स्वरूपतः यह जगत् (मूलभूतसे) भगवान् है, किन्तु इसकी (भिन्न) प्रतीति मायासे हो रही है और इसमें अनुप्रवेश करनेवाला जीव है।

इसका तात्पर्य यह है कि प्रवेश और अनुप्रवेश दो वस्तुएँ हैं। एक रूपसे भगवान् सर्वत्र देहादिमें प्रविष्ट हैं ही, किन्तु पुनः वही भगवान् जीवरूप धारण करके जगत्‌में फिरसे प्रवेश करते हैं, इसलिए

यहाँ जीवको अनुप्रवेशक कहा गया है। यह विषय "यथा महान्ति" श्लोकमें स्पष्ट रूपसे कहा जायेगा। इस प्रकार सब कुछ अर्थात् यह जगत् सब प्रकारसे भगवान् ही है, इसलिए "अहं अर्थात् मैं भगवान् ही सब कुछ हूँ" आदि कह रहे हैं। हे ब्रह्मण! इस प्रकारसे तुम्हें अपने स्वस्वरूप अर्थात् ब्रह्मस्वरूपसे अवगत होना चाहिये। यही शिक्षा है। इस प्रकार अपने आपको भगवान्का स्वरूप मानकर भगवत्-स्वरूप इस जगत्को प्रकट करनेसे तुम्हें गर्व नहीं होगा और गर्वके कारण जो मोह होता है, वह मोह भी नहीं होगा। यही पाँच श्लोकों (३२-३६) का सम्मिलित तात्पर्य है। यह पूर्वोक्त अभिप्राय प्राथमिक ब्राह्म-सृष्टिके सम्बन्धमें है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि भगवान् ही सम्पूर्ण जगत् कैसे हो जाते हैं? इसके उत्तरमें 'तज्जलानं'—इस वेदोक्त हेतुको विस्तारसे कह रहे हैं। श्रीभगवान्ने मूल श्लोकमें कहा है कि सृष्टिसे पहले मैं ही था और कुछ नहीं था। श्रुतियोंमें भी कहा गया है "(सृष्टिसे पहले) एक श्रीनारायण ही थे तथा ब्रह्मा और शङ्कर आदि कोई नहीं थे", "इस सम्पूर्ण जगत्की सृष्टिसे पहले श्रीवासुदेव भगवान् ही थे तथा ब्रह्मा और शङ्कर आदि कोई नहीं थे"—इन वचनोंसे स्पष्ट होता है कि सृष्टिसे पहले केवल मैं ही था। मुझसे भी पहले कुछ और था—ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिये। जगत्की सृष्टिसे पहले मैं था, किन्तु मुझसे भी पहले किसी अन्य पदार्थकी स्थितिकी आशङ्का तब हो सकती है जब मैं कभी भी न रहूँ, परन्तु मेरे विषयमें यह सम्भव ही नहीं है। वेदमें भी भगवान्को सर्वदा वर्त्तमान कहा गया है। इसलिए मूल श्लोकमें कहते हैं कि सृष्टिसे पहले मैं अवश्य ही था। कभी भी ऐसा नहीं हुआ कि मैं नहीं था। वेदके एक अन्य वचनमें भी कहा गया है—"हे सौम्य! सृष्टिसे पहले यह समस्त जगत् सद्रूप अर्थात् भगवद्रूप था और एक अद्वितीय था" अर्थात् भगवान् थे और भगवान्के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं था।

यदि कोई प्रश्न करें कि श्रुतिमें कहा गया है—"यह जगत् पहले असत् था, फिर असत्से सत् हुआ।" इसके उत्तरमें इस श्रुति वचनका तात्पर्य निरूपण करते हुए कह रहे हैं कि वर्त्तमानमें यह जगत् जैसा

दृष्ट हो रहा है, वैसे व्यवस्थित रूपमें सृष्टिसे पहले नहीं था। यदि बिलकुल ही असत् होता तो उस असत्से सत् कैसे उत्पन्न होता? असत्से सत्की उत्पत्ति माननेसे "नासतो विद्यते भावः अर्थात् असत्की कभी सत्ता नहीं है"—इस वचनसे विरोध होगा। यदि कहो कि "प्रलयके समय असत् और सत् दोनों ही नहीं थे"—इस श्रुतिके अनुसार असत् और सत् दोनोंके ही होनेका निषेध किया गया है। इसके उत्तरमें कहते हैं कि यह श्रुति स्थूल, सूक्ष्म कार्यका ही निषेध कर रही है। यहाँ स्थूल कार्यको सत् कहते हैं और सूक्ष्म कार्यको असत् कहते हैं। यदि कहो कि "यह सम्पूर्ण जगत् पहले जल ही था"—इस श्रुतिमें सृष्टिके पहले जलका निरूपण हुआ है। इसका उत्तर यह है कि अवान्तर (मध्यवर्ती) कल्पमें सृष्टिसे पूर्व यह जगत् प्रलय जलमें था—यही इस श्रुतिका तात्पर्य है।

"अव्यक्तादिनि भूतानि" गीताके इस वचनमें अव्यक्त शब्दसे ब्रह्मका ही निर्देश हुआ है। जहाँ-जहाँ जगत्का किसी पदार्थमें लीन होनेका विषय कहा गया है, वहाँ भी उसकी सत्ताके सम्बन्धमें ही कहा गया है। यह जगत् अव्यक्तमें लीन हो गया—ऐसा कहनेका तात्पर्य यह है कि पहले था और बादमें लीन हो गया। पहलेसे ही लीन था—ऐसा अर्थ नहीं है। "प्रकृतिं पुरुषं चैव" गीताके इस वचनमें अवान्तर (बीचके) कारणका ही निरूपण हुआ है, मतान्तर अर्थात् सांख्य मतका विचार नहीं, क्योंकि भागवतमें कहा गया है कि "आसीत् ज्ञानमयो ह्यर्थः अर्थात् सबसे पहले ज्ञानमय परब्रह्म ही थे।" इसलिए गीताका सिद्धान्त इसके विरुद्ध नहीं हो सकता। अन्यथा इन दो भगवत्-वचनोंमें विरोध आयेगा। "तम आसीत्"—इस श्रुतिमें जो तमका निरूपण हुआ है, वह तम भी ब्रह्म ही हैं, प्रकृति नहीं, क्योंकि तमके सर्वदा सुप्त रहनेके कारण उसका ब्रह्मके साथ साम्य है। 'किमावरीवः'—इस श्रुतिमें भी विकल्परूपमें ब्रह्मका ही निरूपण किया गया है। "किस पदार्थको ढकें और किसके सुखार्थ ढकें"—इस श्रुतिमें प्रकृतिके कारण रूपमें होनेका निषेध हुआ है। इसका कारण है कि प्रकृतिको कार्यका आश्रय कहनेका प्रयोजन हो नहीं सकता, क्योंकि कार्यसे प्रकृतिका अस्तित्व माना गया है। जब कार्य ही पहले नहीं

है तब प्रकृति कहाँसे आयी? जो कार्यसे ही अनुमान की जाती है, वह कार्यके पूर्वमें नहीं हो सकती है।

अन्य-अन्य जितने भी वचन (प्रमाण) हैं, वे सब भी ब्रह्मको ही कारणरूपमें निरूपण करते हैं, इसलिए वे वचन (प्रमाण) सृष्टिसे पहले एकरूपसे रहनेवाले ब्रह्मकी सत्तामें बाधक नहीं हो सकते। सृष्टिसे पहले एक भगवान् ही थे—यह सिद्धान्त श्रुतिसिद्ध है, इसलिए उस समय अन्य पदार्थोंका मूल श्लोकमें निषेध हुआ है—'नान्यत्' अर्थात् भगवान्से अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं था। यद्यपि वेदमें सत् और असत्का निरूपण किया गया है, तथापि वह भगवान्से पृथक् नहीं था, किन्तु ब्रह्मरूप ही था। अतएव कहा गया है 'सदसत्परम्' अर्थात् सत् और असत्—इन दोनोंसे 'पर' अर्थात् श्रेष्ठ काल आदि भी ब्रह्मसे पृथक् नहीं था, ब्रह्मके अतिरिक्त कुछ नहीं था। जो कुछ था, वह मैं ही था—यह सिद्ध हुआ।

यदि कहो कि "कुछ नहीं था"—ऐसा कहनेसे सृष्टिसे पहले अभावका होना मानना पड़ेगा? इसके उत्तरमें कहते हैं कि वेद, वेदान्तके सिद्धान्तके अनुसार तिरोभावसे पृथक् रूपमें अभाव कोई पदार्थ है ही नहीं। यदि कहो कि तिरोभाव ही सही, अतः तिरोभावको सृष्टिके पूर्व मानना पड़ेगा, इसके उत्तरमें कहते हैं कि आविर्भाव और तिरोभाव उस ब्रह्मकी ही शक्ति हैं और 'पूर्ववद्वा' इस न्याय (अधिकरण) से यह सूचित हो रहा है कि ब्रह्मकी शक्ति और ब्रह्मके धर्म भी सृष्टिसे पहले निकले नहीं थे। 'पहले' कहनेसे कालकी जिस सत्ताका बोध होता है, वह भी निरूपणसमयके कालको लेकर ही समझानेके लिए कही गयी है। कालकी सृष्टि भी प्रकृतिकी तरह अवान्तर (मध्यवर्ती) सृष्टि है, इसलिए अब यह विवादरहित सिद्ध हुआ कि सृष्टिसे पहले केवल भगवान् ही थे।

अब सृष्टिकी अवस्थामें इस जगत्का क्या स्वरूप है? इसके उत्तरमें कहते हैं—'पश्चादहं' अर्थात् सृष्टि होनेके बाद भी मैं ही हूँ। यह सम्पूर्ण जगत् मेरा स्वरूप है। मेरा स्वरूप ही सब कुछ होनेका सामर्थ्य रखता है, इसलिए सबसे पहले चेष्टा रूपसे कालका आविर्भाव हुआ। फिर मेरे उस स्वरूपका ही सत्, चित् आदि गुण

रूपसे, मोहिनी प्रकृति आदि शक्ति रूपसे और फिर इस विद्यमान जगत् (कार्य) रूपसे प्रादुर्भाव हुआ। यह विषय "उस भगवान्ने अपने स्वरूपको ही विविध रूपोंमें प्रकट किया"—इस श्रुतिवचनमें कहा गया है। असत् पदार्थकी कभी भी सत्ता नहीं होती है। खरगोशके सींग होना असत् है, वह कभी भी सत्य नहीं हो सकता, इसलिए "भगवान् ही यह जगत् आदि सब कुछ हो जाते हैं"—यह विचार ठीक है। "यदेतच्च अर्थात् यह दृश्यमान् जगत् भी मैं ही हूँ", 'च' कारके प्रयोगसे जो अव्यक्त है और अप्रसिद्ध होनेके कारण जो रह गया है, उसको भी लिया गया है, अर्थात् वह सब कुछ भी मैं ही हूँ। इसमें जीव भी गिना गया है। 'त्वमेतच्च'—ऐसा पाठ होनेसे जीव-जड़ रूपी समस्त जगत् ही मैं हूँ, ऐसा समझना होगा। यह मुख्य ब्रह्मवाद है।

यदि प्रश्न हो कि पदार्थोंकी स्थिति और शब्द प्रमाणमें विरोध होनेसे शब्द किस प्रकारसे प्रमाणिक हो सकता है? इसलिए 'अहमेवासमेवाग्रे'—यह शब्द-प्रमाण भी प्रमाण नहीं हो सकेगा। अर्थात् श्रीभगवान् सर्व दोषोंसे रहित हैं और जगत्के अन्तर्गत विकार आदि दोष हैं। जगत्को भगवान् माननेसे भगवान्में दोष उपस्थित होगा। दूसरी आपत्ति यह होगी कि जब सर्व अर्थात् निसंकोच रूपसे सम्पूर्ण विश्वको ब्रह्म माना जायेगा तब उपदेश देने योग्य कोई नहीं रहेगा। अतः जब सब भगवान् हो जायेंगे और जब उपदेशक ही नहीं रहेगा तब शास्त्रकी भी अपेक्षा न रहनेके कारण शास्त्रका नाश हो जायेगा। प्रयोजनके अभावमें हित न करनेका दोष भी सर्वत्र फैल जायेगा। सभी भगवान् हो जायेंगे तो कोई एक पुरुषोत्तम नहीं रहेगा। इसलिए अनेक दोषोंसे दूषित होनेके कारण यह ब्रह्मवाद मानने योग्य नहीं है।

इस प्रकारकी आशङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि जहाँ मनुष्यका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं पहुँचता हो, वहाँ श्रुतिके कथनानुसार ही पदार्थोंकी व्यवस्था मानना उचित है। वेदके "तदे जति तन्नेजति" आदि वचनोंमें एक ही ब्रह्ममें परस्पर विरुद्ध धर्म कहे गये हैं, इसलिए वेदानुयायीको एक ही धर्ममें विरुद्ध धर्मको भी मानना चाहिये, क्योंकि वे दोनों धर्म वेद द्वारा ही कथित हुए हैं। अनुकूल धर्म मुख्य है और विरुद्ध धर्म गौण है। अपनी बुद्धिसे की गयी व्यवस्था प्रमाण नहीं हो सकती,

क्योंकि प्रत्यक्ष-गम्य विषयमें ही मनुष्य-बुद्धिकी व्यवस्था चल सकती है। ब्रह्म और ब्रह्मके धर्म प्रत्यक्ष गोचर नहीं हैं, इसलिए इस विषयमें गौण और मुख्य भावका विचार कौन कर सकता है? ब्रह्मके विषयमें विचार करनेवालोंकी बुद्धि सर्वदा वेदके वाक्योंका ही आश्रय लेगी।

यदि कहो कि 'उदिते जुहोति', 'अनुदिते जुहोति', 'अतिरात्रे षोड़शिनं गृह्णाति', 'नातिरात्रे षोड़शिनं गृह्णाति'—इन विरुद्ध वाक्योंकी जैसे शाखान्तर कर्म मानकर व्यवस्था कर दी गयी है, उसी प्रकार इस विषयमें भी इन सब वाक्योंको उपासनापरक मानकर प्रमाणके समान मान लिया जाय, विरुद्ध धर्म क्यों माना जाय? इसके उत्तरमें कहते हैं कि इन वचनोंको उपासनापरक मानकर भी विरुद्ध धर्मोंको मिथ्या या उपाधिरूपमें नहीं मान सकते, क्योंकि वेदने उन्हें विशेषकर ब्रह्म और सत्य माना है। विरुद्ध धर्मोंको उपाधिरूपमें मान लेनेसे अथवा कल्पित मान लेनेसे श्रुतियाँ अप्रमाणिक हो जाती हैं और उपाधिको ब्रह्मसे पृथक् माननेसे द्वैत मानना हो जायेगा।

यदि उपाधिको मिथ्या मानें तो फिर वे विरुद्ध धर्म ब्रह्ममें ही स्थित मानने होंगे। इसलिए श्रुतिको ही स्वतन्त्र प्रमाण मानकर व्यवस्था करना उचित है। 'नातिरात्रे' आदि पूर्वोक्त विरुद्ध श्रुतियोंको ही बलवत् प्रमाण मानकर जैसे शाखान्तर विकल्प पक्ष माना गया है और व्यवस्था की गयी है, उसी प्रकार यहाँ भी 'तदेजति' आदि वेदवाक्योंको स्वतन्त्र प्रमाण मानकर ब्रह्मको समस्त विरुद्ध धर्मोंका आश्रय मानना ही पड़ेगा। मनुष्यके देहमें विद्यमान हस्तादि प्रत्येक अङ्ग परस्पर विरुद्धरूपमें वर्त्तमान हैं, तथापि प्रत्यक्ष बलसे उसे एक मनुष्य मानना ही पड़ता है। उसी प्रकारसे श्रुतिके बलसे ब्रह्मको भी विरुद्ध धर्मोंका आश्रय मानना उचित है। भगवान् अपने (भगवान्के) रूपमें अवस्थित होकर भी जगद्रूप होते हैं—यह ठीक है, क्योंकि श्रुतिके अनुसार जिस विचारसे किसी भी उचित वचनका विरोध न हो और सबका समन्वय हो, वैसे विचारको ही विचार कहा जाता है। 'यः सर्वशक्ति' आदि वचनोंमें श्रीभगवान्को सर्वसमर्थ कहा गया है। यह सर्वशक्तित्व ही श्रौत मीमांसा है। श्रीभगवान्को सर्वशक्तिसम्पन्न

मान लेनेमें सभी विरुद्ध वाक्यों और धर्मोंकी व्यवस्था अपने आप हो जाती है।

ब्रह्मके स्वरूपोंमें जो कुछ अन्यथा प्रतीत होता है, अर्थात् जो कुछ ऊँचा-नीचा भेदभाव प्रतीत होता है, वह सब प्रतीति ब्रह्म ही है। उसे दिखलानेवाले भी भगवान् श्रीहरि ही हैं, क्योंकि श्रीहरिका स्वरूप ही ऐसा है। हमें हमारी दृष्टिसे इस जगत्में जो कुछ दूषण अथवा दूषित पदार्थ प्रतीत होते हैं, वह सभी स्वयंभगवान् श्रीहरि ही हैं। ऐसा होनेपर भी वह निर्दोष और सर्वसमर्थ हैं।

जितने विरुद्ध पक्ष हैं, वे सब इस परब्रह्ममें शोभित हैं। इससे सब कुछ ही सुन्दर हो जाता है। इस प्रकार उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तीनों अवस्थाओंमें एक ब्रह्म ही हैं। इस ब्रह्मवादको सिद्ध करके अब कहते हैं कि "योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्" अर्थात् तीनों अवस्थाओंके अनन्तर जो बाकी रहता है, वह भी मैं ही हूँ।

प्रकटित सभी विषय तिरोभावको प्राप्त होते हैं। परन्तु जो तिरोभाव नहीं होते अथवा तिरोभाव जिनके आश्रयमें है अथवा तिरोभाव जिनका अंशभेद है, वह भी मैं ही हूँ। इससे सभी क्रियाएँ और उनका विषय भी मैं ही हूँ—यह ज्ञापित हो रहा है॥३२॥

तथ्य—

ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत् किञ्चन मिषत्। स ऐक्षत लोकान्नु सृजा।

(ऐतरेय उ॰ १/१)

इस विश्व-सृष्टिके पहले एक परमात्मा ही थे, अर्थात् सभी कुछ भगवान्‌के साथ एकीभूत (मिलित) था। उस समय बहिरङ्गा मायाशक्ति और तटस्था नामक जीवशक्ति परमात्मामें ही लीन थी और चित्-शक्ति सदा एकभावसे अर्थात् नित्य रूपमें ही लीला सम्पादन कर रही थी। बाह्य क्रियायुक्त अन्य कुछ भी नहीं था। अतएव उन सर्वज्ञ परमात्माने अनादि-बहिर्मुख जीवोंके भोगादिके लिए स्वर्गादि लोकोंकी सृष्टि करनेका विचार किया।

अहमेकः प्रथममासं वर्त्तामि च भविष्यामि।

(अथर्वशिखा)

एकमात्र मैं ही पहले था, इस समय हूँ और बादमें भी रहूँगा।

आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः, सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत्, सोऽहमस्मीत्यग्रे व्यहरत्।

(बृ॰ आ॰ उ॰ १/४/१)

इस विश्वकी सृष्टिके पूर्व एकमात्र परमात्मा ही थे। वे पुरुषाकारमें अवस्थित थे। उन पुरुषने निरन्तर देखनेपर भी अपनेसे अतिरिक्त अन्य किसी वस्तुको नहीं देखा। तब उन्होंने सबसे पहले "मैं ही हूँ"—इस वाक्यका उच्चारण किया।

ॐ अथ पुरुषो वै नारायणोऽकामयत ततः प्रजासृजेयेति प्रजा सृजेयेरन्। नारायणाद् ब्रह्मा जायते। नारायणादिन्द्रा जायन्ते नारायणाद्-द्वादशादित्या रुद्राः सर्वा देवता सर्वे ऋषयः सर्वाणि भूतानि नारायणादेव समुत्पद्यन्ते नारायणे प्रलीयन्ते। अथ नित्ये देव एको नारायणो ब्रह्मा च नारायणः शिवश्च नारायणः शत्रुश्च नारायणः सर्वे ऋषयश्च नारायणः अधश्च नारायणः ऊर्ध्वश्च नारायणः मूर्त्तामूर्त्तश्च नारायणः अन्तर्बहिश्च नारायणः। नारायणः एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्॥

(नारायणोपनिषत् १-२)

भगवान् श्रीनारायण निश्चय ही सबके शरीरमें शयन करनेवाले अन्तर्यामी आत्मा हैं। तत्पश्चात् उन्होंने संकल्प किया—"मैं जीवोंकी सृष्टि करूँ।" इसलिए उन्होंने सबकी सृष्टि की। श्रीनारायणसे ही ब्रह्मा, इन्द्र और बारह आदित्य उत्पन्न हुए हैं। ग्यारह रुद्र, समस्त देवता और ऋषि तथा सभी प्राणी भी श्रीनारायणसे ही उत्पन्न होते हैं, श्रीनारायणसे ही प्रेरित होकर ये अपने-अपने कार्योंमें प्रवृत्त होते हैं और श्रीनारायणमें ही लीन हो जाते हैं।

एक भगवान् श्रीनारायणकी ही नित्यता है। ब्रह्मा नारायण हैं। शिव भी नारायण हैं। इन्द्र भी नारायण हैं। सभी ऋषि भी नारायण

हैं। नीचे भी नारायण हैं। ऊपर भी नारायण हैं। जो कुछ मूर्त्त (अर्थात् रूप धारण किया हुआ है) और अमूर्त्त (अर्थात् रूप धारण नहीं किया हुआ है) है, सभी कुछ नारायण है। भीतर और बाहर भी नारायण हैं। जो कुछ हो चुका है तथा जो कुछ हो रहा है और होनेवाला है, वह सब भगवान् श्रीनारायण ही हैं।

अहमादिर्हि देवानां महर्षीणाञ्च सर्वशः॥
(श्रीगी॰ १०/२)

सभी प्रकारसे मैं ही देवताओं और महर्षियोंका आदि कारण हूँ।

यो मामजानादिञ्च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमुढः स मर्त्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
(श्रीगी॰ १०/३)

जो मुझे अनादि, जन्मरहित और सभी लोकोंके महेश्वरके रूपमें जानते हैं, वे मनुष्योंमें मोहशून्य होकर सभी पापोंसे विमुक्त हो जाते हैं।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते।
इति मत्त्वा भजन्ते मां वुधा भावसमन्विताः॥
(श्रीगी॰ १०/८)

मैं सबकी उत्पत्तिका कारण हूँ, मुझसे ही सभी कार्यमें प्रवृत्त होते हैं—इस प्रकार समझकर बुद्धिमान व्यक्ति भावयुक्त होकर मेरा भजन करते हैं।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यञ्च भूतानामन्त एव च॥
(श्रीगी॰ १०/२०)

हे गुड़ाकेश! मैं सभी जीवोंके हृदयमें स्थित अन्तर्यामी हूँ तथा मैं ही सभी जीवोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका कारण हूँ॥३२॥

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर 'प्रभुपाद'

'वस्तु' के परिचयके लिए हम देश और कालकी सहायता ग्रहण करते हैं। जिस पात्रका निर्देश करना होता है, दिशा, देश तथा कालके भीतर (अनुसार) उसकी कहाँ अवस्थिति है, इसका निरूपण करना आवश्यक होता है। भगवत्-वस्तु किस कालमें उदित हुई, कितने दिन विद्यमान रही और वह किस कालमें अप्रकट हुई आदिको कालका आश्रय लेकर जाननेकी चेष्टा की जाती है। काल ही वर्त्तमानके पूर्व 'भूत'काल और वर्त्तमानके पश्चात् 'भावी'काल कहलाता है। भूत-वर्त्तमान-भविष्य—यह तीन प्रकारका विभाग साधारणतः हमारी धारणाका विषय होता है। प्रारम्भ, स्थिति और लय—प्रकृतिके तीन प्रकारके गुणोंकी क्रिया है। रजोगुणसे प्रारम्भ, सत्त्वगुणसे स्थिति तथा तमोगुणसे विनाश या लय होता है।

'खण्ड'कालका अति सूक्ष्मांश निमेष है, जो काष्ठा और पल आदि द्वारा मापा जाता है। विपल, पल आदि सूक्ष्मकालसे दण्ड, अहः(दिन)-रात्रि, मास, वर्ष, युग, महायुग, कल्प, परार्द्ध आदि उत्तरोत्तर बृहत् खण्डकालका परिमाण किया जाता है। भगवत्-वस्तुको जब खण्डकालके अन्तर्गत परिमित किया जाता है, तब वह प्रकृतिके अधीन वस्तु-विशेषमें परिणत हो जाती है। किन्तु भगवत्-वस्तु प्राकृत नहीं है, अतएव खण्डकालके अधीन उसका जन्म, स्थिति और विनाश नहीं हो सकता। प्राकृत दृश्य जगत्की वस्तुओंके अन्यतम (श्रेष्ठतम) ज्ञानसे जीवके द्वारा भगवान्को मायिक वस्तु मान लेना एक नैसर्गिकी प्रवृत्ति है। हरि-विमुख जगत्का ऐसा ही स्वभाव होता है। कृष्णोन्मुख होनेपर जीवका यह प्रतिकूल स्वभाव दूर हो जाता है तथा वह श्रीभगवान्को कालके अधीन नहीं, बल्कि स्वतन्त्र समझने लगता है। श्रीभगवान् ब्रह्माजीको अपना स्वरूप बतलाते हुए कह रहे हैं—"मैं काल-प्रतीतिके उदित होनेसे पहलेसे ही अवस्थित था; काल-विचारसे वर्त्तमान कालमें मैं हूँ और काल-विचारके बीत जानेपर जो कुछ रह जायेगा—वह भी मैं ही हूँ। मैं काल द्वारा परिच्छिन्न, मायिक, नश्वर वस्तु-विशेष नहीं हूँ। मैं निर्विशेषवादियोंकी

धारणाके उपयोगी अखण्ड कालमात्र नहीं हूँ, मैं कालका भी आश्रय हूँ। काल मुझे सीमित करके मायिक-वस्तु-विशेषमें परिणत करनेमें असमर्थ है, क्योंकि काल-धर्ममें मैंने उस शक्तिको अर्पण नहीं किया। 'मैं जो हूँ'—उसमें कालधर्म मेरा छेदन नहीं कर सकता।"

'दिक्' (दिशा) से देश निरूपित होता है। पूर्व और उसके विपरीत पश्चात्, दिक्-निरूपणके आदि विभाग हैं। सम्मुख, प्राक्, अग्र आदि धारणाके द्वारा पूर्व दिशा निरूपित होती है तथा उसके विपरीत अथवा प्रतिकूल वृत्ति पश्चिम दिशामें अधिष्ठित है। प्राक् (पूर्व) और पश्चिम दिशाओंका विभाग हो जानेपर ही दक्षिण और उत्तर दिशाओंका परिचय आवश्यक है। दक्षिणको प्राथमिक-ज्ञानमें निरूपण करते हुए तत्पश्चात् उत्तरकी धारणा होती है। कालगत विचार देश-निरूपणकी भाषामें न्यूनाधिक आश्रय करता है। प्राक्, पश्चात्, दक्षिण, उत्तर आदिके साथ कालगत धारणा सम्बन्धविशिष्ट है। पूर्व और दक्षिण जैसी दो दिशाओंके बीचमें स्थित प्रदेश 'विदिक्' नामसे प्रसिद्ध है। अतः पूर्वकथित चार दिशाओंके अन्तर्वती बीचकी दिशाएँ—चार विदिशाओंके नामसे प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार दिशा और विदिशाओंकी संख्या आठ है। इसके अतिरिक्त देशकी धारणामें 'ऊर्ध्व' (उच्च) और 'अधः' (निम्न) देश विचारसे दिशाओंकी संख्या साधारणतः दस जानी जाती है।

खण्ड अवकाश (स्थान) के अणुत्व विचारसे त्रसरेणु (अर्थात् सूर्यकी किरणमें व्याप्त परमाणुका छठवाँ अंश—hexatom), रेणु (८ त्रसरेणु), यव आदि संज्ञाएँ मानव-धारणाकी सहायता करती है। यह अणुप्रदेश उत्तरोत्तर वितस्ति, क्रोश, योजन आदि संख्यागत भावोंका आलम्बन करके वृद्धि प्राप्त करता हुआ सान्तसे परार्द्धके बीच जाकर अनन्तमें प्रविष्ट हो जाता है। दिशाओंकी धारणा त्रसरेणु-योजनादिके समान नहीं है। परिमाणका अवकाश प्रदान करनेके कारण देशको 'आकाश' कहा जाता है। यह आकाश ही देशगत परिमितिमें आबद्ध है। दिशाओंका संख्यागत परिमाण साधारणतः चार भागोंमें विभक्त है और इनमेंसे प्रत्येकके तीन भाग किये जायें तो बारह भाग होते हैं। इन बारह भागोंमें वृत्तको विभक्त करनेपर वह 'चक्राकार' निर्दिष्ट होता

है। चक्रका संस्थान ही उत्तरोत्तर वर्द्धित होता हुआ क्षितिज वृत्त (जहाँ आकाश और पृथ्वी मिले हुए दिखायी देते हैं) तक पहुँचता है, जहाँ द्रष्टाकी सीमा लक्षित होती है। आकाश अनन्त है और इस अनन्तत्वका विचार करते हुए वृत्त-व्यासार्द्ध स्थूलभावसे २२/७ होनेपर भी अनन्त सम्बन्धमें २१/७ भागके बदले जहाँ २२ अनन्त है, वहीं ७ का परिमाण भी अनन्त है।

देश-विचारसे भगवत्-धाम, भगवत्-शरीर आदिको मापनेका कौतुहल उपस्थित होनेपर कोई सान्त (सीमित) वस्तुको और कोई अनन्त (असीम) वस्तुको भगवत्ता कहकर निर्दिष्ट करते हैं। प्रकृतिके अन्तरालमें जो सान्त और अनन्त निहित हैं, उनके द्वारा भगवत्-वस्तु वैकुण्ठमें होनेपर उसी रूपमें परिमित होनेके योग्य नहीं है। श्रीभगवान्‌का आधार प्राकृत दिशा और देशके समान इन्द्रियोंके द्वारा ग्राह्य वस्तु नहीं है। इन्द्रियाँ जिस वस्तुको ग्रहण कर सकती हैं, वही 'सत्' शब्द वाच्य है और जिसे ग्रहण करनेमें असमर्थ हैं, उसे 'असत्' रूपमें धारणा करती हैं। श्रीभगवान् प्राकृत इन्द्रियोंके द्वारा ग्राह्य अथवा प्राकृत इन्द्रियोंके द्वारा अग्राह्य निर्विशेष वस्तु विशेष नहीं हैं। वे इनसे भी श्रेष्ठ वस्तु हैं। उन्हींसे ही इन्द्रिय-ज्ञानसे जानी गयीं वस्तुओंका कर्म-सत्तागत अधिष्ठान हुआ है। इसीलिए इन्द्रियाँ समस्त कारणोंके कारण—वस्तुकी अवज्ञा करके अपना-अपना पृथक् अस्तित्त्व स्थापन करनेमें असमर्थ हैं। इन्द्रिय-ग्राह्य 'सत्' अथवा 'असत्' वस्तु भगवान् नहीं हैं तथा वह वस्तु भगवान्‌से स्वतन्त्र भी नहीं हैं। वे भगवत्-वस्तु भी नहीं हैं, भगवत्-वस्तुसे उनका स्वतन्त्र अस्तित्त्व भी नहीं है। इन्द्रिय-ज्ञानमें युगपत् विरुद्ध धर्मोंको स्थान प्राप्त नहीं होता। अतः प्राकृत जगत्‌में भगवत्-वस्तुको मात्र प्राकृत मान लेना सङ्गत नहीं है और प्राकृत वस्तुमात्रका ही भगवान्‌के साथ सम्बन्ध नहीं है—ऐसी विवेचना करना भी उचित नहीं है। इसीलिए श्रीभगवान्‌ने ब्रह्माजीको उपदेश दिया—समस्त दिशाओं-देशोंके आश्रय भगवान् दिशाओं और देशों द्वारा परिच्छिन्न नहीं हैं। समस्त काल-देशका अपरिछेद्यत्व बतलानेके लिए ही जिस पात्रका 'यावत्व' (जितनी आवश्यकता) कथित हुआ है, उसका उपदेश करनेके लिए ही 'अहमेव' श्लोककी प्रवृत्ति हुई है।

निर्विशेषवादी जिस 'ब्रह्म' शब्दमें चेतनकी पूर्णताका आरोप करते हैं, वे ब्रह्मवादी ही पूर्णताका आरोप करने जाकर चेतनके वैशिष्ट्यको ही ध्वंस कर देते हैं। अद्वयज्ञानका वैशिष्ट्य परित्यक्त होनेसे केवलाद्वैत-विचार ही अवशिष्ट रहता है। केवलाद्वैतवादी जड़जगत्में द्वैतके परिचयका निरूपण करते हुए सम्पूर्ण भेदोंको निषेध करनेके तात्पर्यमें प्रवृत्त होकर निर्विशेषको ही भेद-विरुद्ध अद्वयज्ञान मान लेते हैं। किन्तु वे एक बार भी विचार नहीं करते कि वैसा भेदरहित अद्वयज्ञान इस भेद-जगत्का ही एक प्रकारसे भेदमात्र है—वह वास्तविक अद्वयज्ञान नहीं है। विशेषरहित होते ही जो अवस्था प्राप्त होती है, वह भी विशेष-वैशिष्ट्यकी अन्यतम अवस्था है। इसलिए निर्विशेषवादके उद्देश्यने कहाँ तक सफलता प्राप्त की है, इसे कुतर्कमें रत तथा-कथित अद्वैतवादी अपनी भ्रान्त द्वैत-प्रतीतिके द्वारा ही उसकी अकर्मण्यता (व्यर्थता) को समझ सकते हैं।

इस परिदृश्यमान जगत्में काल और आकाशकी अखण्ड प्रतीतिके समान विशेषरहित (निर्विशेष) होनेपर अथवा विचित्रता-ज्ञापक भावका त्याग करनेपर वे भी देश-कालकी भाँति तृतीय (वस्तु) पात्रके रूपमें निर्दिष्ट होते हैं। जड़ीय देश, काल और पात्र प्रकृतिसे पुष्ट जड़द्रव्यविशेष हैं। अतः जो वस्तु स्वतः इच्छासे प्रेरित होकर अपना ही अधिष्ठान स्थापन करनेमें समर्थ नहीं है, वह जड़द्रव्यविशेष अचित् पदार्थ है अथवा जड़के समान उसकी अस्मिता (अहङ्कार) की धारणा नहीं है। प्रकृति सम्पूर्ण जगत्की एकमात्र प्रसूति (पैदा करनेवाली) होनेके कारण वह भी अद्वयज्ञानके अधिष्ठानमें अपने अपनत्वको स्थिर करके उसके विषयमें बतलानेमें असमर्थ है, इसलिए उसे अचित् प्रकृति कहा जाता है। चित्-प्रकृतिके अधिनायक-सूत्रसे श्रीचैतन्यदेव 'मैं' शब्दके द्वारा अपना परिचय दे सकते हैं। वे श्रीचैतन्यदेव ही अपनी कृष्णलीलामें अथवा अन्यान्य भगवत्-लीलाओंमें जब 'मैं' शब्दका प्रयोग करते हैं, उसके द्वारा उन्हें अचित्-वस्तुमात्र और अद्वयज्ञानके अतिरिक्त वस्तुके रूपमें नहीं माना जा सकता।

प्रस्तुत श्लोकमें जो 'अहम्' शब्दका प्रयोग है, वह स्पष्ट करता है कि उस 'अहम्' पदके वक्ता 'मूर्त्त' अथवा 'रूपविशिष्ट' हैं। 'मूर्त्त'

कहनेसे ही वे प्रकृतिके अन्तर्गत नश्वर रूपविशिष्ट इन्द्रिय-ग्राह्य दृश्य पदार्थमात्र नहीं हैं। वे अधोक्षज मूर्त्त हैं, अक्षज (इन्द्रिय-ग्राह्य) मूर्त्तके साथ समस्त विषयोंमें उनका सादृश्य रहनेपर भी वे अक्षज मूर्त्तमात्र ही नहीं, अपितु नित्य मूर्त्त हैं। तथा काल द्वारा क्षुब्ध, अनित्य, अमूर्त्त देशावच्छिन्न खण्डित वस्तुके साथ युगपत् (एक-साथ) विलक्षण धर्म-विशिष्ट हैं। इसीलिए प्रस्तुत श्लोकमें सभी आकारों तथा सभी अङ्गोंके अङ्गी स्वरूप भागवान्का जो रूप निर्दिष्ट हुआ है, वह सीमित जड़ रूपसे विलक्षण है—इसीको बतलानेके लिए ही उनका सविशेष रूप कथित हुआ है। वे भगवान् सभीके आश्रय होनेके कारण प्राकृत-गुण विशेषसे पृथक् होकर अनन्तगुण विशिष्ट हैं। वे अनन्त रूपोंके रूपी और अनन्त गुणोंके गुणी वस्तु हैं। वे अनन्त नश्वर कर्मोंके कर्त्तासे विलक्षण होकर आत्म-कर्मके ही कर्त्ता हैं। उनकी अहंता, उनकी संज्ञा (नाम), उनका रूप, गुण और लीला अन्यान्य साधारण वृत्ति-विशेषके समान दिखलायी देनेपर भी वे प्राकृत धारणासे विलक्षण हैं। उनकी ऐसी विलक्षणताका निर्देश अक्षज मायिक-वृत्तिके द्वारा असम्भव है।

अतः माया क्या वस्तु है और उस एक (अद्वितीय) वस्तुके साथ मायाका क्या सम्बन्ध है—इसे बतलाकर उस एक वस्तुके साथ वस्तुकी मायाके वैशिष्ट्यको स्थापन करनेके लिए ही 'ऋतेऽर्थं' श्लोककी अवतारणा हुई है। मायिक धारणामें उपलब्ध क्रियाके विपरीत अधोक्षज धर्म है और उस धर्ममें अधिष्ठित 'अहम्' वस्तु वैकुण्ठ है। अहम् अथवा वैकुण्ठके अतिरिक्त अन्य धारणा कुण्ठा, माया और प्राकृत है। मायिक धर्मके विस्तारसे पूर्णा प्रकृति द्वारा पूर्णपुरुषकी अनुभूतिको ग्रास करनेपर ही माया-मोहित जीव पूर्णवस्तुके दर्शनसे वञ्चित हो जाता है। मायाका भोक्ता जीव जिस प्राकृत 'अहम्' ज्ञानसे विमूढ़ रहता है, वह उसके अपने 'अहं' की जड़भोग कामना है, इसीलिए वह जीव अहङ्कार-तत्त्वके रूपमें स्वयंको निर्दिष्ट कर डालता है। स्वरूप-विस्मृतिके फलसे ही जीव अपनेको तटस्था नामक मायाशक्तिसे श्रेष्ठ न जानकर स्वयंको मायिक विचारसे शक्तिमान बननेकी दुराशाका पोषण करते हैं। यह उनकी अपने

विषयमें गौण प्रतीति-मात्र है। शक्तिमानकी शक्ति, परमात्माकी आत्मा आदि शुद्ध-धारणासे रहित होनेपर ही जीव तमो-गुण द्वारा आच्छादित होकर गौण प्रतीतिके लिए बाध्य होते हैं। उस समय भगवत्ताका स्वरूप, तद्रूपवैभव, जीव और प्रधान—इन चार प्रकारके भेदाधिष्ठानोंमें युगपत् अभेदवादकी अचिन्त्यताको वे समझ नहीं पाते हैं। अचिन्त्यभेदाभेद-तत्त्वके बोधके अभावमें ही जीव मायाबद्ध होकर नाना प्रकारसे कुमार्गी हो जाते हैं। जिससे जीव इस प्रकार पथभ्रष्ट न हों, इसके लिए श्रीभगवान्‌ने ब्रह्माको इन दोनों श्लोकोंमें अपना परिचय और अपनी मायाका परिचय दिया है। जीव-मायाको तटस्था न जानकर केवल 'वैकुण्ठ' के रूपमें ही मानना, पागलोंके प्रलाप-वचनके समान काल्पनिकमात्र है।

'अहं' शब्दवाच्य भगवत्ताके बीचमें स्वरूपादि भेदसे उनके ही जो उक्त चार प्रकारके प्रकाश हैं, उन्हें परस्पर एक ही वृत्तिसे युक्त मानना मायावादियोंका धर्म है।

मायावादी जड़जगत्‌के 'अहं' के साथ अप्राकृत भगवान्‌के 'अहं' को समान मानते हैं। इस प्रकारकी धारणा शुद्ध द्वैत-प्रतीतिके विरुद्ध है। अद्वयज्ञानमें अवस्थित होनेसे वे जड़विचित्र लीलामय भेदाभेद वस्तुकी संकीर्ण चिन्ता-धारासे मुक्त हो जाते हैं। निर्विशेष-ब्रह्म कदापि 'अहं' शब्दसे निर्दिष्ट नहीं हो सकता। 'अहं' शब्दसे निर्दिष्टवस्तु 'त्वं' शब्दवाच्य वस्तु (जीव) और 'तत्' शब्दवाच्य वस्तु (परब्रह्म) से अपने वैशिष्ट्यकी नित्यकाल रक्षा करती है।

अप्राकृत 'अहं' शब्दवाच्य भगवत्ता प्राकृत जगत्‌की वस्तु-विशेष न होनेके कारण जन्म-स्थिति-भङ्गादिके अधीन नहीं है। पूर्वोक्त चिन्मय पात्र कालातीत और अचित्-अनुभवके अतीत अवस्था (क्रिया) है। स्वयंको अचित् अनुभूतिके अतीत ज्ञात करानेके लिए वे अधोक्षज तथा कालातीत रूपमें नित्यकाल अवस्थित हैं, अथवा सनातन हैं। प्राकृत धारणाके अन्तर्गत उनका अधिष्ठान नहीं है, इसलिए वे 'वैकुण्ठ' हैं। उनका अधोक्षजत्व, सनातनत्व तथा वैकुण्ठत्व मायावादियोंके विचारसे उन्हें नित्य ही पृथक् रखता है। निर्विशेषवादी उनके विशेष-धर्मका सब समय अनादर या उपेक्षा नहीं

कर पाते। निर्विशेषवादी कभी तो उनकी सीमित, प्राकृत कल्पित मूर्त्तिको अपनी कामनाकी तृप्तिके लिए कर्त्तृसत्तागत (doer) अधिष्ठान–रहित मान लेते हैं और कभी अज्ञानोपहित (अज्ञानसे युक्त) होकर लोक वञ्चनाके उद्देश्यसे स्वीकार करनेके लिए बाध्य हो जाते हैं। निर्विशेषवादी कभी–कभी कहते हैं कि निर्विशेष–वस्तु अध्यासवशतः (मिथ्या आरोपवशतः) अपने रूपकी कल्पना करके साधकोंका उपकार करती है तथा निर्विशेषकी आड़में ही समस्त जड़विशेष धर्ममें अवस्थित रहती है। यह कथन ही उन जड़ निर्विशेषवादियोंके 'कूप–मण्डूक' धर्मको सिद्ध करता है। ऐसे धर्मको त्यागनेपर ही अनर्थ निवृत्ति होती है और तभी श्रीभगवान्के नित्यस्वरूपकी उपलब्धि की जा सकती है।

श्रीभगवान्का स्वरूप जड़निर्विशेष अथवा जड़सविशेषमात्र नहीं है और न ही काल–देश द्वारा अवच्छिन्न (खण्डित) मायिक वस्तुमात्र ही है। श्रीभगवान् अप्राकृत वस्तु हैं, अतएव प्राकृत कालधर्मका उनमें आरोप नहीं हो सकता तथा प्राकृत सद्धर्म अर्थात् कालाधीन नश्वर अधिष्ठानका भी उनमें आरोप नहीं हो सकता। उनका सविशेष आकार चिदानन्दाकार होनेके कारण उसमें प्राकृत जड़भाव आरोपित नहीं हो सकता। उन्हें कारणरूपमें प्राकृत 'असत्' भी नहीं कहा जा सकता। रूपादि प्राकृत स्थूल आकारमें और अरूपादि प्राकृत निराकारमें भी वे आबद्ध नहीं हैं। वे जड़ाकार और जड़रूपसे अतीत चिन्मय आकारसे युक्त तथा चिद्देशमें अवस्थित हैं। चिद्देशकी समग्रता उनका ही अंशविशेष है। साढ़े तीन हाथ विशिष्ट अप्राकृत चित्–विग्रहके अणुसे ही व्यापक वैकुण्ठ परव्योम प्रकटित है। अचित्–परमाणुकी समष्टि जिस प्रकार अचित् ब्रह्माण्डको प्रकाशित करती है, उस प्रकारके अचित् धर्मका वहाँ आरोप नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार मूढ़की स्वाधीनताका अभाव अनुपादेय राज्यमें विकलता उपस्थित करता है, अविमिश्र चित्में वैसी चित्त–विकलता उपस्थित नहीं होती तथा वैसा होनेका सुयोग भी नहीं है। त्रिगुणतप्त अविद्याग्रस्त जीवका त्रिगुणाधीन दास्य जिस प्रकार हेय होता है, उस प्रकारके हेय–ज्ञानमें भगवत्–दास्यको स्थान प्रदान करनेपर जीवकी

स्वाभाविकी आस्तिक्य-वृत्तिका उदय नहीं होता। बद्धजीवकी धारणामें स्थूल और सूक्ष्मके अतीत समस्त कारणोंके कारण ब्रह्म भगवत्तासे पृथक् नहीं हैं। वह ब्रह्म भगवान्‌का ही असम्यक् प्रकाशमात्र हैं। भगवत्तासे ब्रह्म पृथक् नहीं हैं, किन्तु सत्-असत्‌से ब्रह्म पृथक् हैं। भगवत्तामें ही ब्रह्मकी प्रतिष्ठा है।

'अहं' शब्दसे परमात्माके अन्तराल (बीच) में जीवात्माओंको जानना होगा। विचारकी दृष्टिसे अचित् जगत्‌से जीवात्मा अथवा ब्रह्म चेतन बृहत् हैं। प्रकृति जड़ है। ईश्वर और जीवके चेतन-धर्मयुक्त होनेके कारण वे विजातीय प्रकृतिके परिचयसे स्वतन्त्र-धर्मयुक्त समचेतन धर्मी हैं। एक विभु, परमात्मा और प्रभु हैं और दूसरा अणु, जीवात्मा तथा दास है। एक ही वृक्षमें अधिष्ठित दो पक्षी सेव्य-सेवक भावसे अवस्थित होनेपर उनका नित्य जगत्‌में नित्य अधिष्ठान है, तथा उस धर्मसे च्युत अणुचित् जीवका विजातीयताके कवलमें पतन होनेपर उसकी सेव्य-विमुखता अथवा भोग या कर्ममें प्रवृत्ति हो जाती है। भगवत्-सेवनरूप कर्म अनादि हैं। भगवत्-बहिर्मुखता विनाश योग्य है। सेवोन्मुखता और बहिर्मुखता अद्वय-बुद्धि अर्थात् भक्तिका ही बृहत्व और अणुत्व है।

'अहं' शब्दमें परिकरादि अन्तर्भुक्त हैं। जहाँ 'अहं' शब्द-वाच्य वस्तुकी स्वतन्त्र इच्छाके प्रतिकूल 'अनहं' विचारमें प्रतिपत्ति होती है, वहीं परमात्माधीन जीवात्माकी दुर्वृत्तता (दुश्चरित्रता) अथवा सेवाविमुखता अथवा अनात्म-परिचयकी आकांक्षा दिखलायी देती है। भगवान् और जीव एक-तात्पर्य-पर अद्वय ज्ञानमें अवस्थित हैं, इसलिए जीव कृष्णदास है। कृष्णके दास्यसे विमुखता ही उसे अलगकर उसमें गुणजात जगत्‌में भ्रमण करनेकी इच्छा प्रेरित करती है॥३२॥

श्रीश्रीनिवासाचार्यपाद

अहमेव पूर्वोक्त-महानुभावो गोपालरूपी अग्रे सर्वलोक मुकुटमणौ श्रीगोलोकाख्ये आसमेव श्रीरासलीलया विराजमान एवावतिष्ठम्, असु दीप्तौ अत्र। नान्यदित्यादि—सत् सद्रक्षार्थमसुरवधादि, असत् प्राकृत दर्शनादि, परं निजगृहिणीषु गोपीषु परकीया-भावम्। तदेवं मद्विना (यत् एतच्च) जगदादिसर्वं के कुर्वन्ति?—तत्राह पश्चादहं—सर्वलोकमूले

मूलाधारे सङ्कर्षण-कमठादिरूपेण, योऽवशिष्येत सर्वलोकमध्ये विलास-पुरुष-गुणावतार-लीलावतारावेश-प्रभाव-वैभव-पद्मनाभ-क्षीरोदशायि-प्रभृतयोंशकला मम सर्वं विधास्यन्ति, कार्यकारणयोरभेदात्; परञ्च स्वयम् अहं गोकुले सर्वं करिष्यामीति भावः॥३२॥

भावानुवाद—मैं अर्थात् पूर्वोक्त महानुभाव गोपालरूपी मैं ही पहले सर्वलोक-चूड़ामणि श्रीगोलोक नामक धाममें श्रीरासलीलामें ही विराजमान था। उस समय अन्य कोई 'सत्-असत्परं' कुछ भी कार्य नहीं था। प्रस्तुत श्लोकके 'सत्' शब्दसे साधुजनकी रक्षाके लिए असुर-वध आदि, 'असत्' शब्दसे प्राकृत दर्शनादि तथा 'पर' शब्दसे भगवान्‌की अपनी-प्रियतमा गोपियोंका परकीयाभाव ही ग्रहणीय है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि यदि श्रीहरि सर्वदा ही गोलोकीय रासलीलामें निमग्न रहते हैं, तब जगत् आदिकी सृष्टि-स्थिति-लयका कार्यादि कौन करता है? इसके उत्तरमें कहते हैं—मैं ही समस्त लोकोंके मूल अर्थात् मूलाधार पातालमें सङ्कर्षण-कच्छपादि रूपमें रहकर पृथ्वीको धारण और पोषण करता हूँ। गोलोक और पातालके मध्यवर्ती (बीज) अन्यान्य समस्त लोकोंमें भी मैं ही अपने विलास, पुरुष, गुणावतार, लीलावतार, प्राभव, वैभव, पद्मनाभ, क्षीरोदशायी आदिमें अंश-कला रूपमें अवस्थित होकर समस्त कार्योंका समाधान करता हूँ। तात्पर्य यह है कि वेदान्त-मतमें कार्य और कारणके अभिन्न होनेके कारण विलासादि द्वारा जो कार्य सम्पन्न होते हैं, उनमें भी स्वयंभगवान्‌की ही शक्तिकी प्रेरणा कारण रूपमें रहती है। इसलिए वास्तवमें श्रीभगवान् ही मुख्य कर्त्ता हैं, अन्य सभी गौण अथवा प्रयोज्य-कर्त्ता हैं। इसके अतिरिक्त मैं स्वयं गोकुलमें सब कुछ करता हूँ—यही भाव है॥३२॥

पञ्चम-श्लोक

चतुःश्लोकीके अन्तर्गत द्वितीय श्लोक—पूर्वोक्त भगवत्-ज्ञानको व्यतिरेक रूपमें बतलानेके लिए श्रीभगवान् द्वारा मायाके लक्षणका निरूपण

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाभासो यथा तमः॥

(श्रीमद्भा॰ २/९/३३)

अन्वय

अर्थं ऋते (वास्तव प्रयोजन तत्त्वके अतिरिक्त) यत् (जो कुछ) [भी] प्रतीयेत (प्रतीत होता है) च (और) [सत्तायुक्त होनेपर भी] आत्मनि (मेरे अधिष्ठानमें) न प्रतीयेत (जिसकी प्रतीति नहीं है) तत् आत्मनः (उसे ही मेरी) मायां विद्यात् (माया समझो) [मेरी माया दो प्रकारकी है—] यथा आभासः (जैसा काँचादिमें दो चन्द्रमाओंकी प्रतीति वास्तव अर्थके अतिरिक्त प्रतीति है अथवा आभास स्थानीय जीव-माया) [तथा] यथा तमः (जैसा सत् होनेपर भी जिसकी प्रतीति नहीं होती जैसा कि राहु ग्रह-मण्डलमें रहनेपर भी दिखायी नहीं देता अथवा अन्धकार स्थानीय गुण-माया)॥३३॥

अनुवाद

वास्तव प्रयोजन तत्त्वके अतिरिक्त जो कुछ भी प्रतीत होता है अथवा सत्तायुक्त होनेपर भी मेरे अधिष्ठानमें जिसकी प्रतीति नहीं है, उसे ही मेरी माया समझो। उदाहरण स्वरूप—जिस प्रकार दो चन्द्रमाओंका अधिष्ठान न रहनेपर भी काँचादिमें दो चन्द्रमाओंकी प्रतिछवि दिखायी देती है, अथवा जिस प्रकार राहु ग्रह-मण्डलमें रहनेपर भी दिखायी नहीं देता, उसी प्रकार। भावार्थ यह है कि ज्योतिर्मय वस्तुके दर्शनके समय आभास और

अन्धकारका दर्शन कुछ भी नहीं होता और आभास तथा अन्धकारके दर्शनकालमें ज्योतिर्मय वस्तुका दर्शन भी नहीं होता; तथा आभास और अन्धकारकी कर्तृत्व-सत्तामें ज्योतिर्मय वस्तुके अतिरिक्त स्वतन्त्रता नहीं है। उसी प्रकार भगवान् और उनकी माया हैं। श्रीभगवान् ज्योतिर्मय वस्तु हैं—उनकी माया दो प्रकारकी है—आभास-स्थानीय जीव-माया और तम-स्थानीय गुण-माया। दोनोंके ही श्रीभगवान्के आश्रित होनेपर भी भगवदन्तरङ्ग-प्रतीतिमें जीव और मायाकी प्रतीतिका अभाव है और जीव और मायिक प्रतीतिमें भी भगवत्-प्रतीति नहीं होती है॥३३॥

श्रीभक्तिविनोद ठाकुर

(श्रीभगवान् कहते हैं—)मतवादीगण मेरी अचिन्त्यशक्तिको नहीं समझ पानेके कारण उसके सम्बन्धमें 'अस्ति', 'नास्ति' आदि नाना प्रकारकी जल्पना-कल्पना करते हैं। वह भी मेरा प्रभाव है। एक पराशक्ति माया ही मेरी अचिन्त्यशक्ति है। इसकी दो अवस्थाएँ हैं—स्वरूप-अवस्था और तटस्थ-अवस्था। जगत् सृष्टिमें तटस्थ-अवस्था ही अणु और छाया रूपमें दो प्रकारकी है। अणु-तटस्थाशक्तिको किसी-किसी शास्त्रमें 'जीवशक्ति' कहा गया है, तथापि मैं उसे 'परा प्रकृति' कहता हूँ। छाया तटस्थाशक्ति अचित् मायाशक्तिके नामसे विख्यात है। उसका एक नाम 'बहिरङ्गाशक्ति' भी है। चित् धर्मादिकी प्रकाशक स्वरूपशक्तिको 'चित्-शक्ति' अथवा 'अन्तरङ्गाशक्ति' कहते हैं। 'माया' कहनेसे प्रधानतः मेरी पराशक्तिको समझो। इस मायिक संसारमें स्वरूपशक्तिका परिचय गूढ़ है तथा अचित् मायाशक्तिका परिचय ही व्याप्त है। अतः 'माया' कहनेसे अचिन्माया अर्थात् छाया-तटस्थाशक्तिका ही बोध होता है। मैं मूल मायाशक्तिके विषयमें तुम्हें समझा रहा हूँ। मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा पुरुष हूँ। अट्ठाइस तत्त्वोंमें पुरुष, प्रकृति और अर्थ—ये तीन प्रकारके तत्त्व विभाग हैं। आत्मा और प्रकृतिको छोड़कर सभी छब्बीस तत्त्वोंको ही 'अर्थ' कहते हैं। अर्थको छोड़ दिये जानेपर जो मुझसे (भगवत्-स्वरूपसे) पृथक् चिन्तनीय होता है, तथा आत्म-तत्त्व (भगवान्) में जिसकी स्वरूप-प्रतीति नहीं होती, वही माया है। यद्यपि आत्म-वस्तु तथा मायाको छोड़कर अन्य जो भी

तत्त्व हैं—सभी वस्तुप्राय हैं। किन्तु माया भी वस्तु नहीं है, वस्तु केवल आत्मा या पुरुष हैं और माया उस आत्माकी शक्तिमात्र है। वस्तुमें इस मायाका दो प्रकारका परिचय है—'आभास' इसका प्रथम परिचय है और 'तम' इसका द्वितीय परिचय है। जीव ही शक्तिका आभास परिचय है। चित्-शक्ति अणु-तटस्थ अवस्थामें आभासरूप जीव है, इसलिए उसका चित्-परिचय है। तम अचित्-मायाशक्तिका परिचय है—उसीसे जड़जगत् उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार शक्ति-तत्त्वको जान लेनेपर परब्रह्मस्वरूपके तत्त्वज्ञानका नाम 'विज्ञान' है। (श्रीभागवतार्कमरीचिमाला १०/५)।

पूर्व श्लोकमें परमतत्त्वका स्वरूपज्ञान निर्णीत हुआ है। किन्तु जब तक स्वरूपसे इतर (भिन्न) तत्त्वके ज्ञान द्वारा स्वरूपतत्त्वके ज्ञानको दृढ़ नहीं करते, तब तक वह 'विज्ञान' नहीं होता। स्वरूपतत्त्वसे इतर (भिन्न) तत्त्वका नाम 'माया' है। उसी मायातत्त्वका ज्ञान प्रस्तुत श्लोकमें विस्तृत हुआ है। स्वरूपतत्त्व ही 'अर्थ' अर्थात् यथार्थ तत्त्व है। इस तत्त्वसे बाहर जो प्रतीत होता है और इस स्वरूपतत्त्वमें जिसकी प्रतीति नहीं है, उसीको आत्मतत्त्वका माया-वैभव समझो। सहज ही समझमें न आनेके कारण इसके दो प्रादेशिक उदाहरण दिये जा रहे हैं। स्वरूपतत्त्वको सूर्यके समान समझो। सूर्यसे (भिन्न) तत्त्व दो रूपोंमें प्रतीत होता है—एकरूप आभास और दूसरा रूप तम। सूर्यकी प्रतिच्छवि जलसे अन्य स्थानपर पड़ती है, उसे आभास कहते हैं। सूर्यका प्रभाव जिस दिशामें दिखायी नहीं देता, उसे तम अर्थात् अन्धकार कहते हैं। चित्-जगत् भगवत्-स्वरूप (सूर्य) की किरणस्वरूप है। उसकी सादृश्यताका अवलम्बन (पर निर्भर) करनेवाला आभास-स्वरूप माया-वैभव है—यही आभासका उदाहरण है। चित्-तत्त्वसे सुदूरवर्ती अन्धकार ही माया वैभव है—यह द्वितीय उदाहरण है। तात्पर्य यह है कि आत्मतत्त्व और मायातत्त्वका परस्पर दो प्रकारका सम्बन्ध है। प्रथम सम्बन्ध यह है कि आत्मस्वरूपके अतिरिक्त भिन्न स्वरूपमें जो प्रकाशित होता है, वह माया है और आत्मस्वरूपसे सुदूरवर्ती अनात्म-अज्ञान भी माया है। (श्रीचैतन्यचरितामृत आदि लीला १/५४का अमृतप्रवाह-भाष्य)॥३३॥

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीपाद

किञ्च, जीवस्य परमात्मज्ञान–विज्ञाने प्रति माया खल्वंशेनानुकूला–प्रतिकूला च भवति। विज्ञाते च परमात्मनि मयि योगमायैवाधिकरोति; सा खल्वनुकूलैवेति ते द्वे अवश्यनिरूपनीये इति ज्ञापयन्, *'यथात्ममायायोगेन'* (श्रीमद्भा॰ २/९/२६) इत्यनेन व्यञ्जितस्य तव माया योगमाया च कीदृशी? इति प्रश्नोत्तरं तन्त्रेणैव क्रमेणाह—ऋतेऽर्थमिति। यद्यतः अर्थं सत्यं वस्तु विना न प्रतीयेत, किन्त्वर्थः सत्यं वस्त्वेव प्रतीयेत इत्यर्थः; तथा, यतः अर्थं विना प्रतीयेत—अर्थो न प्रतीयेत, किन्त्वनर्थः प्रतीयेतेत्यर्थः। तत्ताम् आत्मनि स्वस्मिन् मुक्तो–बद्धश्च जीव आत्मनो मम मायां क्रमेण विद्या–अविद्येति वृत्तिद्वयां मायाख्यां शक्तिं विद्यात् जानीयात्। विद्याया दृष्टान्तः—यथाभासो दीपादिप्रकाशः। दीपादिप्रकाशाद्यथा गृहे विद्यमानो घटपटादिरर्थ एव प्रतीयते, न तु दीपानयनात् पूर्वं संभावितो घटपटाद्यभावः तथा सर्पवृश्चिकादिरागन्तुकश्च भयकारणमनर्थः प्रतीयते, एवमेव (एवञ्च) विद्याया हेतोर्मुक्तेन जीवेन स्वस्मिन्नित्यसम्बन्धं ज्ञानादिकमेव प्रतीयते, न त्वविद्यादशायामिव तदभावः, नापि स्वस्मिन्नसम्बन्धो देह–दैहिक–शोकमोहादिकश्च प्रतीयते। अविद्याया दृष्टान्तः—यथा तमोऽन्धकारः। अन्धकाराद्यथा स्वगृहे विद्यमानो घटपटादिरर्थो न प्रतीयते, किन्त्वविद्यमानोऽपि सम्भाव्यमानः सर्पचौरादिको भयकारणमनर्थः प्रतीयते, एवमेवाविद्याया हेतोरेव बद्धेन जीवेन स्वस्मिन् नित्यसम्बन्धितया वर्त्तमानमपि ज्ञानानन्दादिकं न प्रतीयते, किन्तु, स्वस्मिन्नसन्नपि स्वसम्बन्धित्वेन वर्त्तमानो देहदैहिक–शोक–मोहादिरेव प्रतीयते। तेन कुसुमशृङ्गादीनां सत्यत्वेऽपि आकाश–शशादीनां तत्सम्बन्धाभावादेव आकाशकुसुममलीकं शशशृङ्गमलीकमिति यथोच्यते, तथैव देहानां तद्धर्मानां शोकमोहसुखदुःखादीनाञ्च प्राधानिकत्वात् सत्यत्वेऽपि जीवस्य तत्सम्बन्धाभावादेव देहादयो मिथ्याभूता इति शास्त्रेषूच्यते। जीवस्य मिथ्याभूतोऽपि देहसम्बन्धः खल्वविद्यया कल्प्यते, विद्यया लुप्यते इति, विद्याविद्ययोर्दृष्टान्तावाभासतमसी इत्यत्र—*'छायातपौ यत्र न गृध्रपक्षौ'* (श्रीमद्भा॰ ८/५/२७) इत्यष्टमस्कन्ध एव प्रमाणं ज्ञेयम्। केचित्तु—'तमोदृष्टान्तोऽयमावरणांश एव, आवरणविक्षेपयोस्तु दृष्टान्ताः सर्पव्याघ्रभूतावेशाद्या ज्ञेयाः' इत्याहुः, तेऽपि तामसत्वात्तमःशब्देनैव ग्राह्या इत्यपरे। एवं जीवे सार्वदिक्विद्यमानवस्तुप्रत्यायनमविद्यमानवस्त्वप्रत्यायनं चेत्यविद्याया धर्मावरण–विक्षेपशब्दाभ्यामुच्यते। अथार्थशब्दस्य धनवाचित्वात् श्लेषेण भाग्यप्राप्तस्वीयबहुधनो वणिगिव विद्यालब्धज्ञानानन्दो मुक्तः सम्पन्नत्वेन निरूप्यते, तथा अभाग्यानधिगतस्वीयधनो वणिगिवाविद्यावृतज्ञानानन्दो बद्धजीवो दरिद्रत्वेनेति ज्ञेयम्। एवं विद्याया त्वं–पदार्थस्य जीवात्मनोऽनुभवो भवति, न तु तत्पदार्थस्य परमात्मनः तस्य निर्गुणत्वान्निर्गुणया भक्त्यैवापरोक्षानुभवः संभवेत्, *'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः'* (श्रीमद्भा॰ ११/१४/२१) इति भगवदुक्तेः। किञ्च, *'कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं'* (श्रीमद्भा॰ ११/२५/२४) इति

भगवदुक्तेः, देहादि-व्यतिरिक्तात्मज्ञानरूपा येयं विद्या, तस्याः सत्त्वगुणत्वादनया गुणातीतस्य परमात्मनो नैवानुभवः, प्रत्युतास्या अप्यपाय एव। यदुक्तं भगवता (श्रीमद्भा॰ ११/२५/३०, ३२)—*'द्रव्यं देशः फलं कालो ज्ञानं कर्म च कारकः। श्रद्धावस्थाकृतिर्निष्ठा त्रैगुण्यः सर्व एव हि। येनेमे निर्जिताः सौम्य, गुणा जीवेन चित्तजाः। भक्तियोगेन मन्निष्ठो मद्भावाय प्रपद्यते॥'* इति। ननु, तर्हि मुक्तजीवेन परमात्मनोऽपरोक्षानुभवार्थं भक्तिः कुतो लभ्यताम्? उच्यते—ज्ञानाधिकारिणः साङ्ख्य-योग-तप-आदिभिर्भक्तिमिश्रैरेव जनितया विद्यया अविद्यानिवर्त्तिकया प्रथमं त्वं-पदार्थानुभवः। ततस्तस्याविद्यातो विमुक्तस्य निरिन्धनाग्निन्यायेन विद्याया अप्युपरमतारतम्येन पूर्वसिद्ध-भक्तिचन्द्रकलायास्तदुपराग-विच्युतायास्तत उद्गमतारतम्यम्। तयैव भक्त्या पुनः पुनरभ्यस्तया तत्पदार्थस्य परमात्मनोऽनुभवतारतम्यम्। यदुक्तं भगवता गीतासु (१८/५४)—*'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति। समः सर्वेषू भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥'* इति। परां पौर्वकालीकगुणीभावराहित्यात् श्रेष्ठां केवलां वा। ततश्च (श्रीगी॰ १८/५५)—*'भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।'* इत्युक्तेर्जातिप्रमाणाभ्यामल्पीयस्या तया भक्त्या निर्विशेष-ब्रह्मण एवानुभव, नत्वनन्त-चिद्विशेषब्रह्मणो भगवतः। यथा—अल्पतेजस्वि-चक्षुष्केण जनेन मणिमयी मूर्त्ति सामान्यतस्तेजोमय्येव दृश्यते, न तु मुखनासिकानेत्रकर्णादिविशेषमयी। ततश्च विद्यायाः सामस्त्येनैवोपरमे सत्युद्भूतनैर्गुण्यस्य तस्य तयैव भक्त्या ब्रह्मानुभवस्यापि पूर्णत्वमेतदेव निर्वाणशब्दवाच्यं जीवब्रह्मैक्यम्। यदुक्तं तत्रैव (श्रीगी॰ १८/५५)—*'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्दरम्॥'* इति। या तु चिच्छक्तिवृत्तीनां सारभूता कृपाविलासरूपा परमोत्तमा शुद्धा भक्तिर्जातिप्रमाणाभ्यामत्यधिका सा प्रबला, परमस्वतन्त्रा, गुणदोषादिकमप्यगणयन्ती, बद्धेऽपि जीवे राक्षसपुलिन्दपुक्कशादौ दूराचारेऽपि यदृच्छयैवोदयते, विप्रे-सन्न्यासिनि-मुक्तेऽपि नोदयते, तयैवाविद्यापर्यन्त-समस्तक्लेश-ध्वंसः। यदुक्तम् (श्रीमद्भा॰ ३/२५/३३)—*'जरयत्याशु या कोषं निगीर्णमनलो यथा'* इति। तयैवानन्तचिद्विशेषस्य भगवतोऽप्यपरोक्षानुभवो भवेत्। यथा—बहुतरतेजस्वि-स्वचक्षुष्केण जनेन सामान्यतस्तेजोमयी विशेषतश्च मुखनासिकानेत्रकर्णादिसौन्दर्यमयी च मुर्त्तिर्भद्रेणैव दृश्यत इति। तदेवं भक्तिर्द्विविधा—निर्गुणा गुणमयी च। तत्राद्यया, पाकदशायां प्रेमभक्तिसंज्ञया भगवद्वशीकारः, सच्चिदानन्दमय भगवद्रूपगुणलीलामाधुर्यानुभवश्च। द्वितीयया, सात्त्विक्या सत्त्वगुणाद्विच्युतयैव निर्विशेषब्रह्मसुखानुभवमात्रमिति। तस्माद्-ब्रह्मसुखानुभव-दशातः पूर्वास्वेव दशासु जीवेषु मायाया अधिकार इति सिद्धम्। 'सत्यमेव प्रतीतं स्याद्यतोऽसत्यं तथा यतः तद्विद्यादात्मनो मायां यथाभासो यथा तमः'—इत्यनुक्तेरित्यन्यस्मिन्नर्थेऽप्याशय ईक्षते। ऋतेऽर्थ-शब्दौ परिवृत्त्यसहावर्पितौ यतः। स चार्थो यथा-ब्रह्मानुभववत्स्वपि जनेषु नानाविधेषु या स्पष्टमधिकरोति भगवदिच्छावशात् त्वदीयस्वरूपरूपगुणलीलाप्रकाशावरण-धुरंधरा स्वरूपभूता शक्तिस्तस्या

योगमायाया अपि लक्षणं तन्त्रेणैवाह—'ऋते' इति, आत्मनि परमात्मनि मयि ऋते ज्ञाते सति, अर्तेर्गत्यर्थत्वेन ज्ञानार्थत्वात् साक्षादनुभूते सतीत्यर्थः।

'यद्'–इति इन् गतौ शत्रन्तं; तत्पदेनैव यत्पदस्याक्षेपात्। यतः अर्थं—यत् प्रयोजनं प्राप्नुवद्वस्तु अप्राकृतं प्राकृतञ्च, प्रतीयेत—यया प्रकाशितं सत् सप्रयोजनं वस्तु परमात्मसाक्षात्कारवता जनेन साक्षादनुभूयेत्यर्थः। यतः सकाशात् न प्रतीयेत च—यया आवृतं तदैव वा समयान्तरे वा न प्रतीयेतेत्यर्थः। तां आत्मनो—भगवतो मम मायां योगमायाख्यामन्तरङ्गां शक्तिं विद्यात् जानीयात्। मायया प्रयोजनं विनैवाव्रियते, योगमायया तु प्रयोजनमुद्दिश्यैवेति विवेचनीयम्। यथाभासो यथातम इति—आभासेन दीपादिना प्रकाशितं घटपटादिकं यथा प्रतीयेत तमसा आवृतं तन्नानुभूयेत च। तथैव सा मदिच्छावशादाभासतमो–धर्मवती योगमायेत्यर्थः। उदाहरणन्तु यथा—ऐश्वर्यदर्शनेऽपि प्रेमसङ्कोचभावज्ञापनार्थं भगवत्कुक्षौ यया प्रकाशितं प्राकृतं विश्वमप्राकृतं गोकुल–यशादा–कृष्णादिस्वरूपञ्च यया मोहिता श्रीयशोदा साक्षादनुबभूव, क्षणान्तरे च यया आवरणान्नानुबभूव च। यथा—चैश्वर्यानुभूत्या प्रेमसङ्कोचज्ञापनार्थं यया प्रकाशितं विश्वरूपं परमात्मस्वरूपञ्चार्जुनः साक्षादनुबभूव, तत्रैव वर्तमानमपि कृष्णस्वरूपं यया आवरणान्नानुबभूव, समयान्तरे च ययाच्छादितं विश्वरूपादिकं नानुबभूव, द्विभुजं श्रीकृष्णमेवानुबभूव। अत्रैकदैव एकस्य स्वरूपस्य प्रकाशन–मन्यस्यावरणमिति पूर्वतो विशेषः। यथा मञ्जुमहिमदर्शनया ब्रह्मण ईश्वरत्वाभिमान–निवर्त्तनार्थं यया आवरण–प्रकाशनाभ्यां लीलापरिकर–वत्सबालाद्यदर्शनकृष्णस्वरूपभूत–वत्सबालादि–दर्शन–तददर्शन–चतुर्भजादिदर्शन–तददर्शन–श्रीकृष्णस्वरूपदर्शनानि प्राप, यया मोहितः परमेष्ठी। अत्रैकस्मिन्नेव परमेष्ठिनि विविधस्वरूपावरणप्रकाशनयोः पौनःपुन्यमिति विशेषः। यथा च—'भगवद्वपुः स्वरूपत एव परिच्छिन्नमपरिच्छिन्नं चातर्क्यम्' इति ज्ञापनार्थं तथा 'केवलभजनश्रमस्तज्जन्या भगवत्कृपा चेत्युभाभ्यामेव भगवद्वशीकार' इति ज्ञापनार्थञ्च दामबन्धलीलायां युगपदेव यशोदाकृष्णयोरभीप्सिते बन्धनाबन्धने विभुत्वस्य युगपदेवावरणप्रकाशनाभ्यां वेष्टयन्त्या किङ्किण्या द्व्यङ्गुलन्यून–दाम्ना चावेष्टयता सूचिते दर्शयन्त्यापि वस्तुतः कृष्णस्यैवाभीप्सितमबन्धनं साधयन्त्या यया मोहिता व्रजेश्वरी विस्मयरसं क्षणमनुबभूव। पश्चात्तस्या अप्यभीप्सितं कृष्णसम्मत्या साधयितुं विभुत्वं यया खल्वावृतमेवेत्यतः सा कृष्णं बबन्धैव। तत्रैकदैवैकस्यैव विभुत्वस्यावरणप्रकाशने इति पूर्वपूर्वतो विशेषः। यथा च प्रतिस्वनिमन्त्रणादिसिध्यर्थं श्रुतदेव–बहुलाश्व–रुक्मिणी–सत्यभामादि गृहस्थि तस्य तस्य तत्तत्स्वरूपस्य ययैव युगपदेवावरणप्रकाशनाभ्यां तत्र तत्र लीलासिद्धिर्व्याख्यास्यते। अत्र श्रुतदेव–बहुलाश्वादि–व्यक्तिभेदमपेक्षैवावरण–प्रकाशनयोर्यौगपद्यं पूर्वत्रैकस्यां यशोदा–यामेवेति विशेषः। सा खलु योगमायैव न तु माया; तया मोहितानामपि तेषां परमात्मसाक्षात्कारदर्शनात्। स च परमात्मसाक्षात्कारो भक्तिमिश्रज्ञानवतामविद्या–विद्ययोरुपरामे सति तथैवावतारसमये कृष्णं प्रीत्या पश्यतां तत्कृपाविषयीभूतत्वादप्रेमवतामपि,

अन्यदा तु, प्रेमवतामेव कृष्ण-रामादि-साक्षात्कारो भागवत मतेनोच्यते। तेषु योगमायैवाधिकरोति, न तु माया। कृष्णं तदीच्छया पश्यतामपि कंसादीनां द्वेषलक्षणान्तःकरणदोषादेव न परमात्म-साक्षात्कारो। यथा—मत्स्यण्डिकां भुञ्जानानामपि पित्तदूषितरसनानां न मत्स्यण्डिकास्वादानुभवः; तेषु मायैवाधिकरोति, न तु योगमाया। मायाशक्तिश्च योगमायोत्था तस्या विभूतिरेव। यदुक्तं नारदपञ्चरात्रे श्रुतिविद्यासम्वादे—*'अस्या आवरिकाशक्तिर्महामायाखिलेश्वरी। यया मुग्धं जगत् सर्वं सर्वदेहाभिमानिनं।'* इति। भगवता स्वस्वरूपत्वेनाभिमन्यमाना योगमायाशक्तिश्चिदेव। सैवांशेन स्वेच्छावशात् स्वस्वरूपत्वेनानभिमन्यमाना स्वस्वरूपात् पृथग्भूता सती मायाशक्तिजडैव। यथा—सर्पस्य स्वरूपभूतापि त्वक् तेन त्यक्ता चेत्ततः पृथग्भूतं कञ्चुकं जडं स्यात्। तथाचोक्तं श्रुतिभिः (श्रीमद्भा॰ १०/८७/३८)—*'त्वमुत जहासि तामहिरिव त्वचमात्तभगः'* इति। सा च माया त्रिविधा—प्रधानमविद्या विद्या च; प्रधानस्य लक्षणं जायन्तेयोपाख्याने वक्ष्यते—*'प्रधानेनोपाधयः सृज्यन्ते ते च सत्या एव। अविद्यया जीवेषु तदध्यासः सृष्टः, स चासत्य एव। विद्यया तदध्यासध्वंस।'* इति तिसृणां शक्तीनां कार्यम्; तत्तन्मयं जगदिदमंशेन सत्यमंशेनासत्यम्; तथा जीवानां नित्यत्वात् भगवन्निकेतनादि-भक्त्युपकरणानां निर्गुणत्वाच्चांशेन नित्यत्वमपि वादिभिर्यथा स्वमतं नानारूपतया निरूपितम्—*'कार्यं प्राधानिकं सत्यं कार्यमाविद्यकं मृषा। नित्यं तद्भक्तिसम्बन्धमिदं तत्रितयात्मकम्॥१॥ प्राधानिकाः स्युर्देहास्तद्धर्मा आविद्यकाः पुनः। जीवेषु तत्तत्सम्बन्धो भक्तिश्चेन्निर्गुणाश्च ते॥२॥ चिज्जीवमाया नित्याः स्युस्तित्रः कृष्णस्य शक्तयः। तद्वृत्तयश्च ताभिः स भात्येकः परमेश्वरः॥३॥ कार्यकारणयोरैक्याच्छक्तिशक्तिमतोरपि। एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन॥५॥ भक्तानामेव सिद्धान्तश्चतुःश्लोकीयमीलिता। शीलिता भवताद्भक्तैस्तैरेव न किलापरैः'* इति॥३३॥

भावानुवाद—जीवके परमात्म-सम्बन्धीय ज्ञान और विज्ञानके प्रति माया आंशिक अनुकूल तथा आंशिक प्रतिकूल रहती है। किन्तु परमात्मारूपी मेरा विज्ञान प्राप्त होनेसे योगमाया ही उस जीवपर अधिकार करती है और उस समय वह अनुकूल ही रहती है। अतएव उस माया और योगमाया दोनोंका ही निरूपण करना आवश्यक है। इसे बतलानेके लिए—"यथा आत्ममायायोगेन" अर्थात् "जिस प्रकार आप अपनी मायाशक्तिके प्रभावसे इस विश्वकी सृष्टि, पालन और संहार करते हैं, उस विषयमें मुझे बुद्धि प्रदान कीजिये"—आदि श्लोकमें श्रीब्रह्माके द्वारा पूछे गये प्रश्न—आपकी माया और योगमाया किस प्रकारकी है?—इसके उत्तरमें श्रीभगवान् विस्तारपूर्वक क्रमशः 'ऋतेऽर्थं' आदि पद कह रहे हैं। 'अर्थं' कहनेसे

सत्यवस्तुका बोध होता है, जिससे उस सत्यवस्तुके अतिरिक्त अन्य कुछ भी प्रतीत नहीं होता, किन्तु सत्यवस्तु ही प्रतीत होती है—यह एक अर्थ है। उसी प्रकार जहाँ अर्थ (सत्यवस्तु) प्रतीत नहीं होती, किन्तु अनर्थ ही प्रतीत होता है—यह दूसरा अर्थ है। 'तत्'—उसे 'आत्मनि' अर्थात् मुक्त और बद्ध दोनों प्रकारके जीवोंके अपने स्वरूपमें 'आत्मनः' अर्थात् परमात्मारूपी मेरी 'मायां' अर्थात् क्रमसे विद्या और अविद्या—इन दो प्रकारकी वृत्तियोंसे युक्त माया नामक शक्ति जानो।

इनमें विद्याका दृष्टान्त है—आभास अर्थात् दीपक आदिका प्रकाश। दीपादिके प्रकाश द्वारा जिस प्रकार गृहमें स्थित घट-पट आदि वस्तुएँ ही प्रतीत होती हैं, किन्तु उस समय दीपादि लानेके पूर्व वहाँपर कल्पित घट-पट आदि वस्तुओंका अभाव तथा सर्प, बिच्छु जैसे हिंसक प्राणियों और आगन्तुक (चोर आदि) के आगमनके भयके कारण जो अनर्थ हैं—इन सबकी प्रतीति नहीं होती है। उसी प्रकार इस विद्याके कारण ही मुक्त जीवोंको अपने स्वरूपमें नित्य स्थित ज्ञानादिका ही बोध होता है, किन्तु अविद्या-दशाकी भाँति उस ज्ञानादिका अभाव प्रतीत नहीं होता। यहाँ तक कि अपने स्वरूपसे सम्बन्धरहित देह, दैहिक, शोक, मोहादिकी भी प्रतीति नहीं होती।

अविद्याका दृष्टान्त है—तम अर्थात् अन्धकार। जिस प्रकार अन्धकारवशतः ही अपने घरमें विद्यमान घट-पटादि वस्तुओंकी प्रतीति नहीं होती, परन्तु सर्प, चोर आदि अनिष्टकारी वस्तुओंके न रहनेपर भी उनके रहनेकी सम्भावना बनी रहती है, इसका कारण है 'भय' और भयके कारणको ही 'अनर्थ' के रूपमें जाना जाता है। ठीक इसी प्रकार अविद्यावशतः ही बद्ध जीवको अपनेमें नित्य-सम्बन्धी रूपमें वर्त्तमान ज्ञान-आनन्द आदिकी प्रतीति नहीं होती, किन्तु अपने स्वरूपमें न रहनेपर भी बद्धजीवको अपने सम्बन्धी रूपमें वर्त्तमान देह, दैहिक, शोक, मोह आदिकी प्रतीति होती है। कुसुम, शृंग (सींग) आदि वस्तुएँ सत्य हैं, किन्तु आकाश और शशक (खरगोश) का उनके साथ किसी प्रकारका सम्बन्ध न रहनेके कारण ही आकाश-कुसुम और शशक-शृंगको मिथ्या कहा जाता है। उसी प्रकार देह और देहके

धर्म—शोक, मोह, सुख-दुःख आदिका प्रधान (जड़) से सम्बन्ध रहनेके कारण अस्तित्व रहनेपर भी उन सबका जीवके स्वरूपके साथ सम्बन्ध न रहनेके कारण शास्त्रोंमें देहादिको मिथ्या कहा गया है। जीवके लिए देह-सम्बन्ध मिथ्या होनेपर भी वह अविद्या द्वारा कल्पित होता है और विद्या द्वारा विनष्ट होता है। यही विद्या और अविद्याके दृष्टान्त—आभास और तम हैं। इस स्थलपर (श्रीमद्भा॰ ८/५/२७) "जिन श्रीभगवान्में जीव-पक्षपाती छाया (अविद्या) और आतप (धूप अर्थात् उसका निवर्तन करनेवाली विद्या) कुछ भी नहीं है, तथा जो तीनों युगोंमें आविर्भूत होते हैं, हम उनके श्रीचरणोंमें शरणापन्न होते हैं"—को अर्थात् श्रीब्रह्माके इस वचनको प्रमाण रूपमें समझना होगा।

कोई-कोई कहते हैं कि यहाँपर 'तम' अर्थात् अन्धकारका यह दृष्टान्त मायाके आवरण-अंश मात्रका है। आवरण और विक्षेपके दृष्टान्तमें सर्प, शेर और भूतके आवेश आदिको समझना होगा। कुछ दूसरे लोग कहते हैं कि वह भी मायाके तमोगुणका कार्य होनेके कारण उसे 'तम' शब्दके द्वारा ही ग्रहण करना होगा। इस प्रकार जीवके लिए सर्वत्र विद्यमान वस्तुका अप्रत्यायन (अप्रतीति) और अविद्यमान वस्तुका प्रत्यायन (प्रतीति)—यह दोनों अविद्याके ही धर्म हैं तथा उन्हें आवरण और विक्षेप शब्दों द्वारा कहा जाता है।

तत्पश्चात्, 'अर्थ' शब्द धन-वाचक होनेके कारण श्लेष उक्तिसे अपने बहुभाग्यके बलसे प्रचुर धनप्राप्त वणिककी भाँति विद्याबलके द्वारा ज्ञान और आनन्द प्राप्त मुक्त जीव जिस प्रकार धनवानके रूपमें निरूपित होते हैं, उसी प्रकार भाग्यहीनताके कारण धन प्राप्त करनेमें असमर्थ वणिकके समान अविद्या द्वारा जिनका ज्ञान और आनन्द आवृत हुआ है, वैसे बद्धजीव दरिद्रके रूपमें निरूपित होते हैं—जानना होगा। इस प्रकार विद्या द्वारा 'त्वं-पदार्थ' अर्थात् जीवात्माका (जीव और जगत्-सम्बन्धीय वस्तुका) ही अनुभव होता है, किन्तु 'तत्-पदार्थ' अर्थात् परमात्माका अनुभव नहीं होता। इसका कारण है कि परमात्मा निर्गुण हैं, अतएव निर्गुणा भक्तिके द्वारा ही उनका अपरोक्ष (साक्षात्) अनुभव सम्भव हो सकता है। श्रीमद्भागवत (११/१४/२१) में भगवान्की उक्ति है—"मैं एकमात्र अनन्या भक्ति द्वारा ही प्राप्त होता

हूँ।" तथा (श्रीमद्भा॰ ११/२५/२४) "देहादिके अतिरिक्त आत्म-साक्षात्काररूप ज्ञानको सात्त्विक ज्ञान, देहादिको आत्माके रूपमें उपलब्धि करनेके ज्ञानको राजसिक और जागतिक पदार्थके ज्ञान या उसमें ममताके भावको तामसिक ज्ञान कहा जाता है। किन्तु परमात्मा-भावकी अनुभूतिको शास्त्रकारगण निर्गुण ज्ञानके नामसे निर्दिष्ट करते हैं।"—आदि श्रीभगवान्‌की उक्तिके अनुसार देहादिके अतिरिक्त आत्मज्ञानरूपिणी विद्या सात्त्विक है, अतएव उसके द्वारा गुणातीत परमात्माका कभी भी अनुभव नहीं होता, अपितु उस विद्याका ही लोप हो जाता है। जिस प्रकार श्रीमद्भागवतमें श्रीभगवान् उद्धवजीको कहते हैं—

द्रव्यं देशः फलं कालो ज्ञानं कर्म च कारकः।
श्रद्धावस्थाकृतिर्निष्ठा त्रैगुण्यः सर्व एव हि॥
येनेमे निर्जिताः सौम्य गुणा जीवेन चित्तजाः।
भक्तियोगेन मन्निष्ठो मद्भावाय प्रपद्यते॥
(श्रीमद्भा॰ ११/२५/३०, ३२)

अर्थात् "मुझमें निर्गुणा भक्ति और श्रद्धादिके बिना पवित्र हितकर द्रव्य; वन और ग्राम आदि देश; सात्त्विक सुख जैसे फल; निरपेक्ष भावसे अपने कर्म द्वारा कर्म-मिश्रा-भक्तिके साथ मेरे भजनसे सत्त्वगुण द्वारा रज और तमोगुणकी क्रिया तिरोहित होनेपर ज्ञान; शम, दम और सुखादिकी संवृद्धिका काल; सात्विक, राजसिक और तामसिक—यह तीन प्रकारका ज्ञान; मुझमें अर्पणरूप कर्म; सङ्ग-रहित सात्त्विक कर्त्ता; सात्त्विकी, राजसी और तामसी—ये तीन प्रकारकी श्रद्धा; जागरण-स्वप्न-सुषुप्ति—यह तीन प्रकारकी अवस्था; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि स्थावर तक की आकृति; सत्त्वादि गुणकी अधिकतासे उदित स्वर्ग, नरक आदिके प्रति निष्ठा अर्थात् गति—ये समस्त ही त्रिगुणात्मक हैं। हे प्रियदर्शन उद्धव! पुरुषके गुण-कर्मवशतः ये सब काम-क्रोधादिरूप संसारके कारणसमूह देदीप्यमान रहते हैं। जो जीव मुझमें ऐकान्तिक निष्ठाके कारण केवला-भक्तियोग द्वारा अपने चित्तमें उदित होनेवाले गुणोंको जय कर लेनेमें समर्थ होते हैं, वे जीव ही मेरे भाव अर्थात् पार्षदत्वरूप मोक्षको प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं।"

यदि आपत्ति हो कि तब फिर मुक्तजीव परमात्माके अपरोक्ष अनुभवके लिए किस प्रकारसे भक्ति प्राप्त कर सकेंगे? इसके उत्तरमें कहते हैं कि ज्ञानाधिकारीको भक्ति-मिश्रित सांख्य-योग-तप आदिसे उदित अविद्या-विनाशिनी विद्या द्वारा प्रथमतः 'त्वं' पदार्थका अनुभव होता है। तदनन्तर ईंधनके अभावमें जिस प्रकार अग्नि बुझ जाती है, उसी प्रकार उस अविद्यासे विमुक्त जीवकी विद्याकी भी क्रमशः निवृत्ति होती है। उसी निवृत्तिके तारतम्य-क्रमसे "ग्रहणसे मुक्त चन्द्रकलाके उद्गम" की भाँति पूर्वसिद्ध भक्ति क्रमशः प्रकटित और वर्द्धित होती है। उसी भक्तिके पुनः-पुनः अनुशीलनके द्वारा ही 'तत्' पदार्थ परमात्माके अनुभवका तारतम्य घटित होता है। यथा श्रीगीता (१८/५४) में श्रीभगवान्‌की उक्ति है—"ब्रह्ममें अवस्थित प्रसन्नचित्त व्यक्ति न तो शोक करते हैं और न ही आकांक्षा करते हैं। वे सभी भूतोंमें समदर्शी होकर प्रेमलक्षणयुक्त मेरी पराभक्ति प्राप्त करते हैं।" यहाँपर 'परा' शब्दका अर्थ प्राक्‌कालीन अर्थात् मायाके गुण-दोषके अभाववशतः 'श्रेष्ठा' अथवा 'केवला' है।

इसके बाद, "भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः। अर्थात् मैं जिस रूप और जिस स्वभावसे युक्त हूँ, जीव उसे भक्तिके द्वारा ही जान सकता है" (श्रीगी॰ १८/५५)—आदि उक्तियोंसे जातिप्रमाण द्वारा अल्पीभूता अर्थात् ज्ञानमिश्रा भक्तिके द्वारा निर्विशेष ब्रह्मका ही अनुभव होता है, किन्तु अनन्त चित्-विशेष ब्रह्म—श्रीभगवान्‌का अनुभव नहीं होता। जिस प्रकार अल्प चक्षु दृष्टिसे युक्त व्यक्ति मणिमयी मूर्त्तिको मात्र सामान्य तेजोमयीके रूपमें दर्शन करते हैं, उसे मुख, नासिका, चक्षु आदि विचित्र (विभिन्न) अवयवोंसे युक्त दर्शन नहीं कर पाते। उसी प्रकार समस्त विद्याओंके निवृत्त होनेपर जो निर्गुण भाव प्रकटित होता है, उस भक्तिके बलसे निर्विशेष ब्रह्मानुभवकी जो पूर्णता प्राप्त होती है—वही 'निर्वाण' शब्दवाच्य जीव-ब्रह्मैकता है। पुनः इसी श्लोकके दूसरे चरणमें देखा जाता है—"ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्। अर्थात् उसके बाद मुझसे सम्बन्धित वस्तुज्ञान होनेपर जीव मुझमें प्रवेश करता है अर्थात् मुझे प्राप्त करता है।"

किन्तु, श्रीभगवान्‌की चित्-शक्तिकी वृत्तियोंकी सारभूत भगवत्-कृपा-विलास-रूप, परमोत्तम, दोनों जाति-प्रमाणोंके (अर्थात् गीताके पूर्वोक्त दो श्लोकोंके) अतीत जो शुद्धभक्ति है, वही प्रबल, परम स्वतन्त्र और गुण-दोष आदि न देखनेवाली है। यह भक्ति राक्षस, पुलिन्द, पुक्कश आदि दुराचारी बद्ध जीवोंमें भी अपनी इच्छाके अनुसार उदित हो सकती है, जब कि महात्यागी अत्यन्त मुक्त श्रेष्ठ विप्रोंमें भी उदित नहीं हो सकती है। इस भक्तिके द्वारा ही अविद्या तक समस्त क्लेशोंका ध्वंस साधित होता है, जैसा कि श्रीमद्भागवत (३/२५/३३) में भगवान् श्रीकपिलदेवकी उक्ति है—"जठर स्थित अग्नि जिस प्रकार भुक्त अन्नको पचाकर जीर्ण कर डालती है, उसी प्रकार भक्ति भी अविद्यासे उत्पन्न वासनामय लिङ्गशरीरका क्षय कर डालती है।" इस भक्तिके बलसे ही अनन्त चित्-विलासमय श्रीभगवान्‌का भी उसी प्रकार अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) अनुभव होता है, जिस प्रकार अत्यन्त तेज दृष्टिसे युक्त व्यक्ति अल्प-तेजयुक्त तथा विशेष रूपसे सुसज्जित मुख, नासिका, चक्षु, कान आदि अङ्ग सौष्ठवयुक्त सौन्दर्यमयी मूर्त्तिका भलीभाँति (सम्यक्) दर्शन कर लेता है।

यह भक्ति दो प्रकारकी है—निर्गुणा और गुणमयी। इसमें प्रथमोक्त निर्गुणा भक्ति अपनी परिपक्व (सिद्ध) दशामें 'प्रेमभक्ति' कहलाती है। इस प्रेमभक्तिके द्वारा ही श्रीभगवान्‌का वशीकरण और सच्चिदानन्दमय भगवान्‌के रूप, गुण, लीला तथा माधुर्यका अनुभव होता है। द्वितीयोक्त गुणमयी सात्विकी भक्ति द्वारा सत्त्व-गुणसे विमुक्त होनेपर मात्र निर्विशेष-ब्रह्मसुखका अनुभव होता है। इसलिए ब्रह्मसुखानुभव दशाकी पूर्व दशाओंमें ही जीवोंके ऊपर मायाका अधिकार अर्थात् मुक्तिके पूर्व ही बद्धावस्था सिद्ध है। "सत्यमेव प्रतीतं स्याद् यतोऽसत्यं तथा यतः तद्विद्यादात्मनो मायां यथाभासो यथा तमः—अर्थात् जिस कारणसे सत्यकी भाँति असत्यकी भी प्रतीति होती है, उसे मेरी आभासरूपी और तमोरूपी माया समझो"—इस प्रकारकी उक्ति न रहनेके कारण इसके अतिरिक्त अन्य अर्थमें भी अभिप्राय देखा जाता है, क्योंकि 'ऋते' और 'अर्थ' शब्द 'परिवृत्ति' (एक अर्थालङ्कार जिसमें एक वस्तुको देकर दूसरीको ग्रहण करना अर्थात् अदल-बदलका

कथन होता है) सहित नहीं होनेके कारण दिये गये हैं। नाना प्रकारके ब्रह्मानुभवशीलजनोंमें भी जो शक्ति स्पष्ट रूपसे अपना अधिकार स्थापित करती है तथा श्रीभगवान्‌की जो स्वरूपभूता शक्ति भगवान्‌की इच्छासे भगवान्‌के स्वरूप, रूप, गुण और लीलाके प्रकाश तथा उनके आवरणकी एकमात्र अधिकारिणी है, श्रीभगवान् उस योगमायाका भी लक्षण 'ऋते' आदि श्लोकमें विस्तृत रूपसे वर्णन कर रहे हैं।

आत्मा अर्थात् परमात्मारूपी मुझे 'ऋते' अर्थात् जान लेनेपर (यहाँ ऋ-धातुका गत्यर्थ हेतु ज्ञानार्थमें व्यवहार हुआ है) अर्थात् साक्षात् अनुभूत होनेपर—यही अर्थ है। इस सन्दर्भमें 'शतृ' पदके द्वारा 'यत्' पदका आक्षेप हुआ है और इस कारण गत्यर्थक 'इण्' धातु 'शतृ' प्रत्ययान्त होनेसे 'यत्' पदकी निष्पत्ति हुई है। 'यतः अर्थं' अर्थात् जिस शक्तिके कारण अर्थ अर्थात् प्रयोजन या प्राप्य वस्तु अप्राकृत और प्राकृत दोनों ही रूपोंमें प्रतीत होती है, अर्थात् जिस शक्तिके द्वारा प्रकाशित होकर प्रयोजन सहित वस्तुको परमात्माका साक्षात्कार करनेवाला व्यक्ति साक्षात् अनुभव करता है। तथा जिस शक्तिके निकट उस प्रयोजन-वस्तुकी प्रतीति नहीं है, अर्थात् जिस शक्ति द्वारा आवृत होनेके कारण उस समय या अन्य समयपर प्रयोजन वस्तुकी प्रतीति नहीं होती है—वही माया है। उसे 'आत्मनः'—मेरी योगमाया नामक अन्तरङ्गाशक्ति जानना। इस स्थानपर विवेचनाका विषय यह है कि मायाके द्वारा जो आवरण है, वह प्रयोजनके बिना ही घटित होता है, जब कि योगमाया द्वारा जो आवरण है, वह प्रयोजनको उद्देश्य करके ही घटित होता है। आभास अर्थात् दीप आदिके द्वारा प्रकाशित घट, पट आदि द्रव्योंकी जिस प्रकार प्रतीति होती है, तमस (अन्धकार) द्वारा आवृत होनेपर उनकी वैसी अनुभूति नहीं होती। ठीक उसी प्रकारसे वह माया ही मेरी इच्छासे आभास-तमोधर्मसे युक्त योगमाया है।

इसका दृष्टान्त है—जिस प्रकार ऐश्वर्यका दर्शन करनेपर भी प्रेमके संकोच भावको जनानेके लिए श्रीमती यशोदाने योगमाया द्वारा मोहित होकर श्रीकृष्णके उदरमें योगमाया द्वारा प्रकाशित प्राकृत विश्व और अप्राकृत गोकुल, (स्वयं) यशोदा और श्रीकृष्ण आदिके

स्वरूपका साक्षात् अनुभव किया था तथा क्षणकालके पश्चात् योगमाया द्वारा आवृत कर लिये जानेपर वे उसे अनुभव नहीं कर सकीं।

यहाँ एक बात और भी है कि ऐश्वर्यके अनुभवसे प्रेमका संकोच भाव जनानेके लिए जिस प्रकार अर्जुनने योगमाया द्वारा प्रकाशित विश्वरूप और परमात्माके स्वरूपका साक्षात् अनुभव किया था, किन्तु योगमायाके आवरणवशतः वे श्रीकृष्णस्वरूपको ठीक उसी स्थानपर वर्त्तमान (उपस्थित) देखकर भी अनुभव नहीं कर सके। पुनः दूसरे समयमें मायाके द्वारा आच्छादित विश्वरूपका अनुभव न कर केवलमात्र द्विभुज श्रीकृष्णका ही अनुभव किया था। यहाँ एक ही समयमें एक स्वरूपका प्रकाश तथा अन्य स्वरूपका आवरण है—यही पूर्वसे पर की विशेषता है।

जैसा कि श्रीभगवान्‌की मधुरतम महिमाके दर्शन द्वारा ब्रह्माजीका ईश्वर अभिमान दूर करनेके लिए माया-मोहित परमेष्ठी ब्रह्माजीको मायाका आवरण और प्रकाश—इन दोनों कार्योंके द्वारा श्रीकृष्णके लीला-परिकर वत्स-बालक आदिका अदर्शन, कृष्णस्वरूपमें ही वत्स-बालक आदिका दर्शन और फिर अदर्शन, चतुर्भुज-रूपादिका दर्शन और फिर अदर्शन और अन्तमें श्रीकृष्णरूपका दर्शन प्राप्त हुआ था। यहाँ विशेषता यह है कि एक ही ब्रह्माके सम्मुख विविध स्वरूपोंका आवरण और प्रकाशकार्य पुनः-पुनः अनुष्ठित हुआ।

पुनः एक ओर जिस प्रकार श्रीभगवान्‌का शरीर स्वरूपतः परिच्छिन्न, अपरिच्छिन्न तथा अवितर्क्य है तथा उसी प्रकार दूसरी ओर शुद्ध श्रीकृष्ण-भजनका अनुशीलन और उसके फलस्वरूप उदित भगवत्-कृपा—इन दोनोंके द्वारा श्रीभगवान् वशीभूत होते हैं, इस विषयको बतलानेके लिए ही श्रीकृष्णकी दामबन्धन लीलामें योगमायाके दो कार्य हुए—श्रीकृष्णकी विभुता (व्यापकता) के आवरण और प्रकाशकार्य द्वारा श्रीकृष्णकी कमरमें बन्धी हुई किङ्किणीसे दो अङ्गुल परिमाणमें रज्जुके कम होनेके कारण बन्धन न होना, जिससे युगपत् श्रीयशोदा और श्रीकृष्णकी अभिलषित बन्धन-अबन्धन लीला सूचित होती है। इसे दिखलानेपर भी वस्तुतः श्रीकृष्णका ही अभिलषित

अबन्धन (बन्धन स्वीकार न करनेका अभिप्राय) साधित करके योगमायाने माता यशोदाको क्षणकालके लिए विस्मयरसका अनुभव कराया था। बादमें माता यशोदाका भी अभिलषित बन्धन साधित करनेके लिए श्रीकृष्णकी सम्मतिसे योगमायाके द्वारा उनकी विभुता आच्छादित होनेपर श्रीयशोदाने उन्हें बाँध लिया था। यहाँ एक ही समयमें एक ही वस्तुके विभुत्वका आवरण और प्रकाशकार्य— दोनों सम्भव हैं, यही इस उदाहरणकी पूर्व-पूर्व उदाहरणोंसे विशेषता है।

इसी प्रकार उस योगमाया शक्तिके युगपत् आवरण और प्रकाशकार्य द्वारा अपने प्रति निमन्त्रणादिकी सिद्धिके लिए श्रुतदेव, बहुलाश्व, रुक्मिणी और सत्यभामा आदिके गृहोंमें अनेक रूपोंमें विराजित श्रीकृष्णके उन सभी स्वरूपोंमें उन सभी स्थानोंपर लीला सिद्धिकी व्याख्या (दशम-स्कन्धमें) की जायेगी। यहाँ विशेषता यह है कि श्रुतदेव और बहुलाश्व आदि विभिन्न व्यक्तियोंकी अपेक्षा करके ही योगमायाका आवरण और प्रकाशकार्य युगपत् (एक ही साथ) हुआ है, जब कि पूर्व वर्णित उदाहरणमें यह एकमात्र श्रीयशोदाके लिए ही हुआ है।

वे निश्चित ही योगमाया हैं—किन्तु (बहिरङ्ग) माया नहीं, क्योंकि देखा जाता है कि इस योगमायाके द्वारा मोहित होनेपर भी उन्हें (श्रीयशोदा, ब्रह्मा, श्रुतदेव आदिको) केवलमात्र परमात्माका ही साक्षात्कार प्राप्त होता है। किन्तु, भक्तिमिश्र-ज्ञानपन्थियोंकी अविद्या और विद्याकी निवृत्ति होनेके बाद ही उन्हें परमात्माका साक्षात्कार होता है। उसी प्रकार भगवदवतारके समय श्रीकृष्णका प्रीतिपूर्वक दर्शन करनेवालोंको तथा उनकी (श्रीकृष्णकी) कृपाके विषयीभूत होनेके कारण उनके प्रति प्रीतिरहित व्यक्तियोंको भी परमात्म-साक्षात्कार होता है। किन्तु दूसरे समय अर्थात् लीला अप्रकट कालमें प्रेमी भक्तोंके द्वारा ही श्रीकृष्ण, श्रीरामादिका साक्षात्कार भागवत-मतमें कहा जाता है। इनके (प्रेमी भक्तोंके) ऊपर योगमायाका ही अधिकार होता है, (बहिरङ्गा) मायाका नहीं। श्रीकृष्णकी इच्छासे उनका दर्शन करनेवाले कंसादि असुरोंके कृष्ण-विद्वेष-लक्षणयुक्त अन्तःकरणके

दोषके कारण ही श्रीकृष्णका दर्शन करनेपर भी उन्हें परमात्म-साक्षात्कार नहीं हुआ। यह उसी प्रकारसे होता है जैसे कि मिश्री भक्षणकारी लोगोंकी पित्त-दूषित जिह्वामें मीठी मिश्रीके स्वादका अनुभव नहीं होता। ऐसे लोगोंपर मायाका ही अधिकार रहता है, योगमायाका नहीं। वस्तुतः मायाशक्ति योगमायासे ही उत्पन्न है तथा उनकी विभूतिरूपा है। जैसा कि नारद-पंचरात्रके श्रुति-विद्या संवादमें कथित है—"अस्या आवरिका शक्ति महामायाखिलेश्वरी। यया मुग्धं जगत् सर्वं सर्वदेहाभिमानिनं॥ अर्थात् इस योगमायाकी आवरणी शक्ति ही महामाया हैं। वह सबकी ईश्वरी हैं तथा समस्त जगत् और समस्त देहाभिमानियोंको विमुग्ध रखती हैं।"

श्रीभगवान्‌के द्वारा अपने स्वरूपमें अर्थात् अपनी अन्तरङ्गाके रूपमें अभिमान करनेके कारण योगमाया चिन्मयी हैं और स्वेच्छावशतः जिसे अपने अन्तरङ्ग रूपमें नहीं मानते, अतएव भगवान्‌के स्वरूपसे अलग होकर जो अंश रूपमें है, वही जड़ा मायाशक्ति है (अर्थात् श्रीभगवान्‌की अन्तरङ्गाशक्ति योगमायाके अधीन और अंश रूपमें ही यह जड़ा बहिरङ्गा मायाशक्ति है)। इसका दृष्टान्त है—जिस प्रकार सर्पकी केंचुली देहके साथ रहनेपर भी जब वह परित्यक्त होती है, तब वह साँपसे अलग एक जड़ पदार्थ मात्र है। दशम-स्कन्धमें श्रुतियोंने भी स्तव किया है (श्रीमद्भा॰ १०/८७/३८)—"हे भगवन्! आप षडैश्वर्यशाली हैं, सर्पकी केंचुली परित्यागकी भाँति आप अपनी बहिरङ्गा मायाशक्तिका दूरसे ही परित्याग कर देते हैं।"

यह माया तीन प्रकारकी है—प्रधान, अविद्या और विद्या। जायन्तेय उपाख्यानमें प्रधानका लक्षण इस प्रकार वर्णित है—"प्रधानके द्वारा ही उपाधियाँ सृष्ट होती हैं और वे सब सत्य हैं। अविद्या द्वारा जीवके अध्यास या विवर्त्त बुद्धि (एक वस्तुको दूसरी वस्तु समझना) की सृष्टि होती है, जो मिथ्या ही है; किन्तु विद्या उस अध्यासका ध्वंस करती है।"—यही तीन शक्तियोंके कार्य हैं। इन तीन प्रकारकी शक्तियोंसे बना यह जगत् आंशिक सत्य है और आंशिक मिथ्या है। जीवोंकी नित्यताके कारण और भगवत्-धाम आदि भक्ति-उपकरणोंकी निर्गुणताके कारण जगत्‌की आंशिक नित्यताको भी मतवादियोंने

अपने-अपने मतानुसार निरूपण किया है। यथा—"प्रधानका कार्य सत्य है, अविद्याका कार्य मिथ्या है। चित्, जीव, माया—यह भगवत्-शक्ति त्रयात्मक विश्व भगवत्-भक्ति-सम्बन्धवशतः नित्य है। देह प्राधानिक है, अर्थात् प्रधानसे उत्पन्न होती है और देहोंका धर्म आविद्यक अर्थात् अविद्यासे उत्पन्न होता है। जीवोंमें भी उसी प्रकार सम्बन्ध वर्त्तमान है, किन्तु भक्ति रहनेसे वे सब निर्गुण हो जाते हैं। चित्, जीव और माया श्रीकृष्णकी तीन शक्तियाँ हैं और उनकी वृत्तियाँ नित्य हैं। इनके द्वारा वही एक परमेश्वर ही प्रकाशित होते हैं। कार्य और कारणमें एकताके कारण शक्ति और शक्तिमानमें अभेदत्व है। एक अद्वयज्ञान वस्तु ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य कोई या विभिन्न वस्तुएँ नहीं है। यह चतुःश्लोकी एकमात्र भक्तोंका ही सिद्धान्त है, केवल भक्त ही इस चतुःश्लोकीका स्तव और निरन्तर अनुशीलन करें, अन्य अर्थात् अभक्त नहीं॥"३३॥

श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीपाद

एइ सब शब्दे हय—'ज्ञान'-'विज्ञान'-विवेक।
माया-कार्य, माया हैते आमि—व्यतिरेक॥

यैछे सूर्येर स्थाने भासये 'आभास'।
सूर्य बिना स्वतः तार ना हय प्रकाश॥

मायातीत हैले हय आमार 'अनुभव'।
एइ 'सम्बन्ध'-तत्त्व कहिलूँ, शुन आर सब॥
(चै॰ च॰ म॰ २५/११४-११६)

भावानुवाद—(भगवान् श्रीकृष्णने कहा)—इन सब शब्दोंके द्वारा 'ज्ञान' और 'विज्ञान' का विवेक होता है। मैं माया और उसके कार्योंसे भिन्न हूँ, अर्थात् उनसे सम्बन्ध रहित हूँ।

जिस प्रकार कभी सूर्यके स्थानपर उसका 'आभास' प्रतीत होता है, किन्तु उस आभासका प्रकाश सूर्यके बिना स्वतन्त्र रूपमें कदापि सम्भव नहीं है।

मायासे अतीत होनेपर ही मेरा अनुभव होता है, इस प्रकार मैंने 'सम्बन्ध'-तत्त्व कहा है। अब इस चतुःश्लोकीके अन्तर्गत और सब कुछ अर्थात् अभिधेय और प्रयोजनके विषयमें सुनो॥३३॥

श्रीजीव गोस्वामीपाद

अथ यथानुभावत्वमुपदिशंस्तादृशरूपादि-विशिष्टस्यात्मनो व्यतिरेक-मुखेन विज्ञापनार्थं मायालक्षणमाह—ऋतेऽर्थमित्यादि। अर्थं परमार्थभूतं मां विना यत् प्रतीयेत—मत्प्रतीतौ तत्प्रतीत्यभावात् मत्तो बहिरेव यस्य प्रतीतिरित्यर्थः। यच्चात्मनि न प्रतीयेत—यस्य च मदाश्रयत्वं विना स्वतः प्रतीतिर्नास्तीत्यर्थः। तथालक्षणं वस्तु आत्मनो मम परमेश्वरस्य मायाम्—जीवमाया-गुणमायेति द्वयात्मिकां मायाख्यशक्तिं विद्यात्। अत्र शुद्धजीवस्यापि चिद्रूपत्वाविशेषेण तदीय-रश्मिस्थानीयत्वेन च स्वान्तःपात एव विवक्षितः। अत्रास्या द्वयात्मकत्वेनाभिधानं दृष्टान्त-द्वैधेन लक्ष्यते। तत्र जीव-मायाख्यस्य प्रथमांशस्य तादृशत्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयन्नसम्भावनां निरस्यति—यथाभास इति। आभासो ज्योतिर्बिम्बस्य स्वीयप्रकाशात् व्यवहितप्रदेशे कथाञ्चिदुच्छलित-प्रतिच्छविविशेषः। स यथा तस्माद्बहिरेव प्रतीयते, न च तं (बिम्बं) विना तस्य (आभासस्य) प्रतीतिस्तथा सापीत्यर्थः। अनेन, प्रतिच्छवि-पर्यायाभासधर्मत्वेन तस्याभासाख्यत्वमपि ध्वनितम्। अतस्तत्कार्यस्याप्याभासाख्यत्वं क्वचित् (श्रीमद्भा॰ २/१०/७)—'*आभासश्च निरोधश्च*' इत्यादौ। अत्र स यथा क्वचिदत्यन्तोद्भटात्मा स्वचाक्चिक्यच्छटा-पतितनेत्राणां जनानां नेत्रप्रकाशमावृणोति, तमावृत्य च स्वेन अत्यन्तोद्भटतेजस्त्वेनैव द्रष्टृनेत्रं व्याकुलयन् स्वोपकण्ठे वर्णशाबल्यमुद्गिरति, कदाचित्तदेव पृथग्भावेन नानाकारतया परिणमयति, तथेयमपि जीवज्ञानमावृणोति; सत्त्वादि-गुण-साम्यरूपां गुणमायाख्यां जडां प्रकृतिमुद्गिरति, कदाचित् पृथग्भूतान् सत्त्वादिगुणान् नानाकारतया परिणमयति चेत्याद्यपि ज्ञेयम्। तदुक्तम् (विष्णु पुराण १/२२/५४)—'*एकदेशस्थितस्याग्ने-र्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा। परस्य ब्रह्मणो माया तथेदमखिलं जगत्॥*' तथा चायुर्वेदविदः (शार्ङ्गधर संहितायां पू॰ख॰ ५म अ॰ ४८,४९)—'*जगद् योनेरनिच्छस्य चिदानन्दैकरूपिणः। पुंसोऽस्ति प्रकृतिर्नित्या प्रतिच्छायेव भास्वतः॥ अचेतनापि चैतन्ययोगेन परमात्मनः। अकरोद्विश्वमखिलमनित्यं नाटकाकृतिम्॥*' इति। तदेवं निमित्तांशो जीवमाया, उपादानांशो गुणमायेत्यग्रेऽपि विवेचनीयम्। अथैवं सिद्धं जीवमायाख्यं गुणमायाख्यं द्वितीयमप्यंशं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—यथा तम इति; तमः शब्देनात्र पूर्वोक्तं तमःप्रायं वर्णशाबल्यमुच्यते। तद्यथा तन्मूलज्योतिष्यसदपि तदाश्रयत्वं विना न सम्भवति, तद्वदियमपीति; अथवा, मायामात्रनिरूपण एव पृथग्दृष्टान्तद्वयम्। तत्राभासदृष्टान्तो व्याख्यातः। तमोदृष्टान्तश्च—यथान्धकारो ज्योतिषोऽन्यत्रैव प्रतीयते, ज्योतिर्विना च न प्रतीयते; ज्योतिरात्मना चक्षुषैव

तत्प्रतीतेर्न पृष्ठादिनेति तथेयमपीति ज्ञेयम्। ततश्चांशद्वयन्तु प्रवृत्तिभेदेनैवोह्यम्, न तु दृष्टान्तभेदेन। प्राक्तनदृष्टान्तद्वैधाभिप्रायेण तु पूर्वस्या आभासपर्यायच्छाया-शब्देन क्वचित् प्रयोगः। उत्तरस्यास्तमःशब्देनैव चेति; यथा (श्रीमद्भा॰ ३/२०/१८)—*'ससर्ज छाययाऽविद्यां पञ्चपर्वाणमग्रतः'* इत्यत्र। यथा च (श्रीमद्भा॰ १०/१४/११)—*'क्वाहं तमोमहदहम्'* इत्यादौ पूर्वत्राविद्याविद्याख्य-निमित्तशक्तिवृत्तिकत्वाज्जीवविषयकत्वेन जीवमायात्वम्; उत्तरत्र स्वीयतत्तद्गुणमय-मह-दाद्युपादानशक्तिवृत्तिकत्वाद्गुणमायात्वम्। तथा *'ससर्ज'* इत्यादौ छायाशक्तिं मायामवलम्ब्य सृष्ट्यारम्भे ब्रह्मा स्वयम-विद्यामाविर्भावितवानित्यर्थः (श्रीमद्भा॰ ११/११/३)—*'विद्याविद्ये मम तनु विद्ध्युद्धव शरीरिणाम्। बन्धमोक्षकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते॥'* इत्युक्तत्वात्। अनयोराविर्भावभेदश्च श्रूयते। तत्र पूर्वस्याः पाद्मे (उ॰ ख॰ १३/२३०, २३१) श्रीकृष्णसत्यभामा-सम्वादीय कार्त्तिकमाहात्म्ये देवगणकृत-मायास्तुतौ—*'इति स्तुवन्तस्ते देवास्तेजोमण्डल-संस्थितम्। ददृशुर्गगने तत्र तेजोव्याप्तदिगन्तरम्॥ तन्मध्याद्भारतीं सर्वे शुश्रुवुर्व्योमचारिणीम्। अहमेव त्रिधा भिन्ना तिष्ठामि त्रिविधैर्गुणैः॥'* इत्यादि। उत्तरस्याः पाद्मोत्तरखण्डे (९१/५१)—*'असंख्यं प्रकृतिस्थानं निविड़ध्वान्तमव्ययम्।'* इति। विद्यादिति प्रथमपुरुषनिर्देशस्यायं भावः—अन्यान् प्रत्येव खल्वयमुपदेशः—'त्वन्तु मद्दत्तशक्त्या साक्षादेवानुभवन्नसि' इति। एवं मायिक दृष्टिमतीत्यैव रूपादिविशिष्टं मामनुभवेदिति। व्यतिरेक-मुखेनानुभावनस्यायं भावः—शब्देन निर्द्धारितस्यापि मत्स्व-रूपादेर्मायाकार्या-वेशेनैवानुभवो न भवति, ततस्तदर्थं मायात्याजनमेव कर्त्तव्यमिति। एतेन तदविनाभावात् प्रेमाप्यनुभावित इति गम्यते। (क्रम-सन्दर्भ) ॥३३॥

परमपुरुषार्थभूतं मामृते—मद्दर्शनादन्यत्रैव यत् प्रतीयेत, यच्चात्मनि न प्रतीयेत—मां विना स्वतः प्रतीतिरपि यस्य नास्तीत्यर्थः; तद्वस्तु आत्मनो मम परमेश्वरस्य मायां विद्यात्। अत्र दृष्टान्तः—यथाऽभासः प्रतिबिम्बरश्मिः; यथा च तमस्तिमिरमिति। तत्राभासस्य तादृशत्वं स्पष्टमेव। तमसोऽपि ज्योतिर्दर्शनादन्यत्रैव प्रतीतेर्ज्योतिरात्मकं चक्षुर्विना चाप्रतीतेरिति। (श्रीभगवत्-सन्दर्भ १०५ परिच्छेद)॥३३॥

भावानुवाद—तदुपरान्त वैसे रूपादिसे युक्त परमात्माके विषयमें व्यतिरेक रूपसे बतलानेके लिए श्रीभगवान् इस श्लोकमें मायाका लक्षण कह रहे हैं। 'अर्थे' अर्थात् परमार्थभूत मेरे बिना 'यत् प्रतीयेत' अर्थात् मेरी प्रतीतिमें जिस वस्तुकी प्रतीतिका अभाव है, अतएव मेरे बाहरमें ही जिसकी प्रतीति है। तथा "यत् च आत्मनि न प्रतीयेत"—परमात्मामें जिसकी प्रतीति नहीं है अर्थात् जिनके आश्रयके बिना जिसकी स्वतः प्रतीति नहीं है—इस लक्षणसे युक्त वस्तुको मेरी अर्थात् परमात्मा परमेश्वरकी ही माया अर्थात् जीवमाया और

गुणमाया—यह दो प्रकारकी माया समझो। इनमें शुद्धजीव केवल चित्-रूप हैं और परमात्मा परमेश्वरके रश्मि-स्थानीय होनेके कारण स्वयं परमात्मामें ही उनकी अवस्थिति है—यहाँपर श्रीभगवान् इसी विषयको कहनेकी इच्छा कर रहे हैं।

पुनः इस भगवत्-मायाका यह द्वि-रूप-गत जो नाम है, उसे दो प्रकारके दृष्टान्तोंसे समझा जा सकता है। उनमें 'जीवमाया' नामक प्रथमांशको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हुए उसकी असम्भावनाको 'यथाभासः' पद द्वारा दूर कर रहे हैं। 'आभास' कहनेसे ज्योतिर्बिम्बके अपने प्रकाशसे दूरवर्ती प्रदेशमें उच्छलित जो एक प्रकारकी प्रतिच्छवि है, उसका ही बोध होता है। वह आभास जिस प्रकार ज्योतिर्बिम्बके बाहर ही प्रतीत होता है तथा ज्योतिर्बिम्बके बिना उसकी प्रतीति नहीं है, जीवमाया भी उसी प्रकारसे है। इसके द्वारा प्रतिच्छवि-पर्यायवाची आभास-धर्मके कारण उस जीवमायाका 'आभास' नाम भी व्यञ्जित (इङ्गित) हो रहा है। अतएव जिस प्रकार भागवतमें कहा गया है (श्रीमद्भा॰ २/१०/७)—"जिनसे इस विश्वकी सृष्टि (अर्थात् आभास), प्रलय (अर्थात् निरोध) और प्रकाश होता है, वह परमब्रह्म तथा परमात्मा नामसे प्रसिद्ध हैं और वे ही आश्रय हैं।" उसी प्रकार कहीं-कहीं उनके कार्यको भी 'आभास' कहा गया है।

जिस प्रकार अति उज्ज्वल ज्योतिर्बिम्ब कहीं-कहीं अपनी चाक्चिक्य छटासे नेत्रोंको झुलसाकर नेत्रोंके प्रकाशको आवृत कर देता है और पुनः अपने अत्यन्त उज्ज्वल तेज द्वारा द्रष्टाके नेत्रोंको झुलसा कर अपने समीपमें वर्ण-वैचित्र्यको प्रतिबिम्बित करता है अथवा कभी-कभी उसे ही नाना प्रकारके अलग-अलग आकारोंमें परिणत करता है, उसी प्रकार यह माया भी जीवके ज्ञानको आवृत करती है और सत्त्वादि-गुण-साम्यरूपा 'गुणमाया' नामकी जड़ा प्रकृतिको निर्गत अथवा प्रकटित करती है अथवा फिर कभी पृथग्भूत सत्त्वादि गुणोंको नाना आकारोंमें परिणत करती है—इसे भी जानना आवश्यक है। ऐसा कहा गया है—"एक स्थानपर स्थित अग्निकी प्रभा जिस प्रकार विस्तार करती है, परब्रह्मकी माया भी उसी प्रकार समस्त जगत्में व्याप्त होती है।" पुनः आयुर्वेद-विद् कहते हैं—"सूर्यकी

प्रतिच्छायाके समान जगत्-कारण एक चिदानन्दरूपी पुरुषकी नित्य प्रकृति है, वह अचेतन होनेपर भी परमात्माके चेतन ईक्षण द्वारा प्रभाववती होकर नाट्य रङ्ग-मञ्चके समान समग्र अनित्य विश्वकी सृष्टि करती है।" इसी प्रकार निमित्तांश जीवमाया है और उपादानांश गुणमाया है। इन सबका बादमें विवेचन किया जायेगा।

तत्पश्चात् इसी प्रकारसे सिद्ध 'गुणमाया' नामक द्वितीय अंशको भी 'यथा तमः' के दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं। यहाँ 'तमः' शब्द द्वारा पूर्वकथित तमःप्राय वर्णशाबल्य (अर्थात् वर्ण-वैचित्र्य) कथित हुआ है। जिस प्रकार मूल ज्योतिर्मय पदार्थमें अवस्थान न करनेपर भी मूल ज्योतिर्वस्तुके आश्रयके बिना तमः की स्वतः सम्भावना नहीं है, ठीक उसी प्रकार परमार्थभूत भगवान्के अतिरिक्त मायाकी भी स्वतः प्रतीति नहीं है। अथवा केवलमात्र मायाके निरूपणके लिए ही ये दो पृथक् दृष्टान्त हैं—उनमें 'आभास' के दृष्टान्तकी व्याख्या हो गयी है। तथा 'तम' का दृष्टान्त यह है—जिस प्रकार ज्योतिसे अन्यत्र अन्धकार प्रतीत होता है और ज्योतिके बिना स्वतन्त्र भावसे भी वह प्रतीत नहीं होता, ऐसी प्रतीति भी पुनः ज्योतिर्मय चक्षु द्वारा ही साधित होती है, पृष्ठ (पीठ) आदि द्वारा नहीं, उसी प्रकारसे इस मायाको भी समझना होगा। इसलिए इन दोनों अंशोंको प्रवृत्ति भेदसे ही समझना होगा, दृष्टान्त भेदसे नहीं।

पूर्व दृष्टान्तके दो प्रकारके अभिप्रायके अनुसार आभास पर्यायवाची 'छाया' शब्दसे कहीं-कहीं पूर्वशक्तिका (जीवशक्तिका) प्रयोग और 'तमः' शब्दसे कहीं-कहीं परवर्ती शक्तिका (महामायाका) प्रयोग किया गया है। जैसे श्रीभागवत (३/२०/१८) में श्रीमैत्रेयकी उक्ति है—"श्रीब्रह्माने प्रथमतः प्रभाकी (ज्ञानकी) प्रतियोगिनी छाया (अबुद्धि) द्वारा तामिस्र (अर्थात् द्वेष), अन्धतामिस्र (अभिनिवेश), तमः (अविद्या), मोह (अस्मिता) और महातमः (राग)—इन पाँच प्रकारकी अविद्याओंकी सृष्टि की।" इस श्लोकमें तथा श्रीभागवतके (१०/१४/११) श्लोकमें श्रीब्रह्माकी उक्ति है—"हे भगवन्! प्रकृति, महत्-तत्त्व, अहङ्कार, आकाश, वायु, अग्नि, जल और भूमि द्वारा संवेष्टित ब्रह्माण्डरूप घटके बीच सात वितस्ति (१ वितस्ति = १२ अङ्गुल) परिमाणका

शरीर धारण करनेवाला मैं ब्रह्मा कहाँ और जिनके रोमकूपरूप गवाक्ष (झरोखे) पथमें ऐसे अगणित ब्रह्माण्ड परमाणुकी भाँति विचरण कर रहे हैं, उन आपकी महिमा कहाँ!"

पूर्व दृष्टान्तमें 'अविद्या' नामक निमित्त-शक्ति-वृत्तिसे युक्त होनेके कारण जीव-विषयक रूपमें जीवमायात्व उद्दिष्ट हुआ है, तथा पर दृष्टान्तमें वह सब स्वीय-विशेष गुणमय महदादि उपादान-शक्ति-वृत्तिसे युक्त होनेके कारण उसका गुणमायात्व उद्दिष्ट हुआ है। इसी प्रकार 'ससर्ज'—आदि श्रीभागवतके (३/२०/१८) श्लोकमें श्रीब्रह्माने सृष्टिके आरम्भमें छायाशक्ति मायाका अवलम्बन करके स्वयं अविद्याको प्रकट किया था, क्योंकि श्रीभागवत (११/११/३) श्लोकमें श्रीभगवान्ने उद्धवजीसे कहा है—"हे उद्धव! शरीरधारियोंकी बन्धनकारिणी और मोक्षकारिणी मेरी अनादि मायारूप महाशक्ति द्वारा सृष्ट इस विद्या और अविद्याको मेरी शक्ति समझो।" शास्त्रमें इन दोनोंका आविर्भाव भेद भी सुना जाता है। उनमें पूर्ववर्ती (विद्याके) सम्बन्धमें पद्मपुराणमें श्रीकृष्ण-सत्यभामा-संवादके अन्तर्गत कार्त्तिक-माहात्म्यमें देवताओं द्वारा मायाके स्तवमें कहा गया है कि इस प्रकार स्तव करते-करते देवताओंने आकाशमें तेजोमण्डलमें स्थित दिग्-दिगन्तर व्यापी तेजको देखा और उसमेंसे यह आकाशवाणीका श्रवण किया—"मैं तीन भागोंमें विभक्त होकर त्रिविध गुणोंके साथ अवस्थान करता हूँ।" आदि। तथा दूसरी (अविद्या) के सम्बन्धमें पाद्मोत्तरखण्डमें कथित हुआ है—"प्रकृतिका स्थान असंख्य, निविड़, अन्धकार युक्त और अव्यय है।"

'विद्यात्' (जानो)—मध्यम पुरुषके स्थलमें प्रथम पुरुष निर्देशका भावार्थ यह है कि अन्यके प्रति भी यही उपदेश है, किन्तु तुम मेरे द्वारा प्रदत्त शक्तिके बलसे साक्षात् भावसे ही अनुभव करते रहो। इस प्रकारसे मायिक दृष्टिका अतिक्रमण करके ही अप्राकृत-रूपादिसे युक्त मुझे अनुभव कर सकोगे। व्यतिरेक रूपसे अनुभवका भावार्थ यह है कि शब्द द्वारा निर्द्धारित होनेपर भी मेरे स्वरूपादिका माया-कार्यके आवेश द्वारा कभी भी अनुभव नहीं होता, अतएव मायाका परित्याग करना ही कर्त्तव्य है। इस प्रकार मेरे अनुभवके प्रेमसे सम्बन्धयुक्त

होनेके कारण वह प्रेमका भी अनुभव करा देता है—ऐसा समझा जाता है। (क्रम-सन्दर्भ)॥३३॥

[भगवत्-सन्दर्भमें १८ संख्याके अतिरिक्त पुनः १०५ संख्यामें श्रीजीव गोस्वामिपादने एक संक्षिप्त व्याख्या लिखी है—]

परम पुरुषार्थभूत मेरे बिना अर्थात् मेरे दर्शनके अतिरिक्त अन्य दर्शनमें जिसकी प्रतीति होती है तथा जो स्वरूपमें प्रतीत नहीं होता अर्थात् मेरे अतिरिक्त जिसकी स्वतः प्रतीति नहीं है, उस वस्तुको आत्मरूपी मुझ परमेश्वरकी माया समझो। इसका दृष्टान्त है—जिस प्रकार आभास अर्थात् प्रतिबिम्ब-रश्मि तथा जिस प्रकार तमः अर्थात् अन्धकार। इनमें आभासका पूर्वोक्त भाव स्पष्ट ही जाना जाता है और अन्धकार भी ज्योतिर्दर्शनके अतिरिक्त अन्यत्र ही प्रतीति होता है तथा ज्योतिरात्मक चक्षुके बिना अन्य अङ्गोंके द्वारा उस अन्धकारकी प्रतीति नहीं जानी जाती। (भगवत्-सन्दर्भ)॥३३॥

श्रीश्रीधर-स्वामीपाद

यथात्ममायायोगेनेत्यनेन मायाया अपि पृष्टत्वात् वक्ष्यमाणोप-योगित्वाच्च मायाम् निरूपयति—ऋतेऽर्थं विनापि वास्तवमर्थं यत्यतः किमप्यनिरुक्तम् आत्मन्यधिष्ठाने प्रतीयेत, सदपि च न प्रतीयेत, तत् आत्मनो मम मायां विद्यात्। यथा आभासो द्विचन्द्रादिरिति, अर्थं विना प्रतीतौ दृष्टान्तः—'यथा तमः' इति सतोऽप्रतीतौ तमो राहुर्यथा ग्रहमण्डले स्थितोऽपि न दृश्यते, तथा॥३३॥

भावानुवाद—पूर्व कथित छब्बीसवें श्लोकमें मायाका विषय पूछा गया था और वहाँ उसकी उपयोगिता कथित होनेसे अब यहाँ मायाका निरूपण कर रहे हैं। वास्तव अर्थ (श्रीविष्णु) के बिना जो कुछ निश्चित रूपमें कहा नहीं गया, वह भी आत्माके अधिष्ठानमें जिस कारणसे प्रतीत होता है और सत् होकर भी जिसकी वास्तव-वस्तु श्रीविष्णुके अतिरिक्त प्रतीति नहीं है, उसे परमात्माकी अर्थात् मेरी मायाके रूपमें जानो। वास्तव-वस्तुके अतिरिक्त अन्य वस्तुकी प्रतीतिका दृष्टान्त है—जिस प्रकार दो चन्द्रमाओंकी सत्ता न रहनेपर भी दर्शन-दोषसे बुद्धिकी विपरीतताके कारण ऐसा लगता है कि ये दो चन्द्रमा हैं। वास्तव-वस्तुकी प्रतीतिके अभावका दृष्टान्त है—जिस

प्रकार घोर अन्धकारसे आवृत घरके अन्दर घटादिके रहनेपर भी उन्हें देखा नहीं जाता, अन्धकार ही देखा जाता है, उसी प्रकार जहाँ आत्म-प्रतीति है, वहाँ देह-प्रतीति नहीं है और जहाँ आत्म-प्रतीति नहीं है, वहाँ देह-प्रतीति है। अथवा जिस प्रकार तमः अर्थात् राहुके ग्रह-मण्डलमें अवस्थान करनेपर भी ग्रह दर्शनकालमें उसे देखा नहीं जाता, उसी प्रकार भगवान् और मायाकी प्रतीति समझो॥३३॥

श्रीमध्वाचार्यपाद

अर्थवदिव प्रतीयते, न च परमात्मन्यर्थवत् प्रतीयते, अर्थं प्रयोजनमृते। न हि जीवप्रकृतिभ्यामीश्वरस्यार्थः।

मुख्यतो विष्णुशक्तिर्हि माया-शब्देन भण्यते।
उपचारतस्तु प्रकृतिर्जीवश्चैव हि भण्यते॥

इति च।

यथाभासो जीवः।

सर्वं परे स्थितमपि नैव तत्रेति भण्यते।
यतो हरेर्न जीवेन जीवनं न हरौ ततः॥
जीवः प्रकृतिरप्यत्र यतो नैव हि बन्धकृत्।
कर्म चाफलदातृत्वात् कालश्चापरिणामत्वात्॥
यथा छत्रधराद्यास्तु रथस्था अपि सर्वशः।
रथिनो नैव भण्यन्ते एवं हरिगता अपि॥३३॥

भावानुवाद—'अर्थ' अर्थात् वास्तव वस्तु न होकर भी जो वास्तव वस्तुके समान प्रतीति होता है और परमात्मामें जिसकी प्रतीति नहीं है। 'अर्थ' शब्दसे प्रयोजनका बोध होता है। जीव और प्रकृति द्वारा ईश्वरका प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। और भी कहा गया है—"विष्णुशक्ति ही प्रधानतः 'माया' शब्द द्वारा अभिहित है। गौण रूपसे उसके द्वारा प्रकृति और जीव जाने जाते हैं।" 'आभास' शब्दसे जीवको समझना होगा। परमेश्वरमें सभी कुछ अधिष्ठित होनेपर भी उनके अन्तरङ्ग स्वरूपमें उन सबकी प्रतीति नहीं है। जीवके द्वारा श्रीहरिका जीवन अर्थात् अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, इसलिए श्रीहरिके अपने स्वरूपमें जीवकी प्रतीति नहीं है। उसी प्रकार प्रकृति श्रीहरिके आश्रित होनेपर भी प्रकृति उनका बन्धन नहीं कर सकती है (वे सांख्यके प्रतिपाद्य

पुरुष नहीं हैं)। कर्म उनके अधीन होनेपर भी वे कर्मफलके अधीन नहीं हैं तथा काल उनमें अवस्थित होनेपर भी कालके द्वारा उनका कोई परिणाम अथवा विकार नहीं होता। जिस प्रकार रथमें रहनेपर भी छत्र-धारण करनेवालेको रथी नहीं कहा जाता, उसी प्रकार जीवकी भाँति प्रकृति, प्राकृत कर्म और कालकी भगवान् श्रीहरिके निज स्वरूपमें स्थिति नहीं है। वे इन सबसे परे अर्थात् स्वतन्त्र हैं॥३३॥

श्रीविजयध्वज तीर्थपाद

अस्वतन्त्रस्य प्रकृत्यादेः स्वरूपमुपदिशतीत्याह—ऋतेऽर्थमिति। यद्वस्तु आप्तकामस्य ममार्थं प्रयोजनमृते सर्वत्र वेदादिषु प्रतीयेत, यच्चात्मनि मयि बाधकं न प्रतीयेत, न हि ईश्वरस्य जीवप्रकृतिभ्यामर्थोबाधश्च, अतः तत्प्रकृत्यादि वस्तु आत्मनः परमात्मनो मायां विद्यादित्यन्वयः। मायेतिर्नेद्रजालमुच्यते, किन्तु जीव-प्रकृती एवेत्याह—यथेति। यथायथार्थत्वेनैव सत्यत्वेनैव प्रतीयमान आभासो मम प्रतिबिम्बभूतो जीवो, यथायथार्थत्वेनैवतमोग्लानि हेतुः मूल-प्रकृतिश्च मायेत्युच्यते। *'मुख्यतोविष्णुशक्तिर्हि मायाशब्देन भण्यते। उपचारतस्तु प्रकृतिर्जीवश्चैव हि भण्यते॥'* इति वचनात् एतदुक्तं भवति—यथाच्छत्रधराद्या रथस्था अपि रथिनोनोच्यते, तथा जीव-प्रकृति-कर्म-कालः सदामयिवर्तमाना अपि जीवेन जीवनाभावात्, प्रकृत्या बन्धाभावात्, कर्मणा फलाभावात्, कालतः परिणामाभावाच्च मयिस्थिता इति नोच्यन्ते, सर्वं परेस्थितमपि नैव तत्रेति भण्यते—इत्यादेरिति॥३३॥

भावानुवाद—प्रस्तुत श्लोकमें अस्वतन्त्र प्रकृति आदिके स्वरूपका उपदेश दिया जा रहा है। जो वस्तु आप्तकाम अर्थात् मेरे प्रयोजनसे भिन्न रूपमें वेदादि शास्त्रोंमें सर्वत्र प्रतीत होती है और जो परमात्म-तत्त्व मुझमें बाधक रूपमें प्रतीत नहीं होता तथा न ही जीव और प्रकृतिसे ईश्वरका अर्थ बाधा प्राप्त होता है ('अर्थ—प्रयोजन' जीव और प्रकृति द्वारा बाधा प्राप्त नहीं होता), अतएव प्रकृति आदि उस वस्तुको परमात्माकी मायाके रूपमें जानो। माया इन्द्रजाल नहीं है, किन्तु वह जीव और प्रकृति-रूपा है—इसीको बतला रहे हैं। 'यथा' अर्थात् सत्यरूपमें प्रतीयमान 'आभास' अर्थात् मेरा प्रतिबिम्बभूत जीव और यथार्थ 'तम' अर्थात् ग्लानिका कारण मूल-प्रकृति—ये दोनों ही मायाके रूपमें कथित हैं। "प्रधानतः विष्णु-शक्ति 'माया' शब्दसे उक्त

होती है, किन्तु उपचार क्रममें उसके द्वारा प्रकृति और जीव भी निर्दिष्ट होते हैं।" जिस प्रकार रथमें रहनेपर भी छत्र-धारण करनेवालेको रथी नहीं कहा जाता, उसी प्रकार जीव, प्रकृति, कर्म और कालके सर्वदा मुझमें वर्त्तमान रहनेपर भी जीवके द्वारा श्रीहरिके जीवनका अभाव, प्रकृतिके द्वारा उनके बन्धनका अभाव, कर्मके द्वारा फलका अभाव, कालसे परिणामके अभावके कारण ये सब मुझमें (अन्तरङ्ग रूपसे) स्थित हैं—ऐसा नहीं कहा जाता, क्योंकि ये सभी परमेश्वरमें स्थित होकर भी उनमें नहीं हैं॥३३॥

श्रीवीरराघवाचार्यपाद

एवं चिदचिद्विलक्षणस्य परमात्मनः स्वरूपमुक्तं, अथावर-शब्दोक्तमङ्गतया ज्ञातव्यं चिद्रूपमाह—ऋतेऽर्थमिति। अर्थ निरतिशयपुरुषार्थभूते चित्तत्त्वमृते विना यच्चिद्वस्तु प्रतीयेत, प्रकृत्यनुसन्धान-वेलायामात्मस्वरूपं न यथावत्प्रकाशत इत्यर्थः, आत्मनि चेतनस्वरूपे प्रतीयमाने (श्रीगी॰ २/६९)—*'सा निशा पश्यतो मुने'* इति न्यायेन यदचेतनं न प्रतीयेत, तदात्मनः परमात्मनः मायां विद्यादित्यर्थः। अन्यतरस्य प्रकाशने नान्यतरस्य प्रकाशनं विरुद्धाकारत्वादित्यभिप्रेत्य, तत्र दृष्टान्तमाह—'यथाभासो'; भासनं भासुशब्दो बहुवचनान्तो वा, नहि तेजसि तमो भाति, न च तमसि तेजो भाति, तद्वदित्यर्थः। स्थूलत्वसूक्ष्मत्व, नित्यत्वजडत्वादिविरुद्धाकार योगोऽभिप्रेतः॥३३॥

भावानुवाद—इस प्रकार चित्-अचित्से विलक्षण परमात्मतत्त्वका स्वरूप कहा गया है। अब यहाँ 'अवर' शब्दसे लक्षित अङ्गरूपमें जानने योग्य चित्-रूपको कह रहे हैं। 'अर्थ' अर्थात् निरतिशय (असीम) पुरुषार्थभूत चित्-तत्त्वसे भिन्न जो चित्-वस्तु प्रतीत होती है, वह प्रकृति-अनुसन्धान कालमें आत्मस्वरूपका यथायथ प्रकाश नहीं करती तथा आत्मा चेतन-स्वरूपमें प्रतीयमान होनेपर, श्रीगीता (२/६९) में उक्त—"दूसरेके लिए जो दिवस है, तत्त्वदर्शी मुनिके लिए वह रात्रिके समान है"—इस न्यायके अनुसार जो अचेतन रूपमें प्रतीत नहीं होती, उस वस्तुको परमात्मतत्त्वकी माया जानो। परस्पर-विरुद्ध-भावयुक्त होनेके कारण एकके प्रकाशमें अन्यका प्रकाश नहीं है। इसी अभिप्रायसे यहाँपर दृष्टान्त दिया गया है—जिस प्रकार तेजमें अन्धकार नहीं रहता अथवा अन्धकारमें तेज नहीं रहता, इसे भी उसी प्रकार

समझो। स्थूलता, सूक्ष्मता, नित्यता और जड़ता आदि विरुद्ध-भाव ही यहाँ अभिप्रेत हैं॥३३॥

श्रीशुकदेवपाद

मायामाह—ऋतेऽर्थमिति। यद्वस्तु आत्मनि ज्ञानस्वरूपे ज्ञातरि सति ज्ञेयतया प्रतीयेत, अर्थं ज्ञातृपदार्थमृते तु न प्रतीयेत, तदचेतनं द्रव्यम् आत्मनः परमात्मनः मम मायां विद्यात्। अचेतनस्य चेतनज्ञेयतया स्वरूपनिश्चये दृष्टान्तः—यथा आभासः प्रकाशः यथा वा तमोऽप्रकाशः। ज्ञातरि सत्येव प्रतीयते, न तु तदभावे तद्वदित्यर्थः॥३३॥

भावानुवाद—इस श्लोकमें श्रीभगवान् मायातत्त्वका वर्णन कर रहे हैं। जो वस्तु ज्ञानस्वरूप तथा ज्ञाता (आत्मा) होनेपर भी ज्ञेय (अचेतन) रूपमें प्रतीत होती है, किन्तु ज्ञाताके बिना प्रतीत नहीं होती, उसी अचेतन द्रव्यको मुझ आत्मा अथवा परमात्मरूपीकी माया जानो। अचेतन पदार्थ चेतनके द्वारा ज्ञेय होनेके कारण स्वरूप-निश्चयमें दृष्टान्त है—आभास अर्थात् प्रकाश, अथवा तम अर्थात् अप्रकाश। जिस प्रकार ज्ञाता होनेपर ही प्रतीति होती है, उसके अभावमें नहीं, उसी प्रकार प्रकाश होनेपर ही प्रतीति होती है, उसके अभावमें नहीं॥३३॥

श्रीवल्लभाचार्यपाद

एवं तज्जलानीति हेतुं विविच्य सर्वमात्मैवेति प्रमेयं विनिश्चित्य, प्रमाणवैयर्थ्यमाशङ्क्य, प्रवृत्तिसंकोचपरत्वात् गुणदोषविषयत्वात् सोऽप्येका भगवल्लीलेति मायां निरूपयति—ऋतेऽर्थमिति। यद्वस्तु स्वरूपे अन्यथा प्रतिभासते, तत् आत्मानां जीवानां व्यामोहिका या माया पूर्वं निरूपिता तस्याः कार्यं। सा हि जीवं व्यामोहयित्वा तत्सम्बन्धिनं अन्तकरणबुद्ध्यादिकमपि व्यामोहयति। तथा व्यामोहिता बुद्धिः पदार्थान् अन्यथा मन्यते, न तु पदार्था अन्यथा भवन्ति। बुद्ध्यर्थमेव हि प्रमाणानि-साधनानि च। कानिचिद्बुद्धिजनित-दोषनिवर्तकानि, कानिचिद्गुणाधायकानि। माया च द्विधा भ्रमं जनयति—विद्यमानं न प्रकाशयति, अविद्यमानं च प्रकाशयति देशकालव्यत्यासेन। तदाह—अर्थमृते यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत च। अर्थादर्थः, अर्थो न प्रतीयते, 'अर्थमृते प्रतीयत' इति। तस्मात्पदार्थानां याथात्मयज्ञापनार्थं प्रमाणमित्युक्तं भवति। ननु, वस्त्वेव कुतो न तथास्तु। कैश्चिद्वादिभिर्जगतो मायिकत्वस्वीकारादिति

चेत्। भवेदेतदेवं यदि विचारे पर्यवस्यति। प्रमाणभूतो वेदः—'सर्वंखल्विदं ब्रह्म' एवेत्याह। ब्रह्मविदां प्रतीतिरपि तथा भ्रान्तप्रतीतेस्तु नार्थनियामकत्वम्। अन्यथा, भ्रमदृष्ट्या गृहीतं जगद्भ्रमरूपमेव स्यात्। अतो विषये विषयता काचित्स्वीकर्त्तव्या यया दृष्टिः सविषया भवति। अन्यथा पदार्थानां स्थिरत्वाद्भ्रमदृष्टिर्निर्विषया स्यात्, अतोऽन्यत्रैव सिद्धभ्रमिर्मायया पुरःस्थिते विषये समानीयते दृष्टानुरोधित्वात्तस्याः। अतो यथाधिकारं जीवसृष्टिं पुरस्कृत्य व्यामोहिकया मायया व्यत्यासेन पदार्थाः सम्पाद्यन्ते। एवं सर्वत्र जगति सा बुद्धिभ्रमं जनयति, अन्यत्र अन्यविषयतां सम्पादयति; विषयता मायाजन्या, विषयो भगवान्। मायायामेव विषयतारूपं भगवतः स्वरूपं प्रकटितमिति। तदपि न निःस्वभावम्। आत्मशक्तित्वान्मायापि न निःस्वभावा। चिद्विलासत्वाद्बुद्धेः परं तामेव व्यामोहयति यावन्नब्रह्मभावः। सा हि भगवदीयैः सर्वैरेव पदार्थैर्विरुध्यते। ते हि भगवद्विषयकं ज्ञानं जनयन्ति। अतो विषयता–जनितं ज्ञानं भ्रान्तं, विषयजनितं प्रमेति। एवं, यथा जगति आत्मन्यपि तथेत्याह—चात्मनीति। आत्मनि च विद्यमानं प्रकाशयति, अविद्यमानं प्रकाशयति; न तु सर्वजनीनप्रतीत्यनुरोधेन जगद्रूपोऽयं विषयो ब्रह्मणो भिन्न एव कुतो न अङ्गीक्रियते? तत्राह—तद्विद्यादात्मनो मायामिति। यस्मात्कारणात् अविद्यमानमेव बोधयति, विद्यमानं न बोधयति, तस्मात् कारणात् तां मायामेव विद्यात्। न हि विषयश्चक्षुर्वा जडं, नियतस्वभावं अन्यथा प्रतीतिहेतुर्भवति; तत्र दृष्टान्तमाह—'यथाऽभासो यथा तम' इति। यथा द्विचन्द्राद्याभासो माययैव जन्यते, न तु प्रतीत्यनुरोधेन चन्द्रद्वयं कल्प्यते। एवं विषयतापि मायया जन्यते, बुद्धिस्तु चिद्विलास इति न मायाजनिता, अन्यथा, ब्रह्मविदोऽपि बुद्धिस्तथा स्यात्। ततश्च सर्वविप्लवः। सा च विषयता द्विधा—आच्छादिकैका अन्यथाप्रतीतिहेतुश्चापरा। सा उभयविधापि माययैव जन्यते यथाभासः। ननु, मायया कथमेवं पदार्थजनकत्वं? व्यामोहजनकत्वमेव तस्याः, न च विषयातिरिक्ता विषयता क्वचिदुपलब्धेत्याशङ्क्याह—'यथातम' इति। यथान्धकारः पदार्थस्तेजोऽभावे जन्यते। यत्रैव तेजोऽभावः, तत्रैवान्धकारं जनयति माया। इयमेव व्यामोहिका। अतएव दिवाभीतान्प्रति नान्धकारं जनयति। ते तु तेजोऽभावमेव गृह्णन्ति, तेषां दृष्टेः कोमलत्वाद्बलवत्तेजो दृष्टिप्रतिबन्धकं भवति, तदभावे सुखेन विषयान् गृह्णन्ति। अस्मदादीनामपि तेजो न विषयसंस्कारकं। न वा चक्षुषः, किन्तु, तेजोऽभावे मायया तमोजननात् सैव दृष्ट्या विषयी क्रियते, न तु विषयः। अतस्तमोनिवृत्यर्थमेव तेजः, तथैव लोकप्रतीतिः। सा च विषयता चक्षुषा गृह्यते, विषयाद्भिन्नतया स्वात्मसात् क्रियते। परिभ्रमणे तथासिद्धे। 'यथा हि भानोरुदयो नृचक्षुषाम्' इति वाक्ये चक्षुःसम्बन्धिन एव तमसो नाशकत्वं। न तु स्वभावत एव किञ्चित्तमः। अन्यथा, स्पर्शेनापि ज्ञाने तत्प्रतिबन्धकं स्यात्, स्पर्शेन वा तद्गृह्येत। तम इति च उपलक्षणं। आदर्शे च मुखं जनयति, न च परावृत्तं चक्षुर्मुखमेव गृह्णातीति मन्तव्यं; तथा सति दर्पणान्तरे साभासस्य प्रतीतिर्न स्यात्। न चेदमेव

मुखमुभयत्र प्रतिबिम्बितमिति वाच्यम्। असम्मुखदिक्वानामपि प्रतिबिम्बदर्शनात् अयमेव वा आभासः। तस्माद्दर्पणे मुखजननवत् तेजोऽभावे अन्धकारजननवत् मायामोहित पुरुषबुद्धावपि विषयताद्वयं जनयतीत्यर्थः—तत्रैका ब्रह्मरूपतां न प्रकाशयति, एका तु जगद्रूपाविषयता—तदुभयव्यावृत्त्यर्थं सर्वाणि प्रमाणानीति भावः॥३३॥

भावानुवाद—इस प्रकार "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इस वेद वचनमें दिये गये 'तज्जलान्'—इस हेतुका विवेचन करके यह सिद्ध कर दिया गया है कि सम्पूर्ण जगत् ही परब्रह्म है और यह आत्मा ही प्रमेय भी है। तब यह आशङ्का हो सकती है कि फिर यह वेद आदि शास्त्र किसलिए बनाये गये हैं? अर्थात् यदि सब कुछ ब्रह्म ही ब्रह्म है तो फिर भेदका निर्देश करनेवाले—"यह करो, यह मत करो", "यह अच्छा है और यह बुरा है" आदि प्रमाण-शास्त्र व्यर्थ हो जाते हैं। इसके उत्तरमें कहते हैं कि यह भी एक प्रकारसे श्रीभगवान्‌की ही लीला (क्रीड़ा) है। सब कुछ ब्रह्म है, सब कुछ एक ही है तो फिर एकतामें भगवत्-लीला नहीं हो सकती और प्रवृत्तिका संकोच भी नहीं हो सकता है। यह करने योग्य है और यह नहीं करना चाहिये—ऐसा प्रवृत्तिका संकोच रहना चाहिये। अतएव उस एक ब्रह्म स्वरूपमें भी गुण और दोषोंका निर्माण करके भगवान् अपनी मायासे ही सब प्रकारकी क्रीड़ाको प्रवर्तित कर रहे हैं।

अब उस मायाका निरूपण करते हुए "ऋतेऽर्थमिति" आदि श्लोक कह रहे हैं। जो वस्तु-स्वरूपमें अन्यथा रूपमें प्रकाशित होती है, वह भगवान्‌की मोहिनी माया है। यह जीवोंको मोहित करती रहती है। वास्तव-वस्तुमें जो कुछ भी अन्यथा रूपमें प्रकाशित होता है, वह इस मायाका ही कार्य है। यह माया जीवको मोहित करके जीवसम्बन्धी अन्तःकरण अर्थात् बुद्धि आदिको भी मोहित कर देती है। इस माया द्वारा मोहित हुई बुद्धि जगत्‌में स्थित पदार्थोंको अन्यथा समझ बैठती है, किन्तु पदार्थ अन्यथा नहीं होते। बुद्धिको मोक्ष हेतु तैयार करनेके लिए ही वेदादि प्रमाण हैं और वेद-शास्त्रोक्त साधन भी बुद्धिको तैयार करनेके लिए ही हैं। कितने ही प्रमाण-साधनमें उत्पन्न बुद्धि दोषोंकी निवृत्ति करनेवाले हैं और कितने ही प्रमाण-साधन बुद्धिमें गुणोंका आधान (स्थापन) करनेवाले हैं। यह माया भी बुद्धिमें

ही दो प्रकारसे भ्रम (भूल) पैदा करती है—विद्यमानको प्रकाशित न होने देना और जो नहीं है उसे प्रकाशित कर देना। किसी देशकी बात किसी स्थानमें और किसी कालकी बात किसी अन्य कालमें दिखाती है।

इसी विचारको मूल श्लोकमें कह रहे हैं—"अर्थं ऋते यत् प्रतीयेत, न प्रतीयेत च—अर्थात् वस्तुमें वस्तु प्रतीत न होकर अर्थके बिना कुछ अन्य ही प्रतीत होता है।" ऐसी अवस्थामें वस्तुओंकी यथार्थताको दिखलानेके लिए ही श्रीभगवान्ने वेदादि प्रमाणोंकी रचना की है।

यदि कोई यहाँ प्रश्न करें कि इस वस्तुको वैसा ही न मानकर भ्रम क्यों मानते हो, इसीलिए ही तो वादी इस जगत्को और जगत्के अन्तर्गत वस्तुओंको मायिक तथा मिथ्या ही मानते हैं? इसके उत्तरमें कह रहे हैं कि सबको यथार्थ ज्ञान करानेवाला वेद सम्पूर्ण जगत्को ही ब्रह्म कह रहा है और ब्रह्मवेत्ताओंका अनुभव भी ऐसा ही है। भ्रान्त मनुष्योंको जो दिखायी दे रहा है, उसे वस्तुकी यथार्थतामें प्रमाण रूपमें माना नहीं जा सकता है। यदि भ्रमदृष्टिको प्रमाण मान लिया जाय तो जगत्को भी भ्रम मानना पड़ेगा, तब जगत् भ्रमरूपमें ही मिलना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं मिलता है। कालान्तर-देशान्तरमें जगत् जगद्रूपमें ही मिलता है, भ्रम रूपमें नहीं। इसलिए मानना पड़ेगा कि जगद्रूप विषयमें कोई एक दूसरी विषयता आकर स्थित हो गयी है। विषयपर जब कोई अन्य विषयता आ जाती है और जब उस विषयता सहित विषयको दृष्टि द्वारा ग्रहण किया जाता है, तब दृष्टि उस विषयताके रूपमें ही विषय (वस्तु) को देखती है। यही अन्यथा प्रकाश कहा जाता है।

यदि ऐसी कोई भी दूसरी विषयता नेत्रके सामने नहीं आती, तब वस्तुके अपने स्वरूपमें स्थिर रहनेके कारण भ्रम दृष्टि निर्विषयता रूपमें ही रहती, अर्थात् कहीं भी भ्रम नहीं होता। इसलिए यह सिद्ध होता है कि कहीं अन्यत्र स्थित भ्रम मायाके द्वारा सम्मुख आयी हुई वस्तुपर आरोपित किया जाता है, क्योंकि यह माया दृष्टिका अनुरोध (बाधा प्रदान) करनेवाली होती है। इसलिए अधिकारके अनुसार

जीव-सृष्टिको आगे रखकर यह मोहिनी माया वस्तुको उल्टा-पुल्टा दिखलाती है। इस प्रकारसे यह समस्त जगत्में बुद्धिके भ्रमको फैलाती है। अर्थात् अन्यत्र स्थित विषयताको किसी अन्य वस्तुपर आरोपित कराती है। विषयता मायाके कारण है और विषय श्रीभगवान् हैं। जैसे सीपमें चाँदीका भ्रम (भान)। चाँदीमें चाँदीपन तथा सीपमें सीपपन वास्तविक है। सीप भी भगवद्रूप पदार्थ है और चाँदी भी। किन्तु माया चाँदीके भानको सीप पर आरोपित करा देती है। अन्यत्र स्थित विषयताको किसी दूसरे विषयपर आरोपित कराती है। यही भ्रम है और यह मायासे ही होता है। जगत्में स्थित वस्तुएँ भगवान् हैं। इनका स्वभाव एक रूपमें स्थिर है, किन्तु विषयता (भ्रम) निःस्वभाव है। यह स्थिर नहीं है। रस्सीमें सर्पका भ्रम थोड़ी देरके लिए ही रहता है, क्योंकि उसका वह स्वभाव नहीं है। इस मायामें ही विषयतारूप भगवान्का स्वरूप प्रकटित होता है, इसलिए विषयता निःस्वभाव नहीं है तथा भगवान्की ही शक्ति होनेके कारण माया भी निःस्वभाव नहीं है। भ्रम उत्पन्न करना ही इसका स्वभाव है। बुद्धिमात्र ही चैतन्यकी क्रीड़ास्थली है, यह माया उस बुद्धिको ही मोहित करा देती है। जब जीवमें ब्रह्मभाव प्रकाशित होता है, तब यह माया बुद्धिको मोहित करना छोड़ देती है। जगत्में स्थित भगवदीय वस्तुएँ भगवत्-विषयक ज्ञान पैदा करती हैं, इसलिए मोहिनी माया उन सब वस्तुओंके विरुद्ध रहती है। इससे यह सिद्ध होता है कि विषयतासे पैदा हुआ ज्ञान भ्रम है और विषय जनित ज्ञान यथार्थ होता है।

इस प्रकार जैसे माया जड़जगत्में भ्रम उत्पन्न करती है, आत्माके विषयमें भी वैसा ही है। इसीलिए 'चात्मनि' आदि पद कह रहे हैं। यह माया आत्मामें स्थित वस्तुको प्रकट नहीं करती, किन्तु जो नहीं है उसे प्रकाशित करती है। यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि यह जगत्-रूप विषय ब्रह्मसे भिन्न रूपमें ही क्यों नहीं मान लिया जाता? इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'तद्विद्यादात्मनो मायां' आदि। वास्तवमें जगत् ब्रह्मरूप है, किन्तु इसका यह रूप प्रकाशित नहीं होकर अन्यथा रूप ही प्रकाशित हो रहा है। यह दोनों कार्य मायाके ही हैं। जगत् मिथ्या नहीं हैं, परन्तु माया इसे मिथ्या दिखलाती है, सत्य स्वरूप

नहीं। यह दोष वस्तु स्वरूप जगत्‌रूपी ब्रह्मका नहीं है, अपितु मायाका है, इसलिए इसे माया ही जानो। इस मायाके दोषवशतः ही जगत्‌को ब्रह्मसे भिन्न वस्तु माननेकी आवश्यकता नहीं है। सीपमें चाँदीका जो भ्रम होता है, इस भ्रम-ज्ञानमें सीप अथवा चाँदी कारण नहीं है, क्योंकि वे दोनों निश्चित स्वभावके हैं, भ्रम स्वभाव युक्त नहीं। विषय जगत् और चक्षु दोनों निश्चित स्वभावके हैं, इसलिए वे भ्रमके कारण नहीं हो सकते। भ्रमका कारण तो माया ही है।

इस विषयमें दृष्टान्त देते हुए कह रह हैं—"यथाभासो यथा तमः।" अर्थात् जैसे कभी-कभी दो चन्द्रमाओंका भ्रम होता है। यह मायासे ही होता है। दो चन्द्र दीखते तो हैं, किन्तु इस प्रतीतिके अनुरोधसे कोई भी बुद्धिमान पुरुष दो चन्द्र नहीं मान लेते, किन्तु उसे भ्रम या माया ही मानते हैं। इसी तरह जगत्‌में जो विषयता प्रतीत हो रही है, वह मायासे पैदा हुई है। बुद्धि तो चित्-वस्तुका विलास स्थान है, इसलिए वह मायासे उत्पन्न नहीं हो सकती। यदि बुद्धि मायासे उत्पन्न होती तो ब्रह्मवेत्ताकी बुद्धिमें भी भ्रम होता। इसलिए बुद्धि मायाके कारण नहीं है, विषयता ही मायाके कारण होती है। यदि ब्रह्मवेत्ताकी प्रतीतिको भी भ्रम मान लिया जाये, तो फिर ज्ञानमात्र भ्रम हो जायेगा और ब्रह्मज्ञान भी भ्रम समझा जायेगा। तब समस्त प्रकारसे विप्लव उपस्थित होगा अर्थात् कुछ रहेगा ही नहीं।

यह विषयता दो प्रकार की है—एक आच्छादिका अर्थात् ढकनेवाली और दूसरी अन्यथा (कुछ-का-कुछ) प्रतीत होनेवाली। ये दोनों तरहकी विषयता मायासे ही पैदा होती है। जैसे—आभास-प्रतिबिम्ब। आभासरूपा विषयता अन्यथारूपमें दिखायी देनेवाली है। यहाँ एक प्रश्न होता है कि विषयता केवल बुद्धिको भ्रमित करनेवाली होनेके कारण उससे वस्तु कैसे उत्पन्न हो सकती है? आभासमें तो एक और वस्तु उत्पन्न हो जाती है। दूसरी आशङ्का यह भी है कि विषयको छोड़कर कहीं भी विषयता नहीं देखी जाती। अर्थात् घटमें ही घटत्व रहता है, घटको छोडकर घटत्व कहीं अन्यत्र प्रतीत नहीं होता। इसके उत्तरमें कहा गया है—'यथा तमः' आदि अर्थात् जैसा अन्धकार। यह अन्धकार सम्पूर्ण विषयता है तथा यह तेजके अभावमें दृष्टिगोचर

होता है। यह भी मायासे उत्पन्न विषयता ही है। जहाँ प्रकाशका अभाव है, वहीं यह माया अपनी विषयतारूपी अन्धकारको पैदा करती है। यही माया मोह उत्पन्न करनेवाली है। इसलिए प्रकाशसे भयभीत उल्लू पक्षियोंके प्रति माया अन्धकार पैदा नहीं करती। उल्लू तो तेजके अभावको ही ग्रहण करते हैं। उनकी दृष्टि कोमल होती है, इसलिए अत्यधिक प्रकाश उनकी दृष्टिका बाधक हो जाता है। अतएव ये पक्षी प्रकाशके अभावमें विषय (वस्तुओं) को सुखसे देख लेते हैं। वस्तुओंको देखनेके लिए प्रकाश न तो विषय (वस्तु) का ही कुछ सुधार करता है और न ही हमारी दृष्टिका। वह केवल दृष्टिका सहकारीमात्र है। किन्तु रात्रि आदिमें जब तेजका अभाव होता है, तब माया वहाँ अपनी विषयतारूप अन्धकारको पैदा कर देती हैं, तब हमारी दृष्टि उस अन्धकारको ग्रहण करती है, वस्तुको नहीं। इसलिए अन्धकारको दूर करनेके लिए प्रकाशकी अपेक्षा होती है और इस लोकमें भी यह प्रतीति इसी प्रकारसे ही है।

यह अन्धकाररूप विषयता चक्षुसे ही ग्रहण की जाती है, अन्य इन्द्रियोंसे नहीं। अर्थात् चक्षु वस्तुसे भिन्न अन्धकारको ग्रहण करता है। यह बात भ्रमणके दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट हो जाती है। जब हम अपने आपको चक्कर देकर खड़े हो जाते हैं, तब मकान आदि घूमते हुए दीखते हैं। इसके द्वारा स्पष्ट है कि मकान आदिसे चक्कर भिन्न है। शास्त्रमें भी "यथैव भानोरुदयो नृ चक्षुषां" आदि वचनोंमें तमको एक भिन्न मायिक पदार्थ माना गया है और वह असत् है, सत् नहीं। यह तम चक्षुसम्बन्धी ही है तथा सूर्य उदय होनेसे इसका नाश हो जाता है। जगत्के अन्तर्गत अन्य वस्तुओंकी भाँति स्वभावसे ही तम कोई सत्य वस्तु नहीं है, मायाके कारण असत् है। यदि तम सत्य वस्तु होता तो उसका स्पर्श भी होता और उस समय वस्तुज्ञानका प्रतिबन्धक होता, परन्तु ऐसा नहीं है। अन्धकारका स्पर्श नहीं होता और न ही वह किसी वस्तुका स्पर्श करनेमें बाधक है। 'तम' यह एक प्रकारका उदाहरण दिखाया गया है। इस प्रकारसे और भी अनेक वस्तुओंको लिया जा सकता है—जैसे प्रतिबिम्ब। काँचमें जब हम अपना मुख देखते हैं, तब वह मोहिनी माया बीचमें एक दूसरा मुख

उत्पन्न कर देती है। कितना ही कहें कि कोई दूसरा मुख नहीं है, फिर भी चक्षुकी किरणें जब काँचसे रुककर पीछे लौटती हैं, तब अपने (दूसरे) मुखको ही देखती है। मनुष्य भूलसे दूसरा मुख मान लेता है, किन्तु यह मत ठीक नहीं है। जहाँ आगे-पीछे या आड़े-टेढ़ेमें अनेक दर्पण रख लिये जाते हैं, वहाँ सैकड़ों प्रतिबिम्ब और काँचसे अटककर अनेक मुख दीखते हैं। परन्तु सामने स्थित काँचमें अपना चक्षु ही यदि अपने मुखको देखता है, तब एक मुख ही दिखायी देगा, क्योंकि मुख तो एक ही है। इसलिए प्रतिबिम्ब एक भिन्न मायिक पदार्थ है, जिसे मायाने उत्पन्न किया है और वह असत्य है। यह वस्तु ही ऐसी है कि असत्य होते हुए भी वास्तव रूपमें प्रतीत होती है। इसलिए इसे आभास वस्तु माना जाता है। अतएव कहना होगा कि दर्पण देखनेके समय द्वितीय मुख उत्पन्न होनेकी भाँति, अथवा तेजके अभावमें अन्धकार रूप पैदा कर देनेकी भाँति भगवान्‌की माया मोहित पुरुषकी बुद्धिमें दो प्रकारकी विषयता उत्पन्न कर देती है—(१) आच्छादिका, (२) अन्यथा भासिका। इनमेंसे एक विषयता वस्तुकी ब्रह्म रूपताको प्रकाशित नहीं होने देती और दूसरी विषयता जगद्रूपा अन्यथा है। इन दोनों तरहकी मायासे उत्पन्न विषयताको दूर करनेके लिये ही वेद-शास्त्रादि प्रमाण बनाये गये हैं॥३३॥

तथ्य—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदः जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(श्रीगी॰ ७/१२-१४)

जितने भी सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक भावसमूह हैं, वे समस्त मेरी प्रकृतिके गुणकार्य हैं। मैं उन सब गुणोंसे स्वतन्त्र हूँ, किन्तु वे समस्त मेरी शक्तिके अधीन हैं।

पूर्वोक्त त्रिविध गुणमय भावोंके द्वारा सम्पूर्ण जगत् मोहित है। अतः लोग त्रिगुणातीत तथा अविनाशी मुझे नहीं जान पाते हैं।

यह जीव-विमोहिनी और त्रिगुणात्मिका मेरी बहिरङ्गाशक्ति निश्चय ही दुस्तरा है (अर्थात् जिसे पार पाना कठिन है), परन्तु जो मेरा ही आश्रय ग्रहण करते हैं, वे इस मायाको सहज ही पार कर जाते हैं।

भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले।
अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायाञ्च तदपाश्रयाम्॥

यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम्।
परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतञ्चाभिपद्यते॥

(श्रीमद्भा॰ १/७/४-५)

भक्तियोगके प्रभावसे शुद्ध हुए मनके सम्पूर्ण रूपसे एकाग्र होनेपर श्रीव्यासदेवने कान्ति, अंश और स्वरूपशक्तियुक्त पूर्णपुरुष श्रीकृष्णको और उनके पीछे लज्जित भावसे खड़ी हुई उनके आश्रित मायाका दर्शन किया। इस मायाके द्वारा जीवोंका स्वरूप आवृत और विक्षिप्त हो जाता है, फलस्वरूप जीव सत्त्व-रज-तम—इन तीन जड़ीय गुणोंसे अतीत होनेपर भी अपनेको जड़ देह, मन और बुद्धि मान लेते हैं। उस त्रिगुणात्मक अभिमानसे उत्पन्न कर्त्तृत्वादिके कारण जीव संसार वासनाको अर्थात् बद्धावस्थाको प्राप्त होते हैं।

एकमेव परमं तत्त्वं स्वाभाविकाचिन्त्यशक्त्या सर्वदैवस्वरूपत-तद्रुपवैभव-जीव-प्रधानरूपेण चतुर्द्धावतिष्ठते सूर्यान्तरमण्डलस्थित-तेज इव मण्डल-तद्बहिर्गत-तद्रश्मि-तत्प्रतिच्छविरूपेण।

(भगवत्-सन्दर्भ १६)

परमतत्त्व एक हैं। वे स्वाभाविक अचिन्त्यशक्तिसम्पन्न हैं, उसी शक्तिके द्वारा वे सर्वदा स्वरूप, तद्रूपवैभव, जीव और प्रधान—इन चारों रूपोंमें प्रकाशित हैं। इस विषयमें सूर्यमण्डलस्थ तेज, मण्डल, उस मण्डलसे निर्गत सूर्य रश्मियाँ और उनकी प्रतिच्छवि अर्थात् दूरगत प्रतिफलन—ये किञ्चित् उदाहरणके स्थल हैं। तात्पर्य यह है

कि ये चारों प्रकाश जिस प्रकार नित्य हैं, परमतत्त्वका एकत्व भी उसी प्रकार नित्य है। ये दोनों परस्पर नित्य विरुद्ध क्रियाएँ एक ही साथ किस प्रकार सम्भव हैं? इसके उत्तरमें कहते हैं—'अचिन्त्य' अर्थात् जीवकी बुद्धिसे इन्हें समझना असम्भव है, क्योंकि जीवकी बुद्धि सीमित है। परन्तु परमेश्वरकी अचिन्त्यशक्ति द्वारा यह असम्भव नहीं हैं।

कृष्ण—सूर्यसम, माया हय अन्धकार।
जाँहा कृष्ण, ताँहा नाहि मायार अधिकार॥
(चै॰ च॰ म॰ २२/३१)

श्रीकृष्ण सूर्यके समान हैं और माया अन्धकारके समान है। जहाँ श्रीकृष्णरूप सूर्य हैं, वहाँ मायारूप अन्धकारकी सत्ता नहीं है।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं,
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं,
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥
(कठ॰ उ॰ २/२/१५)

उस स्वप्रकाश परब्रह्मको सूर्य-चन्द्र, तारागण या विद्युत् भी प्रकाशित करनेमें असमर्थ हैं, फिर अग्निकी तो बात ही क्या करें? बल्कि उसी स्वप्रकाश-परब्रह्मका आश्रय ग्रहणकर सूर्य आदि दीप्तिशाली वस्तुएँ प्रकाशित रहती हैं, उसी परब्रह्मकी अङ्गकान्तिसे यह समस्त जगत् प्रकाशित होता है।

बहिरङ्गया मायाख्यया प्रतिच्छविगत-वर्णशाबल्यस्थानीय तदीय-बहिरङ्गवैभव-जड़ात्मप्रधानरूपेण।
(भगवत्-सन्दर्भ १६)

श्रीभगवान्‌की बहिरङ्गाशक्ति 'माया' नामसे जानी जाती हैं। इस बहिरङ्गाशक्तिका उदाहरण सूर्यमण्डलकी प्रतिच्छवि अर्थात् दूरगत प्रतिफलनसे उत्पन्न वर्णशाबल्य अर्थात् नाना रङ्गके मिश्रणरूपी

विचित्रताके समान है। इसी मायाके द्वारा उनका बहिरङ्ग वैभव अर्थात् जड़रूपी प्रधान प्रकटित है।

आभासो ज्योतिर्बिम्बस्य स्वीय-प्रकाशात् व्यवहितप्रदेशे कथञ्चि-दुच्छलित प्रतिच्छवि-विशेषः।

(भगवत्-सन्दर्भ १७)

ज्योति स्वरूप बिम्बके अपने प्रकाशसे पृथक् प्रदेशमें किञ्चित् प्रकाशित प्रतिछवि अर्थात् प्रतिफलन विशेषको आभास कहते हैं।

श्रीभूदुर्गेति या भिन्ना जीवमाया महात्मनः।
आत्ममाया तदिच्छा स्याद् गुणमाया जड़ात्मिका॥

(महासंहिता)

श्रीभगवान्की वह माया श्री, भू और दुर्गा नामोंसे भी जानी जाती हैं, जिनका कार्य क्रमशः आत्ममाया अर्थात् भगवान्की इच्छा, जीवोंका प्रकटन तथा त्रिगुणमय जड़जगत्का प्रकटन करना होता है।

माया यैछे दुइ अंश—'निमित्त', 'उपादान'।
माया—'निमित्त' हेतु, उपादान—'प्रधान'॥

पुरुष ईश्वर ऐछे द्विमूर्त्ति हइया।
विश्व-सृष्टि करे 'निमित्त' 'उपादान' लञा॥

आपने पुरुष—विश्वेर 'निमित्त'-कारण।
अद्वैत-रूपे 'उपादान' हन नारायण॥

'निमित्तांशे' करे तैंहो मायाते ईक्षण।
'उपादान' अद्वैत करेन ब्रह्माण्ड-सृजन॥

यद्यपि सांख्य माने, 'प्रधान'—कारण।
जड़ हइते कभु नहे जगत्-सृजन॥

निजसृष्टिशक्ति प्रभु सञ्चारे प्रधाने।
ईश्वरेर शक्त्ये तबे हये त' निर्माणे॥

अद्वैत-आचार्य—कोटिब्रह्माण्डेर कर्त्ता।
आर एक एक मूर्त्ये ब्रह्माण्डेर भर्त्ता॥
(चै॰ च॰ आ॰ ६/१४-२०)

जिस प्रकार मायाके दो अंश हैं—एक 'निमित्त' और दूसरा 'उपादान'। इसमें माया 'निमित्त' कारण तथा 'प्रधान' 'उपादान' कारण है।

उसी प्रकार पुरुष (महाविष्णु) भी दो मूर्त्ति होकर 'निमित्त' और 'उपादान' के द्वारा विश्वकी सृष्टि करते हैं।

पुरुष (महाविष्णु) स्वयं विश्वके 'निमित्त' कारण हैं तथा नारायण अर्थात् महाविष्णु ही अद्वैताचार्यके रूपमें 'उपादान' कारण हैं।

भगवान् महाविष्णु निमित्तांशसे मायामें दृष्टिपात करते हैं और अद्वैताचार्य उपादान कारणसे ब्रह्माण्डका सृजन करते हैं।

यद्यपि सांख्यमतके अनुसार 'प्रधान' कारण है, किन्तु जड़से कभी भी जगत्‌की सृष्टि सम्भव नहीं है।

श्रीभगवान् अपनी सृष्टिशक्तिको प्रधान (जड़शक्ति) में सञ्चारित करते हैं, तभी भगवान्‌की शक्तिसे ही सृष्टि-कार्य होता है।

अद्वैताचार्य एक स्वरूपमें करोड़ों ब्रह्माण्डोंके कर्त्ता हैं तथा अन्य स्वरूपमें ब्रह्माण्डके भर्त्ता—भरण-पोषणकर्त्ता हैं॥३३॥

श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर 'प्रभुपाद'

"अहमेवासमेवाग्रे" श्लोकमें 'अहम्' शब्दसे जो वैशिष्ट्य निरूपित हुआ है तथा व्यतिरेक भावसे उससे जो अवशिष्ट रहता है—वही 'अहं'-नहींके रूपमें निर्दिष्ट हुआ है। यह 'अनहं'-क्रिया वस्तु नहीं है, परन्तु वस्तुकी शक्ति है। वस्तुके भीतर उसकी सम्पूर्ण शक्तिके अन्तर्निहित होनेपर भी शक्ति और शक्तिमानका नित्य वैशिष्ट्य वर्त्तमान है। जो 'अहं' है, उसीका नाम 'माया' है। मायाकी दो प्रकारकी वृत्तियाँ हैं—एक प्रकाशमयी और दूसरी अन्धकारमयी (अर्थात् ज्ञान और अज्ञान)। निमित्तांशसे आभासमयी 'जीवमाया', उपादानांशसे अन्धकारमयी 'गुणमाया' का बोध होता है। ये वैकुण्ठ-

वस्तुकी दो शक्तियाँ हैं। वस्तुकी अन्तरङ्गाशक्तिको 'चिच्छक्ति' कहते हैं तथा उस चिच्छक्तिसे प्रकटित अणुचित् जीव विष्णुकी बहिरङ्गाशक्तिमें विचरण करने योग्य नित्य-स्वभावसे युक्त हैं। वस्तुकी बहिरङ्गाशक्तिसे प्रकटित इस प्राकृत जगत्में माप लेने (measuring tendency) का धर्म नश्वर भावसे अवस्थित है। वैकुण्ठमें वह नित्य संस्थित (सत्तायुक्त) है। विष्णु और विष्णुमायाके बीचमें जो विशेष-धर्म दोनोंका ही परिचय प्रदान करता है, उस विशेष-धर्मकी उद्दिष्ट-वस्तु और उस उद्दिष्ट-वस्तुकी शक्तिकी स्वरूपगत उपलब्धिके लिए ही इन दो श्लोकोंकी प्रवृत्ति है। भगवत्-स्वरूपसे अलग जिस वृत्तिकी उपलब्धि होती है, वही इन्द्रियज्ञानके द्वारा मापी जा सकती है।

अधोक्षज इन्द्रियज्ञानसे अतीत 'अहम्' वस्तुका परिचय अतन्निरसनकारी (यह ब्रह्म नहीं है, यह ब्रह्म नहीं है—ऐसा कहनेवाले) व्यतिरेकभावसे निर्विशिष्ट (निर्विशेष) संज्ञामें प्रतिष्ठित करते हैं। भजनीय वस्तुकी प्रतीतिके अभावमें उपलब्धिकारकका जो भोक्तृ-भाव और जगत्पर प्रभुता करनेका प्रयास है—वह मायिक वृत्ति है। इसमें निष्काम सेवा-प्रवृत्तिका अभाव है। भजनीय वस्तुके बिना वैसी विमोहिनी शक्तिकी प्रतीतिकी सम्भावना नहीं है। परमात्मामें अर्थात् 'अहं' वस्तुमें जिसका अधिष्ठान नहीं है, वही माया है। वस्तुके निमित्तांशका अणुत्व जीवमायासे परिमित होता है। वस्तुके उपादानांशका अणुत्व गुणजात जगत्में अचित् परमाणु रूपमें खण्डित होता है। मायाधीशकी नैमित्तिक और उपादानकारकता सर्वकारण-कारण वस्तुके द्वारा कारण-जलमें ईक्षण रूपसे नित्य प्रतिष्ठित है। वैसा चिन्मय दर्शन मिश्र-चित्-अचित्-धर्मयुक्त नहीं है। कारण-जलमें अवस्थित भगवान्के आविर्भावसे ही नित्य वैकुण्ठ और नश्वर ब्रह्माण्ड प्रकाशित हुए हैं। वस्तुकी शक्ति माया जगत्में दो प्रकारके आकारमें—भोक्ता और भोग्यभावसे अवस्थित है। तद्रूपवैभव—वैकुण्ठ-राज्यमें चिन्मयी प्रकृति उपादानांशमें स्वरूपशक्तिके साथ अभिन्न भावसे अवस्थित है। वहाँ शुद्धजीव मायाको अपने भोक्तृ-रूपमें स्थापित करनेके बदले (स्वयंको) सन्धिनीशक्तिका अंशविशेष जानकर ह्लादिनीके साथ भेदाभेदकी अस्मिता (अहङ्कार) का स्थापन करते हैं। अप्राकृत राज्यमें मुक्त-जीवकी

मायिक नश्वर परिवर्तनशील प्रतीति नहीं है। वहाँ भक्ति-योगमायाके अधीनमें शक्तियाँ भगवत्-सेवामें सर्वदा नियुक्त रहती हैं। वस्तुधर्मके प्रभावसे वहाँ अनुपादेय, हेय, सीमित अभाव आदि किसी प्रकारकी अवरताका स्थान नहीं होता॥३३॥

श्रीश्रीनिवासाचार्यपाद

ननु, इममर्थं सर्वे कथं नानुभवन्ति? तत्राह—ऋतेऽर्थमिति। एतदेव परमकौतुकं; तत् तां भ्रूक्षेपेण सकलभुवनं नखराग्र नर्त्तयन्तीम् आत्मनो मम मायां विद्यात्। ऋते सत्ये, चात्मनि मयि इमम्, अर्थं परमपुरुषार्थरूपं प्रेमाणं, यत् यस्याः प्रभावेन न करोति, नञः प्रथमपदेनान्वयः। आत्मनि आत्मौपम्येषु स्त्रीपुत्रादिषु प्रतीयेत करोति च; वैपरीत्ये दृष्टान्तः—यथाभासः घटादिज्ञानः न करोति, तमस्तु करोत्येव। मम मायैव आमतिशयेन, विद्यात् विद्यामत्तीति॥३३॥

भावानुवाद—यहाँ जिज्ञासा हो सकती है कि इन सब तत्त्वोंका अनुभव सभी व्यक्ति क्यों नहीं कर पाते? इसके उत्तरमें कहते हैं—यही परम कौतुक अर्थात् आश्चर्यका विषय है तथा इस कौतुकको मेरी मायाका प्रभाव जानना होगा। मायाके स्वरूपका निर्देश करते हुए कहते हैं—जो भ्रू-भङ्गिसे ही चौदह भुवनोंको नखाग्रमें नचाती रहती है, वही मेरी माया है। उसका कार्य है—सत्यस्वरूप परमात्मा मुझमें परम-पुरुषार्थरूप प्रेम न होने देना और असत्यस्वरूप आत्म-तुल्य स्त्री-पुत्र आदिमें प्रेमका स्थापन कराना। इस प्रकारकी विपरीतताका दृष्टान्त है—चिन्मय वस्तुके 'आभास' अर्थात् स्फुरणसे घटादिके ज्ञानमें बाधा होती है, अर्थात् जहाँ-तहाँ सर्वत्र इष्ट-वस्तुकी स्फूर्ति होते रहनेसे घट-पटादि वस्तुकी पृथक्-पृथक् सत्ताका अनुभव नहीं होता। चिन्मय वस्तुके सम्बन्धमें 'तम' अर्थात् अज्ञान रहनेके कारण उक्त घट-पटादि ज्ञानके साधन बनते हैं अर्थात् इष्ट-वस्तु विषयक अज्ञान ही घट-पटादि पृथक्-पृथक् वस्तुओंके अस्तित्त्वका ज्ञान उत्पन्न कराता है। मेरी यही माया विद्याको सम्पूर्ण रूपसे आच्छादित रखती है॥३३॥

षष्ठ-श्लोक

चतुःश्लोकीके अन्तर्गत तृतीय श्लोक—श्रीभगवान् द्वारा अपनी चित्-विलास क्रीड़ाके प्रकारका अथवा प्रेमके रहस्य स्वरूप होनेका वर्णन

यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्॥

(श्रीमद्भा॰ २/९/३४)

अन्वय

यथा महान्ति भूतानि (जिस प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि आदि महाभूत) उच्चावचेषु (देव-तिर्यक् आदि उच्च-नीच) भूतेषु (प्राणियोंके देहोंमें) अनु (सृष्टिके पश्चात्) प्रविष्टानि (प्रविष्ट होकर) [भी] अप्रविष्टानि (अप्रविष्ट रूपसे) [प्रारम्भसे ही स्वतन्त्र कारण रूपमें वर्त्तमान हैं] तथा (उसी प्रकार) अहम् (मैं) [भी] तेषु (भूतमय जगत्में तथा सभी प्राणियोंमें) [प्रविष्ट होकर भी] न तेषु (उनमें अप्रविष्ट हूँ)॥३४॥

अनुवाद

जिस प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि आदि महाभूत देव-तिर्यक् आदि उच्च-नीच भूतों (प्राणियों) में प्रविष्ट होकर भी अप्रविष्ट रूपसे स्वतन्त्र होकर वर्त्तमान हैं, उसी प्रकार मैं भी भूतमय जगत्में सभी प्राणियोंमें (सत्त्वाश्रयरूप परमात्मभावसे) प्रविष्ट होकर भी पृथक् भगवत्-स्वरूपमें सभीके भीतरमें और बाहरमें स्फुरित होता हूँ॥३४॥

श्रीभक्तिविनोद ठाकुर

अब रहस्यतत्त्वका श्रवण करो। यह जड़जगत् मिथ्या नहीं है, यह मेरी शक्तिकी परिणति है और मेरे सत्-रूपमें उसके भीतरमें होनेके

कारण सत्य है। सत्य होनेपर भी इसका आगमापायी (पुनः-पुनः आने और जानेवाला) प्रकाश नश्वर है। इस जगत्में सभी महाभूत उच्च-नीच प्राणियोंमें प्रविष्ट होकर भी महाभूत रूपमें उनमें प्रविष्ट नहीं हैं। उसी प्रकार मैं भी शक्ति-परिणत जगत्में अनुप्रविष्ट होकर भी अपने चित्-धाम गोलोक-वृन्दावन और परव्योमादिमें अपने स्वरूपमें पूर्ण रूपसे विद्यमान हूँ। जीवशक्तिकी परिणतिरूप समस्त जीव स्वभावतः मेरे प्रणत दास हैं। उनके भीतर परमात्मरूपमें प्रविष्ट रहनेपर भी मेरे चित्-धाममें प्रेम-प्राप्त जीवोंके साथ मेरी लीला निरन्तर चलती रहती है। (श्रीभागवतार्कमरीचिमाला १०/६)।

जिस प्रकार समस्त महाभूत बृहत् और क्षुद्र भूतों (प्राणियों) में प्रविष्ट होकर भी अप्रविष्ट रूपमें स्वतन्त्र रूपसे वर्त्तमान रहते हैं, उसी प्रकार मैं प्राणीमय जगत्में सभी प्राणियोंमें सत्त्वाश्रयरूप परमात्मभावसे प्रविष्ट होकर भी पृथक् भगवत्-रूपमें नित्य विराजमान रहता हूँ और भक्तोंका एकमात्र प्रेमास्पद हूँ। तात्पर्य यह है कि यह पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश रूप महाभूत पञ्चीकृत होकर अर्थात् पाँचों मिलकर जिस प्रकार स्थूल जगत्को प्रकाश करते हैं और उनके उपकरणरूपमें उनके बीच स्थित रहनेपर भी महाभूत-अवस्थामें स्वतन्त्र विद्यमान हैं, उसी प्रकार चिन्मय परमेश्वर अपनी जड़शक्ति और जीवशक्तिके द्वारा जगत्की सृष्टि करके अपने एक अंशसे जगत्में सर्वव्यापी रहकर भी युगपत् अपने चित्-धाममें पूर्ण चित्-विग्रहमें नित्य विराजमान रहते हैं। पुनः चित्-विग्रहकी किरण-परमाणुरूप जीव शुद्ध प्रेममार्ग (रागमार्ग) द्वारा उनके विमल प्रेमका आस्वादन करते हैं—यही रहस्य है। (श्रीचैतन्यचरितामृत आदि लीला १/५५का अमृतप्रवाह-भाष्य)॥३४॥

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीपाद

एवं मायां-योगमायाञ्च तन्त्रेणैव लक्षयित्वा, ताभ्यामधिकृतेषु सगुण-निर्गुणलोकेषु ब्रह्मणा पृष्टं स्वक्रीड़ाप्रकारं तन्त्रेणैवाह—यथेति। यथा महाभूतान्याकाशादीनि भूतेषु देवमनुष्यतिर्यगादिषु अनुप्रविष्टानि तेषूपलभ्यमानत्वात् अप्रविष्टानि च पृथग्विद्यमानत्वात्, तथा तेषु भूतभौतिकेष्वहं प्रविष्टः सन्नपि पृथक् शुद्धसत्त्वात्मक-स्वधामनि वर्त्तमानत्वादप्रविष्टश्चास्मि। किन्तु, महाभूतानामचेतनत्वादेव भूतेषु प्रवेश आसङ्गरहितः,

मम तु चेतनत्वेऽपि आकाशवदसौ स्वगृहेष्वलिप्त एव वसतीतिवत् तेषु सर्वेषु प्रवेष-नियमन-पालनादीन्यासङ्गरहितापीत्येवंभूता भूतेषु मायिकेष्वासङ्गरहितैव क्रीड़ेति भावः। तथा तेषु प्रसिद्धेषु नतेषु प्रणतभक्तजनेषु प्रविष्टोऽन्तःकरणेषु दर्शनं दातुं, तथा अप्रविष्टः बहिःस्थितश्च तेषां नयनेषु स्वसौन्दर्यमर्पयितुं, नासासु स्वसौरभ्यं प्रवेशयितुं, तैः सहोक्तिप्रत्युक्ती कुर्वन् तेषां कर्णेषु स्वसौस्वर्यामृतं पूरयितुं, स्पर्शनालिङ्गनादिदानैस्तेषामङ्गेषु स्वीयसौकुमार्यमाधुर्यादिकं चानुभावयितुमिति तेषु गुणातीतभक्तेष्वन्तर्बहिर्मया त्यक्तुमशक्येष्वासङ्गसहितैव मम क्रीड़ेति भावः॥३४॥

भावानुवाद—इस प्रकार माया और योगमायाका विस्तारसे निरूपण करके, श्रीब्रह्माके द्वारा पूछे गये उन माया और योगमायाके अधिकृत सगुण और निर्गुण लोकोंमें अपनी चित्-विलास-क्रीड़ाके प्रकारका विषय श्रीभगवान् विस्तारपूर्वक 'यथा' आदि श्लोकमें कह रहे हैं। जिस प्रकार देव, मनुष्य और तिर्यक् (पशु-पक्षी) आदि प्राणियोंमें आकाश आदि महाभूतोंकी सत्ता विद्यमान रहनेके कारण उन सभी प्राणियोंमें समस्त महाभूत अनुप्रविष्ट हैं और पुनः पृथक् विद्यमान रहनेके कारण वे (आकाशादि महाभूत) प्राणियोंमें अप्रविष्ट भी हैं, उसी प्रकार मैं इन प्राणियों और भौतिक वस्तुओंमें प्रविष्ट होकर भी पृथक् शुद्ध-सत्त्वात्मक अपने धाममें (श्रीगोलोक-वृन्दावन आदि धाममें) वर्त्तमान रहनेके कारण इन समस्त पदार्थोंमें अप्रविष्ट रहता हूँ। किन्तु पार्थक्य यह है कि महाभूतोंके अचेतन होनेके कारण ही समस्त प्राणियोंमें उनका प्रवेश आसक्तिरहित है, किन्तु मेरे चेतन होनेपर भी "आकाशके समान निर्लिप्त होकर ही वे अपने गृहमें वास करते हैं"—इस वचनके समान, उन सब प्राणियों और वस्तुओमें मेरा प्रवेश, नियमन अर्थात् शासन, और पालनादि जो क्रियाएँ हैं, वे सभी आसक्तिरहित हैं। इसी प्रकारसे ही मायिक प्राणियों और वस्तुओंमें मेरी आसक्तिरहित क्रीड़ा होती है।

परन्तु उन प्रसिद्ध 'नतेषु' अर्थात् प्रणत भक्तोंके अन्तःकरणमें दर्शन प्रदान करनेके लिए ही मैं उनमें प्रविष्ट रहता हूँ। तथा उनके नेत्रोंको अपना सौन्दर्य दिखलानेके लिए, उनकी नासिकामें अपने अङ्गोंकी सुगन्ध सुँघानेके लिए, उनके साथ बातचीत करते-करते उनके कानोंमें अपनी मधुर स्वररूपी अमृतकी लहरी उड़ेलनेके लिए, स्पर्श और आलिङ्गन आदिके दान द्वारा उनके अङ्गोंमें अपनी

सुकुमारता और माधुर्य आदिका अनुभव करानेके लिए मैं अप्रविष्ट अर्थात् बाहरमें अवस्थान करता हूँ। मैं उन गुणातीत भक्तोंको परित्याग करनेमें असमर्थ हूँ, इसलिए उन भक्तोंके भीतर और बाहरमें परम आसक्ति सहित मेरा नित्य विलास होता है—यह भाव है॥३४॥

श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीपाद

(क)

आमाते ये 'प्रीति', सेइ 'प्रेम'—'प्रयोजन'।
कार्यद्वारे कहि तार 'स्वरूप'-लक्षण॥

पञ्चभूत यैछे भूतेर भितरे-बाहिरे।
भक्तगणे स्फुरि आमि बाहिरे-अन्तरे॥

भक्त आमा बान्धियाछे हृदय-कमले।
याँहा नेत्र पड़े, ताहाँ देखये आमारे॥

(चै॰ च॰ म॰ २५/१२२-१२३, १२५)

(ख)

'विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।
प्रणय-रसनया धृताङ्घ्रिपद्मः स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥'

(चै॰ च॰ म॰ २५/१२६ में उद्धृत श्रीमद्भा॰ ११/२/५५)

(ग)

'गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता विचिक्युरुन्मत्तकवद्वनाद्वनम्।
पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन्॥'

(चै॰ च॰ म॰ २५/१२८ में उद्धृत श्रीमद्भा॰ १०/३०/४)

(घ)

सर्वदा ईश्वर-तत्त्व अचिन्त्यशक्ति हय॥

आमि त' जगते बसि, जगत् आमाते।
ना आमि जगते बसि, ना आमा जगते॥

अचिन्त्य ऐश्वर्य एइ जानिह आमार।
एइ त' गीतार अर्थ कैल परचार॥

(चै॰ च॰ आ॰ ५/८८-९०)

(च)

अतएव भागवते एइ 'तिन' कय।
सम्बन्ध-अभिधेय-प्रयोजन-मय ॥
(चै॰ च॰ म॰ २५/१२९)

भावानुवाद—(क) मेरे प्रति जो प्रीति है, वही 'प्रेम' रूपी 'प्रयोजन' है। अब मैं उस प्रेमके स्वरूप-लक्षणको व्यावहारिक रूपमें (अर्थात् उसके कार्यानुसार) कहूँगा।

जिस प्रकार पञ्चभूत समस्त प्राणियोंके बाहर और भीतरमें विद्यमान हैं, उसी प्रकार मैं (भगवान्) भी भक्तोंके बाहर और भीतर (हृदय) में स्फुरित होता हूँ।

विशुद्ध भक्तगण प्रेमरूप रज्जुसे मुझे अपने हृदयरूपी कमलमें बाँध लेते हैं। अतएव जहाँ भी उनकी दृष्टि पड़ती है, वे सर्वत्र मुझे ही देखते हैं।

(ख) विवशतासे भी जिनका नाम उच्चारण करनेपर जो उच्चारणकारीके समस्त पापोंको विनष्ट कर देते हैं, वैसे श्रीहरि अपने चरणकमलोंके परमप्रेमके बन्धनमें बँध जानेके कारण जिन भक्तोंके हृदयका परित्याग करनेमें असमर्थ हो जाते हैं, वे भक्त ही उत्तम भागवतके रूपमें जाने जाते हैं।

(ग) गोपियाँ परस्पर मिलकर उच्च स्वरसे कृष्णनामका गान करने लगीं और उन्मत्तकी भाँति एक वनसे दूसरे वनमें जा-जाकर श्रीकृष्णको ढूँढ़ने लगीं। श्रीकृष्ण तो आकाशके समान समस्त जड़-चेतन पदार्थोंमें तथा उनके बाहर भी सर्वत्र एकरसमें ही स्थित हैं। परन्तु उन्हें न देखकर गोपियाँ वनस्पतियोंसे अर्थात् पेड़-पौधोंसे उनके विषयमें पूछने लगीं।

(घ) श्रीमद्भगवद्गीतामें भी पुनः-पुनः कथित हुआ है कि ईश्वरतत्त्व सर्वदा ही अचिन्त्यशक्तियोंसे युक्त है।

मैं जगत्में अवस्थित हूँ और जगत् मुझमें, परन्तु साथ-ही-साथ न तो मैं जगत्में अवस्थित हूँ और न ही जगत् मुझमें अवस्थित रहता है।

हे अर्जुन! तुम इसे मेरे अचिन्त्य ऐश्वर्यके रूपमें ही जानों।—भगवान् श्रीकृष्णने श्रीगीताके इस अर्थका प्रचार किया।

(च) [श्रीचैतन्य महाप्रभुने प्रकाशानन्द सरस्वतीसे कहा] अतएव भगवान्से सम्बन्ध, भक्तिरूपी अभिधेय तथा प्रेमरूपी प्रयोजन—इन तीनों विषयोंका ही श्रीमद्भागवतमें वर्णन है॥३४॥

श्रीजीव गोस्वामीपाद

अथ तस्यैव प्रेम्णो रहस्यत्वं बोधयति—यथा महान्तीति। यथा महाभूतानि भूतेष्वप्रविष्टानि बहिःस्थितान्यप्यनुप्रविष्टान्यन्तःस्थितानि भान्ति, तथा लोकातीत-वैकुण्ठस्थितत्वेनाप्रविष्टोऽप्यहं तेषु तत्तद्गुण-विख्यातेषु न तेषु प्रणतजनेषु प्रविष्टो हृदि स्थितोऽहं भामि। तत्र महाभूतानामंशभेदेन प्रवेशाप्रवेशौ, तस्य तु प्रकाशभेदेनेति भेदेऽपि प्रवेशाप्रवेशमात्रसाम्येन दृष्टान्तः। तदेवं तेषां तादृगात्मवशकारिणी प्रेमभक्तिर्नाम रहस्यमिति सूचितम्। तथा च ब्रह्मसंहितायाम् (५/३७, ३८)—*'आनन्दचिन्मयरस-प्रतिभाविताभिस्ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभिः। गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥ प्रेमाञ्जनच्छुरित-भक्तिविलोचनेन सन्तः सदैव हृदयेऽपि विलोकयन्ति। तं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥'* इति। अचिन्त्यगुणस्वरूपमपि प्रेमाख्यं यदञ्जनं तेनच्छुरितवदुच्चैः प्रकाशमानं भक्तिरूपं विलोचनं तेनेत्यर्थः; (श्रीगी॰ ९/२९) *'ये भजन्ति च मां भक्त्या मयि ते तेषु चात्यहम्'* इति गीतोपनिषदश्च। यद्वा, तेषु यथा तानि बहिःस्थितानि चान्तःस्थितानि च भान्ति, तद्वत् भक्तेष्वप्यहमन्तर्मनोवृत्तिषु बहिरिन्द्रियवृत्तिषु च विस्फुरामीति। भक्तेषु सर्वथानन्यवृत्तिताहेतुर्नाम किमपि स्वप्रकाशं प्रेमाख्यमानन्दात्मकं वस्तु मम रहस्यमिति व्यञ्जितम्। तथैव श्रीब्रह्मणोक्तम् (श्रीमद्भा॰ २/६/३४)—*'न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः। न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे यन्मे हृदौत्कण्ठ्यवता धृतो हरिः॥'* इति। यद्यपि व्याख्यान्तरानुसारेणायंअर्थोऽपलपनीयः स्यात्तथाप्यस्मिन्नेवार्थे तात्पर्यम्—प्रतिज्ञाचतुष्टय-साधनायोपक्रान्तत्वात् तदनुक्रमगतत्वाच्च। किञ्च, तस्मिन्नर्थे न तेष्विति छिन्नपदमपि व्यर्थं स्यात्—दृष्टान्तस्यैव क्रियाभ्यामन्वयोपपत्तेः। अपि च रहस्यं नाम ह्येतदेव—यत् परमदुर्लभं वस्तु, दुष्टोदासीनजन-दृष्टि-निवारणार्थं साधारणवस्त्वन्तरेणाच्छाद्यते, यथा चिन्तामणिः सम्पुटादिना। अतएव (श्रीमद्भा॰ ११/२१/३५)—*'परोक्षवादा ऋषयः परोक्षञ्च मम प्रियम्'* इति श्रीभगवद्वाक्यम्। तदेव च परोक्षं क्रियते—यददेयं विरलप्रचारं महद्वस्तु भवति, तस्यैवादेयत्वं विरलप्रचारत्वं महत्वञ्च (श्रीमद्भा॰ ५/६/१८) *'मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्'* इत्यादौ, (श्रीमद्भा॰ ६/१४/५) *'मुक्तानामपि सिद्धानाम्'* इत्यादौ, (श्रीमद्भा॰ ३/२५/३२) *'भक्तिः*

सिद्धेर्गरीयसी' इत्यादौ च बहुत्र व्यक्तम्। स्वयञ्चैतदेव श्रीभगवता परमभक्ताभ्या-मर्जुनोद्धवाभ्यां कण्ठोक्त्यैव कथितम् (श्रीगी॰ १८/६४) *'सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वच'* इत्यादिना, (श्रीमद्भा॰ ११/११/४९) *'सुगोप्यमपि वक्ष्यामि'* इत्यादिना च। इदमेव रहस्यं श्रीनारदाय स्वयं श्रीब्रह्मणैव प्रकटीकृतम् (श्रीमद्भा॰ २/७/५१, ५२)—*'इदं भागवतं नाम यन्मे भगवतोदितम्। संग्रहोऽयं विभूतीनां त्वमेतत् विपुलीकुरु॥ यथा हरौ भगवति नृणां भक्तिर्भविष्यति। सर्वात्मन्यखिलाधार इति संकल्प्य वर्णय॥'* इति। तस्मात् साधु व्याख्यातं स्वामिचरणैरपि (श्रीमद्भा॰ २/९/३०—भावार्थ-दीपिका) *'रहस्यं भक्तिः'* इति॥३४॥

भावानुवाद—तदुपरान्त प्रस्तुत श्लोकमें उस प्रेमके रहस्यत्व (अर्थात् रहस्यरूपमें होने) को ही समझा रहे हैं—जिस प्रकार महाभूतसमूह प्राणियोंमें अप्रविष्ट अर्थात् उनके बाहरमें स्थित होकर भी उनमें अनुप्रविष्ट हैं अर्थात् उनके भीतरमें अवस्थित होकर प्रकाशमान हैं, उसी प्रकार मैं लोकातीत वैकुण्ठमें अवस्थित होनेके कारण अप्रविष्ट रहकर भी उन सब गुणोंसे गुणवान प्रणत भक्तोंके हृदयमें अवस्थित होकर विराजमान हूँ। यहाँ महाभूतोंका प्रवेश और अप्रवेश महाभूतोंके अंश भेदसे होता है, किन्तु भगवान्‌का प्रवेश और अप्रवेश भगवान्‌के प्रकाश भेदसे हुआ करता है। दोनोंमें ऐसा भेद रहनेपर भी यहाँ केवल प्रवेश और अप्रवेशरूप क्रियावशतः ही समानताका उदाहरण दिया गया है। इस प्रकारसे उन भक्तोंका वैसा आत्मवशीकारक (भगवान्‌को वशीभूत करनेवाला) 'प्रेमभक्ति' नामक रहस्य सूचित हुआ है। जैसा कि ब्रह्मसंहिता (५/३७-३८) में कहा गया है—"आनन्द चिन्मयरसके द्वारा प्रतिभावित उनके चित्-रूपके अनुरूप चौंसठ कलाओंसे युक्त जो ह्लादिनीशक्तिरूपा श्रीराधा और उनकी कायव्यूहरूप सखियाँ हैं, उनके साथ जो अखिलात्मभूत श्रीगोविन्द नित्य अपने गोलोकधाममें वास करते हैं, उन आदिपुरुष श्रीगोविन्दका मैं भजन करता हूँ। प्रेमरूपी अञ्जन द्वारा रञ्जित भक्ति-चक्षुओंसे युक्त साधुजन जिन अचिन्त्यगुणोंसे युक्त श्यामसुन्दर श्रीकृष्णका अपने हृदयमें सर्वदा ही अवलोकन करते हैं, उन आदिपुरुष श्रीगोविन्दका मैं भजन करता हूँ।" अर्थात् अचिन्त्यगुणस्वरूप होकर भी अञ्जनलिप्त चक्षुके समान अत्यधिक प्रकाशमान 'प्रेम'

नामक जो भक्तिरूप चक्षु हैं, उन चक्षुओंके द्वारा ही श्रीकृष्णका दर्शन होता है। श्रीगीता (९/२९) में भी कहा गया है—"जो मेरा भक्तिपूर्वक भजन करते हैं, वे मुझमें आसक्त रहते हैं और मैं भी उनमें आसक्त रहता हूँ।"

अथवा समस्त महाभूत जिस प्रकार प्राणियोंके बाहर और भीतरमें अवस्थित होकर प्रकाशमान हैं, उसी प्रकार मैं भी भक्तोंकी अन्तर्मनोवृत्ति (अन्तःकरण) और बाहरी इन्द्रियवृत्तियोंमें स्फुरित होता हूँ। भक्तोंमें सर्वथा अनन्यवृत्तिके कारणरूप जो कुछ स्वप्रकाश 'प्रेम' नामक आनन्दात्मक वस्तु विद्यमान है, वह मेरा रहस्य है—यह सूचित हुआ है। श्रीब्रह्माने भी ऐसा ही कहा है (श्रीमद्भा॰ २/६/३४)—"हे नारद! मैंने भक्तिपूर्वक हृदयमें श्रीहरिका ध्यान और धारणा की है, इसलिए मेरे वचन और मनकी वृत्ति कभी भी मिथ्या नहीं होती तथा इन्द्रियाँ भी असत् पथकी ओर नहीं दौड़ती हैं।" यद्यपि अन्य प्रकारकी अर्थात् ज्ञानमूलक व्याख्याके अनुसार इस अर्थको छिपाया जा सकता है, तथापि यह अर्थ ही इसका तात्पर्य है। इसका कारण यह है कि जो छह प्रकारके तात्पर्य निर्णयके लक्षण बतलाये गये हैं, उनमेंसे चतुःश्लोकीके उपक्रम अर्थात् श्रीभगवान्‌के द्वारा की गयीं चार प्रकारकी प्रतिज्ञाओं (श्रीमद्भा॰ २/९/३०—ज्ञान, विज्ञान, रहस्य और तदङ्ग) के साधनके लिए यह श्लोक अनुक्रम है। तथा उक्त ज्ञानपरक अर्थसे 'न तेषु' यह छिन्नपद व्यर्थ हो जाता है; क्योंकि इस दृष्टान्तमें 'अप्रविष्ट' और 'प्रविष्ट'—इन दो क्रियाओंके द्वारा ही अन्वयकी संगति हो जाती है। एक बात और भी है कि जिस प्रकार चिन्तामणि डिबियामें ढकी रहती है, उसी प्रकार 'रहस्य' नामक यह जो परम दुर्लभ वस्तु है, उसे दुष्ट और उदासीन जनोंकी दृष्टिसे दूर रखनेके लिए ही अन्य साधारण वस्तु द्वारा ढका गया है। अतएव श्रीमद्भागवत (११/२१/३५) में श्रीभगवान्‌के वचन हैं—"हे ऋषियो! परोक्षवाद ही मुझे प्रिय है।" जो वस्तु अदेय है, जिसका प्रचार विरल है और जो महत् (महान) है, उसका ही परोक्ष किया जाता है। यह भक्तियोग भी अदेय, विरल-प्रचार और महत् है। जैसा कि श्रीमद्भागवत (५/६/१८) में भगवान्‌ने स्वयं कहा है—"मैं कभी-कभी मुक्ति तक भी

प्रदान कर देता हूँ, किन्तु भक्तियोग सहजमें किसीको प्रदान नहीं करता।" आदि, (श्रीमद्भा॰ ६/१४/५) "कोटि-कोटि मुक्त और सिद्धपुरुषोंमें भी प्रशान्तात्मा नारायण-परायण भक्त अति विरल हैं।" आदि तथा (श्रीमद्भा॰ ३/२५/३२) "भक्ति मुक्तिसे भी परमश्रेष्ठ है।" आदि सर्वत्र व्यक्त है। और स्वयं श्रीभगवान्ने भी दोनों परम भक्तों—अर्जुन तथा उद्धवको क्रमशः श्रीगीता और श्रीमद्भागवतमें अपने मुखकमलसे इसी विषयको कहा है—"पुनः मेरे सर्वगुह्यतम वचन (अर्थात् 'मेरे शरणागत हो जाओ') को श्रवण करो" (श्रीगी॰ १८/६४), तथा "अति गोपनीय होनेपर भी मैं तुम्हें यह बतला रहा हूँ" (श्रीमद्भा॰ ११/११/४९)—आदि। स्वयं ब्रह्माजीने भी श्रीनारदको यह रहस्य बतलाया है, यथा (श्रीमद्भा॰ २/७/५१-५२)—"हे नारद! तुम्हारे निकट मैंने जो कुछ कहा, इसका नाम भागवत-शास्त्र है—भगवान् श्रीविष्णुने इसे मेरे निकट प्रकटित किया है, इसमें भगवान्की लीलाओंका संक्षेपमें वर्णन किया गया है, अब तुम इसका विस्तृत रूपसे वर्णन करो। जिस प्रकारसे सबके आधारस्वरूप सर्वात्मा भगवान् श्रीहरिमें मनुष्योंकी भक्ति उदित हो, तुम उसे स्थिर करके उन भगवान्की लीलाओंका वर्णन करो।" इसलिए श्रीधरस्वामिपादने 'रहस्य' शब्दका जो भक्ति-अर्थ किया है, वह अत्यन्त सुन्दर हुआ है॥३४॥

श्रीश्रीधर-स्वामीपाद

यथाभास इत्येतत् स्पष्टयति—यथा महाभूतानि भौतिकेषु अनु सृष्टेरनन्तरं प्रविष्टानि, तेषु उपलभ्यमानत्वात्; अप्रविष्टानि च, प्रागेव कारणतया तेष्वविद्यमानत्वात्; तथा तेषु भूतभौतिकेष्वहम्, न च तेष्वहम्। एवम्भूता मम सत्तेत्यर्थः॥३४॥

भावानुवाद—पूर्वश्लोकमें कथित 'यथाभास' विचारको ही इस श्लोकमें परिस्फुटित कर रहे हैं। सृष्टिके पश्चात् जिस प्रकार महाभूतसमूह भौतिक देहादि वस्तुओंमें प्रविष्ट अथवा व्याप्त होकर रहते हैं, क्योंकि उन वस्तुओंमें महाभूतसमूहकी उपलब्धि होती है, तथा पहलेसे ही कारण रूपसे उनमें अवस्थान न करनेके कारण जिस प्रकार महाभूतसमूह अप्रविष्ट अर्थात् स्वतन्त्र रूपमें भी वर्त्तमान रहते हैं, उसी प्रकार इन समस्त प्राणियोंमें मेरे अन्तर्यामी रूपमें प्रविष्ट

अथवा व्याप्त रहनेपर भी वस्तुतः मैं उनमें आबद्ध न होकर स्वतन्त्र रूपमें नित्य विराजमान रहता हूँ—मेरी सत्ता इस प्रकारकी जानो॥३४॥

श्रीमध्वाचार्यपाद

यथा महान्ति भूतानि शरीरेषु बहिस्तथा।
एवं हरिश्च भूतेषु बहिश्च व्याप्ति-हेतुतः।
तस्मात्तत्स्थो न तत्स्थश्च प्रोच्यते हरिरीश्वरः।

इति॥३४॥

भावानुवाद—जिस प्रकार महाभूत प्राणियोंके देहके भीतर तथा बाहरमें भी अवस्थित हैं, उसी प्रकार श्रीहरि भी विभुत्व और अणुत्वके कारण प्राणियोंके भीतर और बाहरमें अवस्थित हैं। इसलिए परमेश्वर श्रीहरिको उनके बाहर तथा भीतर दोनोंमें अवस्थित कहा जाता है॥३४॥

श्रीविजयध्वज तीर्थपाद

भगवान् स्वव्याप्तिं सोदाहरणमुपदिशतीत्याह—यथा महान्तीति। यथा महान्ति पञ्चभूतानि उच्चावचेषुभूतेषु स्वकार्यशरीरेषु प्रविष्टानि वर्तते, ततोऽप्यधिकव्याप्ति सद्भावात् तेष्वप्रविष्टानि च, तथा अहमप्यनन्तदेशकालव्यापी तेषु भूतेषु प्रविष्टः, तेभ्यो बहिरपि स्थितत्वात् तेषु न प्रविष्टश्च—यथामहान्ति भूतानिशरीरेषु बहिस्तथेत्यादेः॥३४॥

भावानुवाद—श्रीभगवान् उदाहरणके साथ अपनी व्याप्तिका उपदेश कर रहे हैं। जिस प्रकार पञ्चमहाभूत उच्च-नीच प्राणियोंमें अर्थात् अपने-अपने कार्यरूप शरीरोंमें प्रविष्ट रहते हैं, तथा उससे भी अधिक व्याप्त सत्ता होनेके कारण वे पञ्चमहाभूत उन प्राणियोंमें अप्रविष्ट अर्थात् उनके बाहर भी रहते हैं, उसी प्रकार मैं भी अनन्त-देश-काल-व्यापी होकर भी उन सब भूतोंमें प्रविष्ट हूँ तथा उनके बाहर भी रहनेके कारण उनमें अप्रविष्ट हूँ॥३४॥

श्रीवीरराघवाचार्यपाद

एवं परस्परविलक्षणं चिदचित्स्वरूपमुक्तं, अथ एतयोः स्वस्यानुप्रवेशेन तत्प्रशासनरूपं पालनं, तद्भूत दोषास्पर्शञ्चाह—यथेति। महान्ति भूतानी आकाशवायुतेजांसि यथोच्चावचेषु

नानाविधेषु भुतेषु भौतिकेषु घटादिषु प्रविष्टान्यप्रविष्टान्येव—घटादिगतभेदच्छेदनाद्यस्पृष्टत्वात्, तथा अहमपि तेषु चेतनाचेतनेषु आत्मतयानुप्रविष्टोऽपि तेषु न प्रविष्टः, न तद्वतदापैः स्पृष्ट इत्यर्थः। यद्वा, परिच्छिन्नचेतनाचेतनवस्त्वनुप्रवेशेपि स्वस्यापरिच्छिन्नत्वं सदृष्टान्तमाह—यथेति। अप्रविष्टानि बहिरपि संति, तथा अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्येति प्रकारेण तेषु प्रविष्टोऽहं न तेष्वेव, बहिरपि व्याप्त इत्यर्थः। एवं अपरिच्छिन्नत्व प्रतिपादनेन *'यावानहं'* इत्येतत्स्पष्टीकृतं; *'अहमेवासं'* इत्यत्र जगत्कारणत्व, तदाक्षिप्त चेतनाचेतनवैलक्षणय-सार्वज्ञ्य-सर्वशक्तित्वादि प्रतिपादनेन *'यथाभावः'* इत्येतत्स्पष्टीकृतं; *'ऋतेऽर्थं'* इत्यादिना परमात्मशरीरभूतस्य परस्परविलक्षण चेतनाचेतनस्वरूप प्रतिपादनेन *'यद्रूप'* इति स्पष्टीकृतं; *'तथातेषु'* इत्यनेन चेतनाचेतनयोः परमात्मशरीरत्व प्रतिपादनात् शरीरगता धर्मा जीवात्मनस्तच्छरीरगत बालत्वयुवत्वादय इव मच्छरीरभूत चेतनाचेतन द्वारा ममैव धर्मा इति प्रतीतेः *'यद्गुण'* इत्यभिव्यञ्जितम्; *'अहमेवासं'* इत्यनेन स्रष्टृत्व-पालकत्वसंहर्त्तत्वरूप जगद्वयापाररूप कर्म प्रतिपादनेन *'यत्कर्मक'* इत्यभिव्यक्तीकृतम्॥३४॥

भावानुवाद—इस प्रकार परस्पर विलक्षण चित्-अचित् स्वरूपको कहा गया है। अनन्तर श्रीभगवान् इन दोनोंमें अपने अनुप्रवेश द्वारा उनका प्रशासनरूप पालन और उससे उत्पन्न दोषका अस्पर्श भी बतला रहे हैं। आकाश, वायु और तेज आदि सभी महाभूत जिस प्रकार उच्च-नीच विभिन्न प्राणियोंमें और घटादि-भौतिक पदार्थोंमें प्रविष्ट होकर भी घटादिके भेद और छेदनादि दोषोंसे अस्पृष्ट होनेके कारण उनमें अप्रविष्ट हैं, उसी प्रकार मैं भी उन सब चेतन और अचेतनसमूहमें आत्मरूपसे अनुप्रविष्ट होकर भी उन सबमें अप्रविष्ट हूँ—उनके दोषोंके द्वारा स्पृष्ट नहीं हूँ। अथवा परिच्छिन्न चेतन और अचेतन वस्तुओंमें अनुप्रवेश करनेपर भी श्रीभगवान् अपनी अपरिच्छिन्नताको दृष्टान्तके साथ कह रहे हैं—जिस प्रकार महाभूतसमूह भीतर और बाहरमें सर्वत्र व्याप्त हैं, उसी प्रकार मैं भी समस्त प्राणियोंमें प्रविष्ट होकर भी उन सबके बाहर भी व्याप्त हूँ।

इस प्रकार अपरिच्छिन्नताके प्रतिपादन द्वारा श्लोक (३१) का 'यावानहं' विषय स्पष्टीकृत हुआ है। 'अहमेवासम्' श्लोक (३२) में जगत्कारणत्व, उनके द्वारा आक्षिप्त चेतन-अचेतन-विलक्षणता, सर्वज्ञता, सर्वशक्तित्त्व आदि प्रतिपादनपूर्वक श्लोक (३१) का 'यथाभावः' स्पष्टीकृत हुआ है। 'ऋतेऽर्थं' श्लोक (३३) में परमात्म-शरीरभूत

तत्त्वके परस्पर विलक्षण चेतन-अचेतन-स्वरूपके प्रतिपादन द्वारा (३१वें श्लोकका) 'यद्रूप' स्पष्टीकृत हुआ है। इस (३४) श्लोकमें 'तथा तेषु' द्वारा चेतनाचेतनके परमात्म-शरीरत्व प्रतिपादन हेतु शरीरगत धर्म अर्थात् जीवात्माके शरीरगत बाल्य, यौवन आदि धर्मोंके समान मेरे शरीरभूत चेतनाचेतन द्वारा मेरे ही धर्मके रूपमें प्रतीतिसे (३१वें श्लोकका) 'यद्गुण' पद स्पष्ट हुआ है। (३२वें श्लोकके) 'अहमेवासम्' पद द्वारा सृष्टि, पालन और संहाररूप जगत्-क्रियारूप लीलाके प्रतिपादन द्वारा 'यत्कर्मकः' (३१वें श्लोकका) पद स्पष्ट किया गया है॥३४॥

श्रीशुकदेवपाद

यथात्ममायायोगेन विश्वं विसृजन् विलुम्पन् भगवान् क्रीडति, तद्विषया मनीषा संक्षेपतः चतुरानने अर्पिता, माया च दर्शिता। अथ विश्वसृष्ट्यादिहेतोः आत्मनो विश्वगतदोषास्पृष्टत्वं, परिच्छिन्नेषु अनुप्रविष्टस्यापि अपरिच्छिन्नत्वं चाह—यथेति। यथा महान्ति भूतानि खवातादीनि उच्चावचेषु भौतिकेषु घटपटादिषु भेदक्लेदाद्यर्हेषु परिच्छिन्नेषु अनुसृष्टेरनन्तरं प्रविष्टान्यपि अप्रविष्टानि; घटपटादिवत् भेदक्लेददोषा-स्पृष्टत्वात् घटपटादिभिरनावृतत्वाच्च, तथा तेषु महाभूतेषु ब्रह्माण्डरूपेण स्थितेषु *'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'* इति श्रुत्युक्तरीत्या अनुप्रविष्टोऽस्मि, तद्गतदोषास्पृष्टत्वात् तैरनावृतत्वाच्च। एवं, चिदचिदात्मकं जगत्कारणं मां ज्ञात्वा ज्ञानविज्ञानवान् भवति। ज्ञाने जाते परममङ्गलगुणशक्त्याद्याश्रये ज्ञेये भक्तियोगेन कृतार्थो भवतीति सूक्ष्मभागवतसिद्धान्तः॥३४॥

भावानुवाद—श्रीभगवान् जिस भावसे आत्ममायाके योगसे विश्वकी विशेषभावसे सृष्टि और विलोपकर लीला करते हैं, उस विषयमें श्रीभगवान्ने चतुरानन (ब्रह्मा) को मनीषा (बुद्धि) दी है तथा अपनी माया भी दिखलायी है। तत्पश्चात् विश्व-सृष्टि आदिके हेतु स्वयंमें विश्वगत दोषके स्पर्शका अभाव और परिच्छिन्न वस्तुओंमें अनुप्रविष्ट रहनेपर भी अपनी अपरिच्छिन्नता बतला रहे हैं। जिस प्रकार आकाश, वायु आदि समस्त महाभूत उच्च-नीच भौतिक भेद-क्लेद योग्य परिच्छिन्न घट-पटादिमें अनुसृष्टिके पश्चात् प्रविष्ट होकर भी घट-पटादिके समान भेद-क्लेद-दोषसे अस्पृष्ट और घट-पटादिके द्वारा आवृत न होनेके कारण अप्रविष्ट हैं, उसी प्रकार "तत्सृष्ट्वा

तदेवानुप्राविशत् अर्थात् उसकी सृष्टि करके उसमें ही अनुप्रविष्ट होते हैं"—इस वेदोक्त-रीतिके अनुसार मैं ब्रह्माण्ड रूपमें स्थित महाभूतोंमें अनुप्रविष्ट होकर भी उनके दोषोंसे अस्पृष्ट और उनके द्वारा अनावृत होनेके कारण उनमें अप्रविष्ट हूँ। इस प्रकार मुझे ही चिदचिदात्मक जगत्का कारण जानकर मानव ज्ञानवान और विज्ञानवान होता है। ज्ञान होनेसे परममङ्गल गुण-शक्तिके आश्रयभूत 'ज्ञेयतत्त्व'—मुझमें प्रेमभक्ति-योगका उदय कराकर कृतार्थ होता है—यही सूक्ष्म भागवत-सिद्धान्त है॥३४॥

श्रीवल्लभाचार्यपाद

एवं प्रमेयं-प्रमाणं च निरूप्य विषयं निरूपयति—'यथा महान्ति भूतानि' इति। वेदेन हि प्रकारद्वयेन पदार्थान् निरूप्यन्ते—साकारो-निराकारः; सावयवो-निरवयवः; पूर्णः-परिच्छिन्न इत्यादि प्रकारेण। तदुभयमपि यथा विषयो भवति तदर्थमिदमारभ्यते। अन्यथा एकपक्षो विषयता स्यात्, तथा सति वेदानामंशतोऽप्रामाण्यं भवेत्। अतः सर्ववेदप्रामाण्यसिद्धये उभयविधो विषयो निरूप्यते। यथा महान्ति भूतानि आकाशादीनि भूतेषु घटादिषु उच्चावचेषु अनेकरूपेषु स्थूलसूक्ष्मदीर्घह्रस्ववक्रत्वादि भिन्नेषु कारणत्वेन प्रविष्टानि, पुनः अनुप्रविष्टानि भवन्ति, ततोऽप्यप्रविष्टानि भवन्ति। तथा अहं सर्वत्र कारणभूतः सर्वत्रानुप्रविष्टोऽपि न कारणभूतो, नानुप्रविष्ट इत्यर्थः। 'तेषु' इति पुनर्वचनं वाक्यद्वयबोधार्थम्; अन्यथा, नकारः पूर्ववाक्य एव सम्बध्येत। कारणं हि कार्ये अनुप्रविशति, कार्यं च कारणे समवेतमुत्पद्यते; अन्यथा, पटस्य निराधारतोत्पत्ति स्यात्। तथा सति नोत्पद्यते उत्पद्यमानं वा सर्वत्रोत्पद्येत। यथा घटो भगवान् यथा शब्दः। कुम्भकारकृत्या प्राकृत एव घट उत्पद्यते, विषयतावत्। ननु भगवद्रूपः सिद्धत्वात् शब्दोपि ताल्वोष्ठपुटव्यापारेणोत्पद्यमानः सर्वत्रैव श्रोत्रेषूत्पद्यते, एवं निराधारः पटोऽपि भवेत्। तथा सति तन्त्वाधारतया उत्पन्ने पटे यदि तन्तवो न प्रविशेयुः, तदा पटे तन्तुप्रतीतिर्न स्यात्; जायमाना वा भ्रान्ता स्यात्। अबाधितत्वाच्च न भ्रान्ता। शुष्का तु युक्तिः क्वापि पदमलभमाना स्वयमेव भ्रान्ता भवति। अतः एकस्यैव आधारत्वमाधेयत्वं च कारणकाले-कार्यकाले च व्यवस्थितं भवति। एवं महाभूतेषु त्रयं—आधारत्वं, आधेयत्वं, विशेषत आधेयत्वमिति; तदाह—'प्रविष्टान्यप्रविष्टानि' इति। अथवा, महाभूतेषु पञ्चधाकारणत्वेन, पूर्वमेव तत्र विद्यमानत्वेन, महाभूतत्वेन चेत्यप्रवेशस्त्रेधा। कारणप्रवेशवत्प्रवेशत्वेन, पृथक् प्रवेशत्वेन च प्रवेशो द्वेधा। 'तथातेषु' इति पञ्चधापि, 'न तेषु' इति पुनः पञ्चधा। एवं भगवति दशधा भवति। तथा सति सर्वत्र जगति भगवान् दशविधलीलायुक्तो दशधा ज्ञातव्याः॥३४॥

भावानुवाद—इस प्रकार प्रमेय—भगवत्-स्वरूप और प्रमाण—वेदादिका निरूपण करके अब विषय जगद्रूप भगवान्‌का निरूपण "यथा महान्ति" आदि श्लोक द्वारा कर रहे हैं। वेदोंमें दो-दो प्रकारसे वस्तुका निरूपण किया गया है। साकार-निराकार, सावयव-निरवयव, पूर्ण-परिच्छिन्न आदि। ये दोनों (प्रकार) ही जिस प्रकार ज्ञानका विषय हो जायँ अर्थात् जिस प्रकारके निरूपणसे समझमें आ सके, उसके लिए इस प्रसङ्गका आरम्भ किया जा रहा है। यदि ऐसा निरूपण न किया जाय तो दोनोंमेंसे एक पक्ष (वस्तु) मायिक हो जायेगा। वेद वस्तुके दोनों प्रकारको ही ब्रह्म कहता है, अतः यदि साकार या निराकारमेंसे एक मायिक हो जायेगा तो वेद भी एक अंशमें अप्रमाणिक हो जायेगा। अतः समस्त प्रकारसे वेदोंकी प्रमाणिकताकी सिद्धिके लिए दोनों प्रकारसे विषय वस्तुका निरूपण करते हुए "यथा महान्ति" आदि कह रहे हैं। जिस प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश आदि महाभूत उच्च-नीच अनेक प्रकारसे स्थूल, सूक्ष्म, ह्रस्व, दीर्घ, सरल, वक्र आदि विभिन्न रूपसे घटादिमें कारण रूपसे प्रविष्ट हैं और पुनः कार्य रूपसे अनेक प्रकारसे अनुप्रविष्ट हुए हैं और प्रथमतः कारण रूपमें विद्यमान रहनेके कारण अप्रविष्ट ही हैं और कहीं-कहीं अनुप्रविष्ट नहीं भी हैं। उसी प्रकारसे मैं (भगवान्) भी सत्-आदि स्वरूपसे सर्वत्र विद्यमान रहते हुए भी कारण रूपसे (तत्त्व रूपसे) प्रविष्ट होता हूँ और जीवादि रूपसे अनुप्रविष्ट होता हूँ। तथापि वास्तवमें पहलेसे ही सर्वत्र विद्यमान होनेके कारण अनुप्रविष्ट नहीं हूँ, तथा कारणरूप भी नहीं हूँ। प्रविष्ट और अनुप्रविष्टके अन्वयको लेकर दो वाक्य होते हैं, इसलिए पुनः शब्द कहा गया है। अथवा महाभूत और भगवान् दोनोंके लिए दो वाक्य हैं और दोनोंमें 'न' कारका अन्वय है, इसलिए पुनः शब्द कहा गया है, अन्यथा 'न' कारका अन्वय "महान्ति भूतानि" के साथ ही होता।

कारण ही कार्यमें प्रविष्ट होता है और कार्य भी कारणमें मिलित होकर ही उत्पन्न होता है। यदि बादमें भी कार्यमें कारणका प्रवेश नहीं रहता तो पटरूप कार्यकी उत्पत्ति निराधार माननी पड़ती, किन्तु ऐसा नहीं है। तन्तु कारण रूपसे प्रथम विद्यमान रहते हैं, किन्तु पटरूप

कार्य हो जानेपर भी वे पुनः प्रवेश करते हैं। पहले उनका कारणरूप है और कार्य होनेके बाद उनका आधाररूप है। यदि आधार रूपसे कारणका अनुप्रवेश नहीं हो तो पटकी उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। तन्तुओंसे ही पट तथा मिट्टीसे ही घट उत्पन्न होता है, अगर यह नियम नहीं रहेगा तब घट-पट सर्वत्र उत्पन्न होने लगेगा। कारणमें कार्य समवेत सम्बन्धसे ही उत्पन्न होता है। इसीलिए पूर्वोक्त नियम प्रत्यक्ष है, अर्थात् जैसे घटरूपी भगवान्, वैसे ही शब्द। शब्द कारण रूपसे कार्यमें पहलेसे ही वर्त्तमान है और कार्यमें मिला हुआ ही प्रकाशित होता है।

यदि कोई कहे कि घट नित्य कहाँ है, उसे तो कुम्हार बनाता है, नित्य होता तो बनाया कैसे जाता? इसके उत्तरमें कहते हैं कि कुम्हार तो प्राकृत विषयता रूप, अथवा सत्यासत्य घटको बनाता है, भगवद्रूप घटको नहीं बनाता। भगवद्रूप घट तो नित्य है। नित्य रहनेवाला घट बादमें उस घटमें अनुप्रवेश करता है। "गणं युगपदा विशत् तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्" आदि भागवत, वेद आदिके वचनोंसे यह स्पष्ट है। उसी प्रकार शब्द भी नित्य है, किन्तु तालु, ओष्ठ, पुट आदिकी चेष्टासे अभिव्यक्त होता हुआ सर्वत्र ही श्रोत्र (कानों) में उत्पन्न कहा जाता है। इस प्रकारका अनुप्रवेश पटमें भी है, अन्यथा पट निराधार उत्पन्न होता, परन्तु ऐसा नहीं होता है। यदि तन्त्वाधार पटमें आधार रूपसे तन्तु प्रविष्ट न हुए होते तो पटमें तन्तुओंकी प्रतीति नहीं होती, परन्तु प्रतीति होती है। अथवा भ्रान्त मानी जाती हो, किन्तु ऐसा भी नहीं है। प्रतीति होती है और वह भ्रम भी नहीं है। इस प्रमाण सिद्ध वस्तुको असिद्ध करनेके लिए यदि युक्ति की जाय तो वह स्वयं भ्रमरूपमें सिद्ध होगी।

यद्यपि ब्राह्म और पाद्म दोनों प्रकारकी विश्व सृष्टियाँ भगवद्रूप हैं, तथापि दोनों भिन्न-भिन्न हैं। जैसे घटित पात्र और पूरित पात्र। यद्यपि दोनों ताम्रसे ही बने हैं, तथापि भिन्न-भिन्न हैं। वेदोक्त ब्राह्म-जगत्में दो क्रम हैं—युगपत् और क्रमिक सर्ग तथा पाद्म जगत् (सर्ग) में भी दो भेद हैं। पूरित पात्रकी भाँति पाद्म सर्गमें कुछ मायाका भी अंश है। जिस प्रकार पूरित पात्रमें आकार साँचेका रहता है और

बाकी सब अंश ताम्र–ही–ताम्र है, उसी प्रकार पौराणिक पाद्म सर्गमें दो बीज हैं—आत्मा और माया। वैदिक ब्राह्म–जगत्‌में मायाका कोई भी अंश नहीं, सब कुछ आधार–आधेय ब्रह्म–ही–ब्रह्म हैं। जैसे घटित पात्रमें आकार आदि सब कुछ घट (मिट्टी) से तैयार किये जाते हैं, उसी प्रकार ब्राह्म–जगत्‌में भी "एकोऽहं बहुस्यां" इस इच्छासे और "तस्माद्वा एतस्मात्" इन वचनोंसे क्रमशः सब कुछ भगवान् हो जाता है। इसमें अन्य किसीका सम्बन्ध नहीं है। इसी ब्राह्म–सृष्टिमें दूसरा युगपत् सर्ग है। "यथाग्नेः क्षुद्राः", "तथाऽक्षरात् संभवतीह विश्वं" आदि वचनोंमें ब्राह्म युगपत् सर्गका निरूपण है। इसमें भी दूसरे किसीका सम्बन्ध नहीं है। शुद्ध ब्रह्म–ही–ब्रह्म हैं।

"इदं सर्वं यदयमात्मा", "सर्वं खल्विदं ब्रह्म", "पुरुष एवदं सर्वम्", "स आत्मानं स्वयमकुरुत" आदि श्रुतिसमूह केवल ब्रह्मसे ही विश्वकी उत्पत्ति कह रही है। शुद्ध ब्रह्ममात्र हैं।

किन्तु पाद्म–सर्ग पुराणोक्त है। यह पूरित पात्रकी तरह द्विबीज है। जैसे पात्र बनानेवाले पात्रका साँचा बनाकर द्रवीभूत पीतलको उसमें भर देते हैं और वह साँचेमें जाकर पात्रका आकार ग्रहण करता है, इसलिए इसमें दो कारण हैं—पीतल और साँचा। उसी प्रकार जब ब्रह्म अपनी माया (प्रकृति) शक्तिका प्रयोग करते हैं, तब यह विश्वका आकार होता है। इसमें दो बीज हैं—बह्म और माया। इसमें सत्य और असत्यका मेल है। इस विषयसे सम्बन्धित "द्वे अस्य बीजे", "द्विधा समभवत् बृहत्", "माया नाम महाभाग ययेदं निर्ममे विभुः", "सदसद्रूपया चासौ गुणमय्यागुणोविभुः" आदि पुराण वचन प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार तीन प्रकारके सर्ग हैं। इनकी पारमार्थिक सत्ता है। अब एक अन्य विश्व भी है जो माया–मनोमय है और जिसके विषयमें "विद्धि माया मनोमयम्", "मायामयं वेद स वेद वेदम्" आदि पुराण वचन प्रमाण रूपमें हैं। इसकी प्रतिभासिक (मायिक) सत्ता है, अथवा वाचिकी सत्ता है। यह जगत् केवल कहनेमात्रका है, वास्तवमें असत् है। इस तरह चार प्रकारका जगत् है और केवल तीन प्रकारकी ही सत्ता है—यह सिद्ध होता है।

यदि आकाश-पुष्पादिकी वाचिक सत्ताको भी सत्ता स्वीकार किया जाय तो फिर चार ही प्रपञ्च हैं और चारोंकी ही सत्ता होती है। उनमें दो प्रपञ्च उत्कृष्ट (ब्रह्म) सत्तावाले हैं। एक वैदिक ब्राह्म कल्पीय जगत् और दूसरा पाद्म कल्पीय पौराणिक प्रपञ्च। तीसरा पौराण प्रपञ्च निकृष्ट मायिक व्यवहारिक सत्तावाला विश्व है। चौथा विश्व बिलकुल असत् है, जिसकी सत्ता केवल वाचिक है। तथापि सभी प्रपञ्चोंमें भगवान्‌की स्थिति कहीं किसी रूपसे और अन्यत्र कहीं किसी अन्य रूपसे विद्यमान है। ये बात "सानुप्रविष्टो भगवान्", "परेण विषता स्वेन मायया" आदि भागवत्‌में प्रसिद्ध है।

इसलिए एक ही महाभूतका आधारत्व-आधेय और विशेष आधेयत्व सिद्ध है। कारणकालमें और कार्यकालमें पृथ्वी आदि सभी महाभूतोंका आधारत्व और आधेयत्व है। इस पक्षमें सप्तभेद ही होते हैं, इसलिए पक्षान्तरमें कहते हैं 'अथवा'। पृथ्वी आदि पाँचों महाभूत पाँच प्रकारसे कारण हैं, इसलिए उनका अप्रवेश है। वही कार्योंमें पहलेसे ही विद्यमान है, इस प्रकारसे भी अप्रवेश है और स्वयं महाभूत हैं ही, इसलिए भी अप्रवेश कहा जाता है। इस प्रकार अप्रवेश तीन प्रकारका है और प्रवेश दो प्रकारका है—कारण प्रवेश सहित प्रवेश और विशेष रूपसे पृथक् प्रवेश। इसी प्रकार 'तथातेषु'—इस मूल श्लोकके कथनानुसार पाँच प्रकार हुए। अब 'न तेषु' का पद भी मूल श्लोकमें है। तदनुसार पाँच अन्य प्रकार भी होते हैं। इस तरह जैसे पाँच महाभूत दस प्रकार (कार्य और कारण) से विद्यमान है, इसी दस प्रकारसे भगवान् भी हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण विश्वमें दशविध लीलायुक्त भगवान् दस प्रकारसे ज्ञातव्य हैं। इस प्रकार निरूपण करनेसे वेद किसी भी अंशमें अप्रमाणिक नहीं होते॥३४॥

श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर 'प्रभुपाद'

प्राकृत जगत्‌के दृष्टान्तमें महाभूतोंके अखण्डित और खण्डित भावसे अवस्थान करनेपर जिस प्रकार अधिष्ठान स्वीकृत होता है, उसी प्रकार साधनभक्तिके प्रभावसे जात-रति भक्तोंके हृदयमें प्रविष्ट

होकर अर्थात् उनके प्रेमसे बाध्य होकर वैकुण्ठ-वस्तुका बाह्यदर्शन सम्भव नहीं है और अन्तर्दर्शनमें भक्तोंके प्रेमसे बाध्य होकर भक्त-हृदयमें अधिष्ठान भी उसी प्रकार है। भगवत्-वस्तु मायिक वस्तुके भीतरमें वैकुण्ठ-धर्मसे रहित होकर अवस्थान नहीं करती, पुनः मायासे मुक्त सेवोन्मुख प्रपन्न भक्तोंके हृदयमें वैकुण्ठ-वस्तुका अवस्थान है—ऐसा कहनेके उद्देश्यसे लौकिक दृष्टान्त स्वरूप महाभूत और खण्ड-भूतोंके प्रवेश और अप्रवेशकी बात कही गयी है। बाह्य अक्षजज्ञानमें वैकुण्ठमें अवस्थित वस्तु किसी भी प्रकारसे जीव-स्वरूपमें अधिष्ठित होनेके योग्य न होनेपर भी जीवकी प्राप्य वृत्ति—प्रेमके विषयीभूत होती है।

महाभूतोंके अचित् पदार्थ होनेके कारण अंशके साथ पूर्णका एकत्व रूपमें अनुभव नहीं होता। अचित् राज्यमें अखण्ड महाभूतोंका अस्तित्व एक प्रकारके विचारसे खण्डित अचित् वस्तु-विशेषमें सम्यक् रूपसे अवस्थित नहीं हो सकता, फिर भी अचित्के तद्-तद् अंश उनमें अनुप्रविष्ट हैं। पूर्णभावसे अनुप्रविष्ट विचार करनेपर अप्रविष्ट स्थिर होता है। उसी प्रकार अणुचित् जीवोंमें विभु चित्का अनुप्रवेश प्राकृत विचारसे असम्भव होनेपर भी भगवान् भक्तोंके हृदयमें अवस्थान करते हैं। श्रीभगवान्के भक्तोंका हृदय वृन्दावन (स्वरूप) है अर्थात् भगवान्का वैकुण्ठ-स्वरूप-वैभव (अर्थात् कुण्ठारहित स्वरूप-वैभव) है। उस अवस्थामें भक्तोंके हृदयमें भगवान्का प्राकट्य सम्भव है। पुनः विभुचित् और अणुचित्के वैचित्र्यके विचारसे तत्त्वतः ऐसी धारणा अचित्-विचारके समान अंश-अंशी भेदसे तुल्य नहीं होती। अन्तर्यामी सूक्ष्म भावसे खण्डित अचित् वस्तुओंमें महाभूतोंका अधिष्ठान कराके अनुप्रविष्ट रहते हैं। पुनः बाह्य विचारसे महाभूतोंका सम्पूर्ण अप्रवेश सिद्ध होता है। अणुचित् जीव अनन्तकी सेवा निर्माण करनेमें समर्थ हैं, इससे उनका सेवक-भाव परिवर्तित नहीं होता। परन्तु प्रेम-परिप्लुत होकर वे भी वैकुण्ठसे अभिन्न रूपमें अनुभूत होते हैं। यह श्लोक प्रयोजन-विचारमें उदाहृत हुआ है। उत्क्रान्त (उन्नत) दशामें भगवत् प्रेम-सेवा परायण जीवोंके हृदयमें अन्य किसीका भी स्थान नहीं होता।

अन्येर हृदय—मन, मोर मन—वृन्दावन,
'मने' 'वने' एक करि' जानि।
ताहे तोमार पदद्वय, कराह यदि उदय,
तबे तोमार पूर्णकृपा मानि॥
(चै॰ च॰ म॰ १३/१३७)

[श्रीराधिकाके भावमें विभावित होकर प्रेमपुरुषोत्तम श्रीचैतन्य महाप्रभु कह रहे हैं—]"अन्योंका हृदय और मन एक ही तात्पर्य पर है, किन्तु मेरा मन वृन्दावनसे कभी भी पृथक् नहीं है, अर्थात् मैं अपने मन और वृन्दावनको एक ही मानती हूँ। यदि आप अपने दोनों चरणकमलोंको मेरे मनरूपी वृन्दावनमें उदय करायेंगे, तभी मैं अपनेपर आपकी सम्पूर्ण कृपा मानूँगी।"

प्रयोजन-विचारमें अचिन्त्यभेदाभेद-तत्त्व प्राप्य है, यही इस श्लोकके द्वारा वर्णित हुआ है॥३४॥

श्रीश्रीनिवासाचार्यपाद

पुनरपि महाशयः आत्मनो विभुत्व-परिच्छिन्नत्वे लीलायाः प्रकटत्वाप्रकटत्वे दृष्टान्तेन निरूपयति—यथा महान्तीति। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानि विभूनि परिच्छिन्नानि च, प्रकटान्यप्रकटानि च; पृथिवी व्यापिका अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डात्मिका, परिच्छिन्ना लोष्ट्रादिरूपा। जलं व्यापि कारणार्णवरूपं ब्रह्माण्डाधारम्, परिच्छिन्नं करकादिरूपम्। तेजो व्यापि सूक्ष्मं ब्रह्मादिरूपं, परिच्छिन्नं दीपशिखादिरूपम्। वायुर्व्यापी सर्वगतः, परिच्छिन्नो वात्यादिरूपः। आकाशं सर्वगतः व्यापि, परिच्छिन्नं घटाकाशादिरूपम्। एवमहं—*'न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम्'* (श्रीमद्भा॰ १०/९/१३) इत्यादिना विभुः। *'बबन्ध प्राकृतं यथा'* (श्रीमद्भा॰ १०/९/१४) इत्यादिना परिच्छिन्नः। अनन्तकोटिब्रह्माण्डान्तर्यामितया विभुः, द्विभुज-चतुर्भुजादिरूपतया परिछिन्नः। तथाहि—*'विभुरपि भुजयुग्मोत्सङ्गपर्याप्तमूर्त्तिः'* (श्रीभक्तिरसामृते २/१/१९८) अचिन्त्यानन्त-शक्तित्वात्। परं पृथिव्याद्यपञ्चीकृतास्तन्मात्रगन्धादिरूपाः प्रविष्टा अदृश्याः, सूक्ष्मरूपाः योगिप्रत्यक्षाः। अप्रविष्टाश्च स्थूलरूपाः पञ्चीकृता मूर्त्तिमत्त्वाच्च। त्वमहं विराड़न्तर्यामितया प्रविष्टः, द्विभुजादिरूप्यप्रविष्टः। तथाच गीतोपनिषदि (विभुत्वे) *'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्'* (श्रीगी॰ १०/४२), *'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'* (श्रीगी॰ १८/६१) इत्यादि—*'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'* (श्रीगी॰ ७/१४), *'मामप्राप्यैव कौन्तेय'* (श्रीगी॰ १६/२०), मां कृष्णरूपं परिछिन्नम्।

परञ्च—यद्वगोहाशरीरिणी आकाशवाण्यादिकमपि श्रूयते, तदपरिच्छिन्नस्य। एवं मम लीलाया अपि अपरिच्छिन्नत्व-परिच्छिन्नत्वे यथा—*'सदानन्तैः प्रकाशैः स्वैर्लीलाभिश्च स दीव्यति'* (लघुभागवतामृते १/७१५) इत्यत्रानन्त-शब्देनापरिच्छिन्नत्वम्। *'गोकुले मथुरायाञ्च द्वारवत्यां ततः क्रमात्'* (भावार्थदीपिका १०, उपक्रमणिका ६) इत्यनेन परिच्छिन्नत्वम्। क्वचित् प्रकटत्वं क्वचिदप्रकटत्वम्; यथा—*'मथुरा भगवान् यत्र नित्यं सन्निहितो हरिः।'* (श्रीमद्भा॰ १०/१/२८) इत्यादिना प्रकटलीलायां द्वारकायां *'श्रियःपतिः स्वजन्मना चंक्रमणेन चाञ्चति'* (श्रीमद्भा॰ १/१०/२६) इति द्वारकावासिवर्त्तमानकालप्रयोगात् गोकुले च अप्रकटनित्यलीला सूच्यते इति दिक्॥३४॥

भावानुवाद—पुनः महाशय (श्रीकृष्ण) अपने स्वरूपकी विभुता और परिच्छिन्नता तथा लीलाकी प्रकटता और अप्रकटता विषयोंको दृष्टान्त सहित निरूपण कर रहे हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश आदि पञ्च-महाभूत युगपत् विभु और परिच्छिन्न तथा प्रकट और अप्रकट रूपमें विराजमान रहते हैं।

विभु रूपमें पृथ्वी अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंमें व्याप्त है तथा लोष्ट्र (मिट्टीके ढेले) आदिके रूपमें परिच्छिन्न (सीमित) है; विभु रूपमें जल अर्थात् कारण-समुद्र ब्रह्माण्डका आधार है और ओलेके रूपमें परिच्छिन्न है; विभु रूपमें अग्नि सूक्ष्म, ब्रह्म आदि स्वरूप है और दीप-शिखादि रूपमें परिच्छिन्न है; विभु रूपमें वायु सर्वगत होकर व्यापी है तथा तूफान या बवण्डर रूपमें परिच्छिन्न है; विभु रूपमें आकाश भी सर्वगत होकर व्यापी है और घटाकाशादि रूपमें परिच्छिन्न है। इसी प्रकार मैं भी विभु हूँ और इस विषयमें प्रमाण है (श्रीमद्भा॰ १०/९/१३)—"जिनका अन्तर-बाहर नहीं है अर्थात् जो सर्वत्र व्यापक हैं और जिनके सम्बन्धमें पूर्व-परवर्ती काल-विभाग नहीं होता अर्थात् जो सर्वकाल व्यापी हैं।" आदि। विभु होनेपर भी मैं परिच्छिन्न हो जाता हूँ, इसका भी प्रमाण श्रीमद्भागवत (१०/९/१४) में है—"माँ यशोदा प्राकृत बालकके समान उन्हें बाँध लेती हैं।" आदि। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डके अन्तर्यामी रूपमें मैं विभु (असीम) हूँ और द्विभुज-चतुर्भुजादि स्वरूपमें मैं परिच्छिन्न (ससीम) हूँ। श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु (२/१/१९८) में कथित है—"विभु होनेपर भी वे माताकी दोनों भुजाओंके बीच उनकी गोदमें पूर्ण रूपमें प्रकाशित हैं।" असीम होनेपर

भी ससीम होना उनकी अचिन्त्य अनन्त शक्तिके बलसे ही सम्भव है।

दूसरी ओर, पृथ्वी आदि पञ्चभूत जब अपञ्चीकृत (अविमिश्रित) अवस्थामें तन्मात्र—गन्धादि रूपमें रहते हैं, तब वे प्रविष्ट अर्थात् सूक्ष्म रूपमें रहनेके कारण साधारण लोगोंके अदृश्य होनेपर भी योगियोंके प्रत्यक्ष होते हैं। किन्तु पुनः जब वे पञ्चीकृत (मिश्रित) अवस्थामें स्थूल रूपसे प्रकाशित होकर मूर्त्ति धारण करते हैं, तब वे सब अप्रविष्ट (दृष्ट) होते हैं। उसी प्रकार श्रीभगवान् भी विराट पुरुषमें अन्तर्यामी स्वरूपसे प्रविष्ट (अदृश्य) हैं तथा द्विभुज आदि रूपमें अप्रविष्ट (दृश्य) हैं। विभुताका प्रमाण गीता (१०/४२) में है—"मैं अपने एकांशसे इस समस्त जगत्को धारण कर अवस्थित हूँ।" तथा गीता (१८/६१)—"हे अर्जुन! सर्वान्तर्यामी परमात्मा सभी जीवोंके हृदयमें अवस्थान करते हैं।" आदि। तथा परिछिन्नताका प्रमाण गीता (७/१४) में है—"जो मेरा ही आश्रय ग्रहण करते हैं, वे ही उस मायाको पार कर जाते हैं।" तथा गीता (१६/२०)—"मुझे प्राप्त नहीं करनेके कारण उससे भी अधम गति प्राप्त करते हैं।" यहाँ 'माम्' शब्दसे श्रीकृष्ण रूपमें परिच्छिन्न मूर्त्तिका बोध होता है।

दैववाणीका उल्लेख आदि भी अपरिच्छिन्नताका प्रमाण है। इसी प्रकार श्रीभगवान्‌की लीलाकी भी अपरिच्छिन्नता और परिच्छिन्नता है। असीमताका प्रमाण है (लघुभागवतामृत १/७/१५)—"श्रीकृष्ण नित्यकाल अनन्त प्रकाशमें असाधारण लीलाविनोद करते हैं।" यहाँपर 'अनन्त' शब्द लीलाकी असीमताका वाचक है। तथा "वे गोकुल, मथुरा और द्वारकामें क्रमशः लीला विस्तार करते हैं।" भावार्थदीपिका (१० उपक्रमणिका ६) के प्रमाणानुसार लीलाकी परिच्छिन्नता भी जाननी होगी।

पुनः कहींपर प्रकटता तथा उस समय अन्यत्र अप्रकटता जाननी होगी। श्रीमद्भागवत (१०/१/२८) में कथित है—"मथुरामें भगवान् श्रीहरिः नित्य विराजमान हैं।"—इस वचनके द्वारा मथुरा अर्थात् मथुरामण्डलमें नित्य विराजमानतासे द्वारकामें अप्रकट रूपमें नित्यलीलाकी सूचना होती है। पुनः श्रीकृष्णके द्वारा द्वारकामें अवस्थानके समयमें

भी द्वारकावासियोंकी उक्ति (श्रीमद्भा० १/१०/२६) है—"श्रीपति श्रीकृष्ण जन्म ग्रहण करके यदुवंशको और लीला-विनोदके द्वारा मधुपुरीको धन्य कर रहे हैं"—इस पदमें वर्त्तमान कालका प्रयोग हुआ है। इससे गोकुलमें भी अप्रकट नित्यलीला इङ्गित हो रही है। अतएव यह स्वीकार करना होगा कि श्रीकृष्णकी लीलामात्र ही नित्य है, एक स्थानपर आविर्भाव होनेपर अन्यत्र भी अर्थात् अप्रकट-प्रकाशमें समजातीय लीलाविनोद नित्यकाल ही विद्यमान रहता है॥३४॥

सप्तम-श्लोक

चतुःश्लोकीके अन्तर्गत चतुर्थ श्लोक—श्रीभगवान्‌के द्वारा भगवत्-प्रेमके अङ्ग—साधनके अति रहस्यमय होनेके कारण बहिरङ्ग व्यक्तियोंके अगोचर रूपमें ही उसका उपदेश

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनात्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा॥

(श्रीमद्भा॰ २/९/३५)

अन्वय

आत्मनः तत्त्व (आत्मतत्त्वके) जिज्ञासुना (जिज्ञासु व्यक्ति) [मेरे स्वरूपतत्त्वका] अन्वय (अनुवृत्ति या विधि) [और] व्यतिरेकाभ्यां (व्यावृत्ति या निषेध क्रमसे) [विचार करके] यत् (जो वस्तु) सर्वत्र (सर्वत्र) [और] सर्वदा (सर्वदा) [नित्य] स्यात् (है) एतावत् (उस विषयमें) एव (ही) जिज्ञास्यं (परिप्रश्न करेंगे)॥३५॥

अनुवाद

आत्मतत्त्वके जिज्ञासु व्यक्ति मेरे स्वरूपतत्त्वका अनुवृत्ति और व्यावृत्ति (निष्कासन) क्रमसे अथवा विधि-निषेध द्वारा विचार करके जो वस्तु सर्वत्र और सर्वदा नित्य है, उस विषयमें ही परिप्रश्न करेंगे॥३५॥

श्रीभक्तिविनोद ठाकुर

मैं स्वरूप, स्वरूप-वैभव, जीव और प्रधान रूपमें अवभासित अर्थात् दिखायी देनेपर भी नित्य, अखण्ड और अद्वयतत्त्व हूँ। मायाबद्ध जीव इस तत्त्वकी उपलब्धि न करनेके कारण कितने प्रकारके वितर्क करते हैं। उनका कर्त्तव्य यह है कि मेरी कृपासे प्राप्त शास्त्रके अभिधेयको अन्वय-व्यतिरेक अर्थात् विधि-निषेध अथवा

विधि-रागके भेदसे सद्गुरुके चरणोंमें जिज्ञासा द्वारा जो सर्वदा सर्वत्र सत्यके रूपमें स्थिर हो, उसके साधनमें प्रवृत्त हों। (श्रीभागवतार्क-मरीचिमाला १०/७)।

श्रीमद्भागवतमें महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवका मत सम्पूर्ण रूपमें विद्यमान है। भागवत ग्रन्थमें अठारह हजार श्लोक हैं। उन अठारह हजार श्लोकोंमें जो कुछ भी है, उसका मूल इन चार श्लोकोंमें ही है। 'अहमेव' श्लोकमें भगवत्-तत्त्व, भगवत्-स्वरूप, उनके गुण और लीला संक्षेपमें वर्णित हैं; 'ऋते अर्थं' श्लोकमें भगवत्-स्वरूप-तत्त्वसे पृथक् रूपमें प्रतिभात मायातत्त्व और उस मायातत्त्वके सम्बन्धसे उदित मायाशक्तिके वशयोग्य जीवतत्त्व और जीवोंका भोगायतन (भोग-आवास) जड़तत्त्व विचारित हुआ है। इन दोनों श्लोकोंमें सम्बन्धज्ञान सम्पूर्ण रूपसे ज्ञातव्य है। "यथा महान्ति" श्लोकमें जीव और जड़से भगवत्-तत्त्वका अचिन्त्य भेदाभेद होनेपर भी श्रीभगवान्‌के नित्य स्वरूपका पृथक् अवस्थान और जीवोंके द्वारा उनके चरणाश्रयके क्रमसे महाप्रेम सम्पत्ति लाभरूप परम प्रयोजन कथित हुआ है। "एतावदेव" श्लोकमें उस परम प्रयोजनको प्राप्त करनेका एकमात्र उपायस्वरूप साधनभक्ति उल्लिखित हुई है। साधनभक्तिके अन्तर्गत प्राप्ति-साधक समस्त विधियोंको अनुकूल रूपसे 'अन्वय' कहकर उक्त किया गया है तथा उसकी प्राप्तिके बाधकरूप प्रतिकूलरूप समस्त क्रियाओंको निषेधमें परिगणितकर उन्हें 'व्यतिरेक' शब्दसे उक्त किया गया है। साधनतत्त्वका नाम अभिधेय है, अर्थात् शास्त्रकी अभिधा-वृत्तिक्रमसे जो उपदेश प्राप्त होता है, वही अभिधेय है। (श्रीचैतन्यचरितामृत आदि लीला १/५३-५६का अमृतप्रवाह-भाष्य)॥३५॥

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीपाद

अथ *'भगवच्छिक्षितमहं करवाणि ह्यतन्द्रितः'* (श्रीमद्भा॰ २/९/२८) इति ब्रह्मणा प्रार्थितं स्वप्राप्तिसाधनम् अतिरहस्यत्वाद्बहिरङ्गजनागम्य- तयैवाह—एतावदेवेति। अत्र बहुतरशास्त्रानुसन्धानमपि नापेक्षितव्यमिति भावः। तत्त्वजिज्ञासुना आत्मनः स्वस्य श्रेयःसाधनतत्त्वं ज्ञातुमिच्छुना जनेन जिज्ञास्यं श्रीगुरुचरणेभ्यः शिक्षणीयमित्यर्थः, त्वया तु मदनुग्रहादवगम्यत एवेति भावः। किं तत्? यत् श्रेयःसाधनेषु कर्म-ज्ञान-योग-भक्त्यादिषु मध्ये अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां स्यात् सिध्यति स्थिरीभवतीत्यर्थः। अत्र तावत् स्वर्गापवर्गादेः कर्म-ज्ञान-योगादिभिः केवलैरसिद्धैस्तैर्विनापि सिद्धेः,

कर्म-ज्ञान-योगादयोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां नैव साधनानि स्युः। तथाहि—*'को वार्थ आप्तो भजतां स्वधर्मतः'* (श्रीमद्भा॰ १/५/१७) इति, *'क्लिश्यन्ति ये केवल-बोधलब्धये'* (श्रीमद्भा॰ १०/१४/४) इति, *'पुरेह भूमन् बहवोऽपि योगिनः'* (श्रीमद्भा॰ १०/१४/५) इति, *'यत्कर्मभिर्यत् तपसा'* (श्रीमद्भा॰ ११/२०/३२) इत्यादौ कर्मादिभिर्विनापि *'सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा। स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति॥'* (श्रीमद्भा॰ ११/२०/३३) इति। *'या वै साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थ-चतुष्टये। तया विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रयः॥'* इति मोक्षधर्मीयवचनञ्च। भक्त्या तु केवलयैव सर्वाणि श्रेयांसि सिध्यन्ति, तया विना तु नैव सिध्यन्तीति अन्वयव्यतिरेकाभ्यां भक्तिरेव सर्वश्रेयःसाधनत्वेन स्थिरीभवति। तथाहि अन्वयेन यथा (श्रीमद्भा॰ २/३/१०)—*'अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः। तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥'* इति। भक्तियोग्यस्य केवलस्यैव तीव्रत्वं निरभ्रसूर्यस्येवेति ज्ञेयम्। यथा वा (श्रीमद्भा॰ ११/२०/३२)—*'यत् कर्मभिर्यत्तपसा'* इत्यादि; व्यतिरेकेण, यथा (श्रीमद्भा॰ ११/५/२)—*'मुखबाहूरू-पदेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह। चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक्॥ यः एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्। न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः॥'* इति। यथा वा (श्रीमद्भा॰ २/४/१७)—*'तपस्विनो दानपरा यशस्विनो मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः। क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः।'* इति। तत्र देशकालविशेषाभावमाह—सर्वत्र सर्वदेशेषु सर्वाधिकारिषु च, सर्वदा सर्वेष्वेव कालेषु यत् स्यात्; तथाहि—शुचावेव देशे शुचि तत्कालजीवी कर्म कुर्यात्; शुद्धान्तःकरणएव ज्ञानं लभेत, (श्रीमद्भा॰ ३/२८/८)—*'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य सुखमासनमात्मनः। योगी योगं युञ्जीत'* इति कर्मज्ञानादीनां न सार्वत्रिकता। तथा, यत् कर्म, तत् सन्न्यास-भोगप्राप्त्यवधि; योगः सिध्यवधिः; साङ्ख्यमात्मज्ञानावधिः; ज्ञानं मोक्षावधीति नापि सार्वत्रिकता। भक्तेस्तु सार्वत्रिकता-सार्वदिक्ते अतिप्रसिद्धे एव। *'न देशनियमस्तत्र न कालनियमस्तथा। नोच्छिष्टादौ निषेधोऽस्ति श्रीहरेर्नाम्नि लुब्धकः।'* इति। *'तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा। श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च स्मर्त्तव्यो भगवान् नृणाम्॥'* (श्रीमद्भा॰ २/२/३६) इति कर्मिज्ञानिप्रभृतिषु सर्वेष्वधिकारिषु भक्तेर्व्याप्तिरुक्तैव। *'किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुक्कशाः'* (श्रीमद्भा॰ २/४/१८) इत्यादिना जातिचाण्डाल-कर्मचाण्डालादिष्वपि दृष्टा। तथा सर्वावस्थास्वपि—गर्भे प्रहलादादेः; बाल्ये ध्रुवादेः; यौवने अम्बरीषादेः; वार्द्धक्ये ययात्यादेः; मरणे अजामिलादेः; नारकितायामपि—*'मुच्यते यन्नाम्न्युदिते नारकोऽपि'* इत्युक्तेः। *'यथा यथा हरेर्नाम कीर्त्तयन्ति च नारकाः। तथा तथा हरौ भक्तिमुद्वहन्तो दिवं ययुः॥'* इति नृसिंहपुराणोक्तेश्चेति भक्तेरेव साधनत्वं निर्द्धारितम्। अथ प्रेमभक्तिरूपं रहस्यमपि तन्त्रेणैवाह—एतावदिति। तत्त्वजिज्ञासुना पुंसा एतावदेव श्रेयःसु स्वर्गापवर्गप्रेमसु मध्ये जिज्ञास्यम्। किं तत्? यत् श्रेयः आत्मनः स्वस्यैव अन्वयः-व्यतिरेकाभ्यां सर्वत्र सर्वदा स्यात्। तत्र न तावत् स्वर्गापवर्गौ स्वान्वयव्यतिरेकाभ्यां सिध्यतः; प्रेमा तु स्वस्यैवान्वयव्यतिरेकाभ्याम् सिध्यति। प्रेम्नोऽपि भक्तिशब्दवाच्यत्वात्

साधनभक्त्यैव साध्यभक्तेः प्रेम्नः सिद्धिदर्शनात् प्रेम्नः स्वेनैव सिद्धिः। यदुक्तम् (श्रीमद्भा॰ ११/३/३१) *'भक्त्या संजातया भक्त्या विभ्रत्युत्पुलकां तनुम्।'* इत्यतो रहस्य–तदङ्ग–शब्दाभ्यामुच्यमाने प्रेमभक्ति–साधनभक्तीति तन्त्रेणैवोक्ते। ततश्च प्रेमभक्ति–साधनत्वेनैव भक्तिः कर्त्तव्या, न तु स्वर्गापवर्गादिसाधनत्वेनेति भगवतः शिक्षा व्यञ्जिता। *'भगवच्छिक्षितमहं करवाणि'* (श्रीमद्भा॰ २/९/२८) इति ब्रह्मणा प्रार्थितत्वात् शुद्धसाधनभक्तिसिद्धया प्रेमभक्त्यैव यद्रूपगुणादिमाधुर्यरसानुभवस्तस्य प्रेमभक्त्यनुभावरूपत्वादिति विज्ञानं स्वत एव लब्धवतो रहस्य–तदङ्ग–विज्ञानानि श्लोकेनानेनैवोक्तानि। किञ्च, *'रसो वै सः'* (तै॰उ॰ २/७/१) इत्यनन्तरं *'सैषानन्दस्य मीमांसा भवति'* (तै॰उ॰ २/८/१) इति श्रुतेः, सर्वश्रेयोऽवधिरूपो रसएव मूर्त्त एव, रङ्गभूमौ *'मल्लानामशनिः'* (श्रीमद्भा॰ १०/४३/१७) इत्याद्याकारएव दर्शितः; तस्य च विज्ञानमत्रैव श्लोके तन्त्रेणोक्तम्; यथा—जिज्ञास्येषु मध्ये एतावदेव जिज्ञास्य–मनुबुभूषणीयम्। किं तत्? अन्वय–व्यतिरेकाभ्यां योगायोगाभ्यां संयोग–विप्रलम्भाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वब्रह्माण्डवर्तिनि श्रीवृन्दावनादौ दास–सखि–गुरु–प्रेयसीषु सर्वदा नित्यमेव महाप्रलयसमयेऽपीति दास्यसख्य–वात्सल्य–शृङ्गाररसानां आस्वादनं व्यञ्जितम्। एवमतिरहस्यप्रेमभक्तिरसव्यञ्जकः श्लोकोऽयं ज्ञानरूपार्थान्तरेण भगवतैवाच्छादि–तश्चिन्तामणिरिव कनकसंपुटेन बहिरङ्गजनाशक्योद्घाटनेन। तथा च श्रुतिः—*'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुधा श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्'* (कठः १/२/२३) इति। तच्च ज्ञानरूपमर्थान्तरं यथा—आत्मनस्तत्त्वजिज्ञासुना एतावदेव जिज्ञास्यम्। किं तत्? यदन्वयव्यतिरेकाभ्यां सर्वत्र सर्वदा स्यात्, तदेवात्मा। तथा ह्यात्मनः कारणत्वेन जगत्यन्वयः जगतस्त्वात्मनि व्यतिरेकः। तथा च जाग्रदाद्यवस्थासु तत्साक्षितया आत्मनोऽन्वयः, आत्मनि तु जाग्रदाद्यवस्था व्यतिरेक इति॥३५॥

भावानुवाद—तदनन्तर "मैं आलस्यका त्याग करके श्रीभगवान्‌के द्वारा उपदिष्ट विषयका पालन करूँगा"—इस प्रकार श्रीमद्भागवत (२/९/२८) में श्रीब्रह्माके द्वारा प्रार्थित भगवत्–प्राप्तिका साधन अति रहस्यमय होनेके कारण बहिरङ्ग व्यक्तियोंके अगोचर रूपमें ही श्रीभगवान् 'एतावत्' आदि श्लोक द्वारा उसे बतला रहे हैं। 'एतावत्' अर्थात् इस विषयमें बहुत–से शास्त्रोंका अनुसन्धान करनेकी अपेक्षा नहीं करनी होगी। तत्त्व–जिज्ञासु अर्थात् अपने श्रेयः साधनतत्त्वको जाननेके इच्छुक व्यक्तियोंके लिए यह साधन जिज्ञास्य है अर्थात् श्रीगुरुचरणोंमें शिक्षणीय है, किन्तु तुम इसे मेरे अनुग्रहसे ही अवगत होओ—यही भावार्थ है। वह जिज्ञास्य साधन क्या है? इसके उत्तरमें

कहते हैं—कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति आदि साधनोंमेंसे जो साधन अन्वय (जिसकी सत्तासे दूसरेकी सत्ता) और व्यतिरेक (जिसकी असत्तासे दूसरेकी असत्ता) भावसे सिद्ध अर्थात् स्थिर रहता है। यहाँ केवल कर्म, ज्ञान और योगादि द्वारा स्वर्ग तथा अपवर्गादि सिद्ध नहीं होते, इन उपायोंके अतिरिक्त भी स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है। इसलिए कर्म-ज्ञान-योगादि अन्वय-व्यतिरेक भावसे कदापि परम मङ्गलकी प्राप्तिके साधन नहीं हो सकते हैं। यथा, श्रीभागवत (१/५/१७) में कहा गया है—"हरिभजन परित्याग करके केवल स्व-धर्मका पालन करनेसे ही क्या किसीका प्रयोजन सिद्ध होता है?" उसी प्रकार श्रीमद्भागवत (१०/१४/४) ब्रह्मस्तुतिमें कथित है—"जो परम मङ्गलमय मार्गरूप श्रवणादि भक्तिका अनादर करके केवल ज्ञान प्राप्तिके लिए यम, नियमादि कष्टपूर्ण साधन स्वीकार करते हैं, उनकी चेष्टा स्थूल भूसी कूटनेके समान व्यर्थके श्रममें ही पर्यवसित होती है, अर्थात् उन्हें केवल श्रम ही मिलता है, चावल नहीं।"

तथा श्रीमद्भागवत (१०/१४/५) में कहा गया है—"पूर्वकालमें इस जगत्में बहुत-बहुत योगियोंने योग साधनके द्वारा आपका ज्ञान प्राप्त न कर पानेके कारण आपके प्रति समस्त कर्मोंका अर्पणकर आपकी कथाके श्रवणसे उदित भक्तिके बलसे आपके तत्त्वको जाना तथा आपकी पार्षद लक्षणात्मक परम गतिको प्राप्त किया।" श्रीमद्भागवत (११/२०/३२-३३) में उक्त है—"यदि निष्काम होकर भी भक्तजन स्वर्ग, अपवर्ग और वैकुण्ठ आदिकी अभिलाषा करते हैं, तो वैसा होनेपर यज्ञादि-कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान-धर्म अथवा अन्य तीर्थ और व्रतादिके द्वारा जो कुछ प्राप्त होता है, इन सबके बिना भी वह सब कुछ मेरे भक्त मेरे भक्तियोगके द्वारा अनायास ही प्राप्त कर लेते हैं।" उसी प्रकार महाभारतके मोक्षधर्मीय वचनमें भी देखा जाता है—"धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार प्रकारके पुरुषार्थोंकी जो साधन सम्पत्ति है, भगवान् श्रीनारायणके आश्रित होनेपर मानव साधनके बिना भी इन सब पुरुषार्थोंको प्राप्त कर सकते हैं।" केवला (कर्मज्ञानादिशून्य, अहैतुकी) भक्तिके द्वारा ही समस्त प्रकारके मङ्गलोंकी प्राप्ति होती है, किन्तु उस भक्तिके बिना किसी

भी प्रकारका मङ्गल प्राप्त नहीं किया जा सकता। अतः अन्वय-व्यतिरेक भावसे भक्ति ही समस्त प्रकारके श्रेय प्रदान करनेवाले साधनके रूपमें स्थिर हुई है। अन्वय-भावसे, यथा श्रीमद्भागवत (२/३/१०)—"निष्काम होकर अथवा समस्त कामनाओंसे युक्त होकर अथवा मोक्षकी कामनासे भी उदारबुद्धिसे युक्त व्यक्ति तीव्र (एकान्तिक) भक्तियोगसे परमपुरुष श्रीविष्णुकी उपासना करेंगे।" यहाँ केवल-भक्तियोगकी तीव्रताको मेघसे निर्मुक्त सूर्यके समान ही जानना होगा अथवा जिस प्रकार पूर्व कथित "यत् कर्मभिः" श्लोक (श्रीमद्भा॰ ११/२०/३२) में कहा गया है, उस प्रकार जानना होगा।

व्यतिरेक भावसे श्रीमद्भागवत (११/५/२) में यथा—"विराट् पुरुषके मुख, बाहु, उरु और चरणकमलोंसे ब्रह्मचर्यादि चार आश्रमोंके साथ ब्राह्मण आदि चारों वर्ण गुणानुसार पृथक्-पृथक् उत्पन्न हुए हैं। इनमेंसे जो लोग मोहवशतः अपने (आत्माके) साक्षात् प्रभु ईश्वर श्रीविष्णुका भजन नहीं करते अथवा उनकी अवज्ञा करते हैं, वे अपने स्थानसे भ्रष्ट होकर अधःपतित हो जाते हैं।" अथवा श्रीमद्भागवत (२/४/१७) में कहा गया है—"तपस्वी, दानशील, यशस्वी, मनस्वी (मुनि), मन्त्रवित् (ऋषि) और सदाचारी पुरुष भी जिन्हें अपनी तपस्या आदि कर्मका अर्पण न कर मङ्गलकी प्राप्ति नहीं कर सकते, मैं उन सुमङ्गलयश श्रीहरिको बारम्बार प्रणाम करता हूँ।"

अब भक्तिके देश और काल-विशेषके अभाव (अर्थात् भक्तिदेवी किसी संकीर्ण निर्दिष्ट देश और कालमें अवस्थान नहीं करतीं हैं, वे देश-कालसे अतीत हैं) के सम्बन्धमें कह रहे हैं—'सर्वत्र' अर्थात् समस्त देश और समस्त अधिकारियोंमें और 'सर्वदा' अर्थात् सब समयमें जो रह सकती हैं—उस भक्तिको ही जानना होगा। जैसे—योगी पुरुष पवित्र स्थानपर समय बिताते हुए पवित्र कर्म करेंगे और अन्तःकरणके शुद्ध हो जानेपर उन्हें ज्ञान प्राप्त हो सकता है। "पवित्र स्थानपर सुखपूर्वक अपना आसन स्थापनकर योगी योगानुष्ठान करेंगे।" (श्रीमद्भा॰ ३/२८/८) आदिके वचनोंसे जाना जाता है कि कर्म-ज्ञानादिकी सर्वत्र विद्यमानता नहीं है। इस प्रकारका जो कर्म है, वह संन्यास और भोग प्राप्ति तक ही करणीय है, उसके पश्चात् नहीं;

योगका साधन सिद्धि तक ही करणीय है और सांख्यका साधन आत्मज्ञान तक ही करणीय है, इसके बाद उनका कोई प्रयोजन नहीं है। ज्ञानका साधन मुक्ति तक है, इसलिए उसकी भी सर्वत्र विद्यमानता नहीं है, किन्तु भक्तिकी सर्वत्र विद्यमानता और सनातनता अत्यधिक प्रसिद्ध है। यथा—"श्रीहरिनाममें रुचियुक्त भक्तोंके लिए किसी देश और कालकी कोई बाधा नहीं है, उसी प्रकार भगवान्के उच्छिष्ट (प्रसाद) भक्षणमें भी कोई निषेध नहीं है।"

श्रीभागवत (२/२/३६) में कहा गया है—"अतएव हे राजन्! मनुष्यमात्रके लिए ही सर्वान्तःकरणसे सर्वत्र और सर्वदा भगवान् श्रीहरिका माहात्म्य ही श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण करना कर्त्तव्य है।" आदि शास्त्र-वाक्योंमें कर्मी, ज्ञानी आदि सभी अधिकारियोंके ऊपर भक्तिका अधिष्ठान कहा गया है, अर्थात् इन सभीमें भक्तिकी व्यापकता ही उक्त हुई है। श्रीभागवत (२/४/१८)—"किरात, हूण, आंध्र, पुलिन्द, पुक्कश आदि पापाचारी जातियाँ भी जिनके आश्रितोंका आश्रय लेनेपर शुद्ध हो जाती हैं, उन भगवान् श्रीहरिको प्रणाम है।" आदि वाक्योंमें चण्डाल-कुलमें उत्पन्न और अपने कर्मोंसे चण्डालताको प्राप्त व्यक्तियोंका भी भक्तिमें अधिकार देखा जाता है। सभी अवस्थाओंमें ही भक्तिकी योग्यता है—यथा गर्भमें रहते समय प्रह्लाद आदिका, बाल्यकालमें ध्रुव आदिका, यौवनमें अम्बरीष आदिका, वार्धक्यमें ययाति आदिका तथा मृत्युकालमें अजामिल आदिका भक्तिमें अधिकार देखा जाता है। नारकीय योनि प्राप्त करनेपर भी भक्तिमें अधिकार है, जैसा कि उक्त है—"जिन श्रीभगवान्का नाम उदित होनेपर नारकी अर्थात् नरकमें अवस्थित जीवको भी मुक्ति प्राप्त होती है।" नृसिंहपुराणमें भी उक्त है—"जिन-जिन भावोंसे नारकीगण हरिनाम-कीर्त्तन करते हैं, उन-उन भावोंके अनुरूप हरि-भक्तिको सिरपर रखकर स्वर्गकी ओर गमन करते हैं।"—अतएव एकमात्र भक्तिका ही साधनके रूपमें निर्धारण हुआ है।

तदुपरान्त प्रस्तुत श्लोकमें प्रेमभक्तिरूप रहस्यको भी विस्तृत रूपसे बतलाया गया है। तत्त्वजिज्ञासु पुरुष स्वर्ग, अपवर्ग और भगवत्-प्रेम—इन श्रेयोंमें इसीकी (अर्थात् प्रेमकी) जिज्ञासा करेंगे। वह क्या है? इसके

उत्तरमें कहते हैं—अन्वय-व्यतिरेक रूपसे जो सर्वत्र और सर्वदा आत्माका मङ्गलकारी है। इनमें स्वर्ग और अपवर्ग स्वयं कभी भी अन्वय और व्यतिरेक रूपसे सिद्ध नहीं हो सकते, किन्तु भगवत्-प्रेम स्वयं ही अन्वय और व्यतिरेक भावसे सिद्ध होता है। प्रेम भी भक्ति-शब्दवाच्य है, तथा साधनभक्ति द्वारा ही साध्यभक्तिरूप भगवत्-प्रेमकी सिद्धि देखी जाती है, इसलिए प्रेमकी अपने द्वारा ही सिद्धि होती है। जैसा कि श्रीभागवत (११/३/३१) में कथित है—"भागवत पुरुषगण साधनभक्तिसे उत्पन्न प्रेमलक्षणा भक्तिके द्वारा समस्त पापोंका विनाश करनेवाले श्रीहरिका स्मरण करके और परस्पर (एक-दूसरेको) स्मरण कराकर पुलकित शरीर धारण करके रहते हैं" आदि वाक्योंमें 'रहस्य' और 'तदङ्ग'—दो शब्दोंसे यह प्रेमभक्ति और साधनभक्ति ही विस्तारसे कही गयी है। अतएव भगवत्-प्रेमके साधनरूपमें ही भक्ति करना कर्त्तव्य है, स्वर्ग-अपवर्ग आदि प्राप्तिके साधन रूपमें नहीं—इसी रूपमें ही श्रीभगवान्की शिक्षा सूचित हो रही है। "मैं आलस्यका त्याग करके भगवत्-उपदिष्ट विषयका पालन करूँगा।" (श्रीमद्भा॰ २/९/२८)—पूर्वोक्त श्रीब्रह्माकी इस प्रार्थनाके कारण शुद्ध साधनभक्तिसे सिद्ध होनेवाली प्रेमभक्ति द्वारा श्रीभगवान्के रूप-गुण आदि माधुर्यरसका जो अनुभव होता है, वह प्रेमभक्तिका अनुभाव ही है। इसके द्वारा स्वाभाविक रूपमें (अपने आप) इस विज्ञानको प्राप्त करनेवाले श्रीब्रह्माके प्रति रहस्य (प्रेमभक्ति) और तदङ्गके (साधनभक्तिके) विज्ञानकी बात प्रस्तुत श्लोकमें कही गयी है।

और भी, क्योंकि "रसो वै सः अर्थात् वे रसस्वरूप ही हैं" (तै॰ उ॰ २/७/१), इस मन्त्रके पश्चात् "वे ही आनन्दकी मीमांसा हैं" (तै॰ उ॰ २/८/१) आदि श्रुति वचनोंके द्वारा वे समस्त मङ्गलोंके चरम-रूप हैं, वे रसमय हैं और वे मूर्त्तिमान हैं—यह समझा जाता है। श्रीमद्भागवत (१०/४३/१७) में कंसकी रङ्गभूमिमें समागत श्रीकृष्णके प्रति युगपत् विभिन्न अधिकारियों द्वारा बारह रसोंकी ही अभिव्यक्ति देखी जाती है, यथा—"हे राजन्! उस समय श्रीकृष्णने मल्लोंके लिए वज्र तुल्य, मनुष्योंके लिए नरोत्तम स्वरूपमें, मधुररस प्रिय स्त्रियोंके लिए मूर्त्तिमान कन्दर्प रूपमें, गोपोंके लिए बान्धव, दुष्ट राजाओंके

लिए शासनकर्त्ता, माता-पिताके लिए शिशु, कंसके लिए साक्षात् मृत्यु रूपमें, अज्ञजनोंके लिए विराट् पुरुष, योगियोंके लिए परमात्मा और वृष्णियोंके लिए परम-देवताके रूपमें प्रतीत होकर बलरामके साथ रङ्गभूमिमें प्रवेश किया।" आदि जो विभिन्न आकार (प्रकाश) में दर्शित हुए, उन्हीं रसमय वस्तुका विज्ञान प्रस्तुत श्लोकमें प्रधान रूपसे कहा गया है। सम्पूर्ण जिज्ञासाओंमें यही जाननेका अर्थात् निरन्तर वाञ्छनीय विषय है। वह क्या है? इसके उत्तरमें कहते हैं—अन्वय-व्यतिरेक रूपमें अर्थात् योग और अयोग क्रमसे अथवा संयोग और विप्रलम्भ भावसे जो 'सर्वत्र' हैं, अर्थात् समस्त ब्रह्माण्डोंके अन्तर्गत श्रीवृन्दावनादिमें दास, सखा, गुरु और प्रेयसियोंमें जो 'सर्वदा' अर्थात् नित्य ही तथा यहाँ तक कि महाप्रलयकालमें भी विद्यमान रहते हैं। इसके द्वारा दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृङ्गाररसका आस्वादन सूचित होता है।

इस प्रकार यह श्लोक अत्यन्त रहस्यात्मक प्रेमभक्तिरसका सूचक है। स्वयं श्रीभगवान्ने ही सोनेकी डिबियामें रखी चिन्तामणिके समान इस श्लोकको भक्तिके अतिरिक्त ज्ञानमूलक अन्य अर्थके द्वारा आच्छादित किया है, जिससे बहिरङ्ग मूर्ख व्यक्ति इसे खोलनेमें असमर्थ होंगे। इसलिए जैसा कि कठोपनिषद (१/२/२३) में कहा गया है—"परमात्माको बहुत शास्त्रोंमें प्रवीण होनेसे, मेधा अथवा बहुत शास्त्रोंके श्रवण द्वारा प्राप्त नहीं किया जाता। वे (परमात्मा) जिन्हें कृपापूर्वक वरण करते हैं, वे सौभाग्यवान जीव ही उन्हें प्राप्त कर सकते हैं तथा उनके ही निकट वे अपने अप्राकृत स्वरूपको प्रकटित करते हैं।"

इस श्लोककी ज्ञानमूलक अन्य व्याख्या इस प्रकार है—"आत्मतत्त्वके जिज्ञासु व्यक्ति यही जिज्ञासा करेंगे।" वह क्या है? जो अन्वय-व्यतिरेक रूपसे सर्वत्र और सर्वदा विद्यमान रहते हैं, वे ही आत्मा हैं। तथा आत्माका कारण रूपमें जगत्से अन्वय है और कार्यरूपी जगत्से कारणरूपी आत्मामें व्यतिरेक हैं। तथा जाग्रत आदि अवस्थाओंके साक्षी रूपसे आत्माका अन्वय है, किन्तु आत्मामें जाग्रत आदि अवस्थाएँ व्यतिरेक हैं॥३५॥

श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीपाद

'अभिधेय' साधनभक्तिर शुनह विचार।
सर्व-जन-देश-काल-दशाते व्याप्ति यार॥

'धर्मादि' विषये यैछे ए 'चारि' विचार।
साधन-भक्ति—एइ चारि विचारेर पार॥

सर्व-देश-काल-दशाय जनेर कर्तव्य।
गुरु-पाशे सेइ भक्ति प्रष्टव्य, श्रोतव्य॥

(चै० च० म० २५/११८-१२०)

भावानुवाद—अब तुम मुझसे 'अभिधेय' अर्थात् साधनभक्तिका विचार सुनो, जिसकी व्याप्ति समस्त व्यक्तियों, देश, काल और दशाओंमें है।

धर्म आदिके विषयमें व्यक्ति, देश, काल और अवस्था—इन चारोंका विचार किया जाता है, परन्तु साधनभक्ति इन चारों विचारोंसे अतीत है।

अतएव समस्त देश, काल और दशाओंमें व्यक्तिका यह कर्त्तव्य है कि वह सद्गुरुके निकट उस भक्तिके सम्बन्धमें प्रश्न करे और इस विषयमें उनसे श्रवण करे॥३५॥

श्रीजीव गोस्वामीपाद

अथ क्रमप्राप्तं रहस्यपर्यन्तसाधकत्वात् रहस्यत्वेनैव तदङ्गमुपदिशति—एतावदेवेति। आत्मनो मम भगवतस्तत्त्वजिज्ञासुना प्रेमरूपं याथार्थ्यं रहस्यमनुभवितुमिच्छुना एतावदेव जिज्ञास्यं—श्रीगुरुचरणेभ्यः शिक्षणीयम्। किं तत्? यदेकमेव वस्तु अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां विधि-निषेधाभ्यां सदा सर्वत्र स्यादित्युपपद्यते। तत्रान्वयेन यथा (श्रीमद्भा० ७/७/५५)—*'एतावानेव लोकेऽस्मिन्'* इत्यादि; (श्रीगी० १८/६१) *'ईश्वरः सर्वभूतानाम्'* इत्यादि; (श्रीगी० १८/६५) *'मन्मना भव मद्भक्तः'* इत्यादि च। व्यतिरेकेण यथा (श्रीमद्भा० ११/५/२)—*'मुखबाहूरुपादेभ्यः'* इत्यादि; (श्रीमद्भा० ३/९/१०) *'ऋषयोऽपि देव युष्मत् प्रसङ्गविमुखा इह संसरन्ति'* इत्यादि; (श्रीगी० ७/१५) *'न मां दुष्कृतिनो मूढा'* इत्यादि; (पाद्मे) *'यावज्जनो भवति नो भुवि विष्णुभक्ति'* इत्यादि च। कुत्र कुत्रोपपद्यते? सर्वत्र—शास्त्र-कर्त्तृ-देश-करण-द्रव्य-क्रिया-कार्य-फलेषु समस्तेष्वेव। तत्र समस्तशास्त्रेषु यथा स्कान्दे ब्रह्मनारद-संवादे—

'संसारेऽस्मिन् महाघोरे जन्ममृत्यु समाकुले। पूजनं वासुदेवस्य तारकं वादिभिः स्मृतम्॥' इति। तत्राप्यन्वयेन यथा (श्रीमद्भा॰ २/२/३४)—*'भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया। तदध्यवस्यत् कूटस्थो रतिरात्मन् यतो भवेत्॥'* इत्यादि; तथा पाद्मे स्कान्दे लैङ्गे च—*'आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः। इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा॥'* इति। व्यतिरेकोदाहरणम् (गारुड़े)—*'पारं गतोऽपि वेदानां सर्वशास्त्रार्थवेद्यपि। यो न सर्वेश्वरे भक्तस्तं विद्यात् पुरुषाधमम्॥'* इत्यादिकं सर्वत्रावगन्तव्यम्। तच्चान्ते दर्शयिष्यते; एकादशे च (श्रीमद्भा॰ ११/११/१८)—*'शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णयात् परे यदि। श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः॥'* इति। सर्वकर्तृषु यथा (श्रीमद्भा॰ २/७/४६)—*'ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देवमायां स्त्रीशूद्रहूणशबरा अपि पापजीवाः। यद्यद्भुतक्रमपरायणशील- शिक्षास्तिर्यग्जना अपि किमु श्रुतधारणा ये॥'* इति; गारुड़े च—*'कीट-पक्षि-मृगाणाञ्च हरौ सन्न्यस्यतचेतसाम्। ऊर्ध्वामेव गतिं मन्ये किं पुनर्ज्ञानिनां नृणाम्॥'* इति। तत्रैव सदाचारे दुराचारे; ज्ञानिन्यज्ञानिनि; विरक्ते रागिणि; मुमुक्षौ मुक्ते; भक्त्यसिद्धे भक्तिसिद्धे; तस्मिन् भगवत्पार्षदतां प्राप्ते, तस्मिन्नित्यपार्षदे च सामान्येन दर्शनादपि सार्वत्रिकता। तत्र सदाचारे दुराचारे च यथा (श्रीगी॰ ९/३०)—*'अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥'* इति। सदाचारस्तु किं वक्तव्य इत्यपेरर्थः। ज्ञानिन्यज्ञानिनि च (श्रीमद्भा॰ ११/११/३३) *'ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै माम्'* इत्यादि; (बृहन्नारदीये) *'हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः'* इति। विरक्ते रागिणि च (श्रीमद्भा॰ ११/१४/१८)—*'बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः। प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते॥'* इति। अबाध्यमानस्तु सुतरां नाभिभूयत इत्यपेरर्थः। मुमुक्षौ मुक्ते च (श्रीमद्भा॰ १/२/२६) *'मुमुक्षवो घोररूपान्'* इत्यादि; (श्रीमद्भा॰ १/७/१०) *'आत्मारामाश्च मुनयः'* इत्यादि च। भक्त्यसिद्धे भक्तिसिद्धे च (श्रीमद्भा॰ ६/१/१५) *'केचित् केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः'* इत्यादि; (श्रीमद्भा॰ ११/२/५३) *'न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लव-निमिषार्द्धमपि स वैष्णवाग्र्यः'* इति च। भगवत्पार्षदतां प्राप्ते (श्रीमद्भा॰ ९/४/६७) *'मत्सेवया प्रतीतं ते'* इत्यादि। नित्यपार्षदे (श्रीमद्भा॰ ३/१५/२२) *'वापीषु विद्रुम-तटास्वमलामृताप्सु'* इत्यादि। सर्वेषु वर्षेषु, भुवनेषु, ब्रह्माण्डेषु तेषां बहिश्च तैस्तैः श्रीभगवदुपासनायाः क्रियमाणायाः श्रीभागवतादिषु प्रसिद्धिः सिद्धैवेति सर्वदेशोदाहरणं ज्ञेयम्। सर्वेषु करणेषु यथा—*'मान सेनोपचारेण परिचर्य हरिं मुदा। परे वाङ्मनसाऽगम्यं तं साक्षात् प्रतिपेदिरे॥'* इति। एवम्भूतवचने हि अस्तु तावद्बहिरिन्द्रियेण, मनसा वचसापि तत्सिद्धिरिति प्रसिद्धिः। सर्वद्रव्येषु यथा (श्रीमद्भा॰ १०/८१/४)—*'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति'* इत्यादि। सर्वक्रियासु यथा (श्रीमद्भा॰ ११/२/१२)—*'श्रुतोऽनुपठितो ध्यात आदृतो वानुमोदितः। सद्यः पुनाति सद्धर्मो देवविश्वद्रुहोऽपि हि॥'* इति; (श्रीगी॰ ९/२७) *'यत् करोषि यदश्नासि'* इत्यादि। एवं

भक्त्याभासेषु भक्त्याभासापराधेष्वपि अजामिलमूषिकादयो दृष्टान्ताः गम्याः। सर्वेषु कार्येषु यथा (स्कान्दे)—*'यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु। न्यूनं सम्पूर्णतामेति सद्यो वन्दे तमच्युतम्॥'* इति। सर्वफलेषु यथा (श्रीमद्भा॰ २/३/१०)—*'अकामः सर्वकामो वा'* इत्यादि; तथा (श्रीमद्भा॰ ४/३१/१४) *'यथा तरोर्मूलनिषेचनेन'* इत्यादिवाक्येन श्रीहरिपरिचर्यायां क्रियमाणायां सर्वेषामन्येषामपि देवादीनामुपासना स्वत एव भवतीत्यतोऽपि सार्वत्रिकता। यथोक्तं स्कान्दे श्रीब्रह्मनारदसंवादे—*'अर्चिते देवदेवेशे शङ्खचक्रगदाधरे। अर्चिताः सर्वदेवाः स्युर्यतः सर्वगतो हरिः॥'* इति। एवं यो भक्तिं करोति, यद्द्रवादिकं भगवते दीयते, येन द्वारभूतेन भक्तिः क्रियते, यस्मै श्रीभगवत्प्रीणनार्थं दीयते, यस्माद्गवादिकात् पयआदिकमादाय भगवते निवेद्यते, यस्मिन् देशादौ कुले वा कश्चिद्भक्तिमनुतिष्ठति, तेषामपि कृतार्थत्वं पुराणेषु दृश्यत इति 'कारक'-गतापि। एवं सार्वत्रिकत्वं साधितम्।

सदातनत्वमप्याह—सर्वदेति। तत्र सर्गादौ यथा (श्रीमद्भा॰ ११/१४/३)—*'कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता'* इति। सर्गमध्ये तु बहुत्रैव। चतुर्विध-प्रलयेष्वपि (श्रीमद्भा॰ ३/७/३७) *'तत्रेमं क उपासीरन्'* इति विदुरप्रश्ने। सर्वेषु युगेषु यथा (श्रीमद्भा॰ १२/३/५२)—*'कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः। द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्त्तनात्॥'* इति। किं बहुना?—*'सा हानिस्तन्महच्छिद्रं स मोहः स च विभ्रमः। यन्मुहूर्त्तं क्षणं वापि वासुदेवं न चिन्तयेत्॥'* इत्यपि वैष्णवे। सर्वावस्थास्वपि—गर्भे श्रीनारदकारित-श्रवणेन श्रीप्रह्लादे प्रसिद्धम्; बाल्ये श्रीध्रुवादिषु; यौवने श्रीमदम्बरीषादिषु; वार्द्धक्ये खट्वाङ्ग-ययाति-धृतराष्ट्रादिषु; मरणे अजामिलादिषु; स्वर्गितायां श्रीचित्रकेत्वादिषु; नारकितायामपि—*'यथा यथा हरेर्नाम कीर्त्तयन्ति स्म नारकाः। तथा तथा हरौ भक्तिमुद्वहन्तो दिवं ययुः॥'* इति नृसिंहपुराणे। अतएवोक्तं दुर्वाससा (श्रीमद्भा॰ ९/४/६२)—*'मुच्येत यन्नाम्न्युदिते नारकोऽपि'* इति; यथा (श्रीमद्भा॰ २/१/११) *'एतन्निर्विद्यमानानाम्'* इत्यादावपि सर्वावस्थोदाहृतिः।

अथ तत्र तत्र व्यतिरेकोदाहरणानि च कियन्ति दर्श्यन्ते—*'पारं गतोऽपि वेदानां सर्वशास्त्रार्थवेद्यपि। यो न सर्वेश्वरे भक्तस्तं विद्यात् पुरुषाधमम्॥'* इति; *'किं वेदैः किमु शास्त्रैर्वा किं वा तीर्थनिषेवणैः। विष्णुभक्तिविहीनानां किं तपोभिः किमध्वरैः॥'* इत्यादि; *'किं तस्य बहुभिः शास्त्रैः किं तपोभिः किमध्वरैः। वाजपेय-सहस्रैर्वा भक्तिर्यस्य जनार्दने॥'* इत्यादि गारुड़-बृहन्नारदीय-पाद्मवचनानि; तथा (श्रीमद्भा॰ २/४/१७) *'तपस्विनो दानपरा यशस्विनो मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः। क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥'*, (श्रीमद्भा॰ ५/१९/२४) *'न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः। न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम्॥'*, (श्रीमद्भा॰ १०/५९/४१) *'ययाच आनम्य किरीटकोटिभिः'* इत्यादि; (श्रीमद्भा॰ ३/२९/१३) *'सालोक्यसार्ष्टि-*

सारूप्यसामीप्य-' इत्यादि। (श्रीमद्भा॰ ७/७/५२) *'न दानं न तपो नेज्या'* इत्यादि; (श्रीमद्भा॰ १/५/१२; १२/१२/५३) *'नैष्कर्म्यमप्यच्युमभाववर्जितम्'* इत्यादि; (श्रीमद्भा॰ ३/१५/४८) *'नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादम्'* इत्यादयः।

अथ सर्वत्र सर्वदा यदुपपद्यत इति योजनिकार्थो युगपद्यथा (श्रीमद्भा॰ २/२/३६)—*'तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा'* इत्यादि। अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां सर्वत्र सदा यदुपपद्यत इत्यत्र यथा (पाद्मे)—*'स्मर्त्तव्यः सततं विष्णुः'* इत्यादि। साकल्येऽपि यथा (श्रीमद्भा॰ २/२/३३)—*'न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्थाः'* इत्युपक्रम्य तदुपसंहारे (श्रीमद्भा॰ २/२/३६) *'तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा। श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्त्तव्यो भगवान् नृणाम्॥'* इति; अत्र नृणां जीवानाम्; (श्रीमद्भा॰ १०/८७/२०) *'इति नृगतिं विविच्य कवयः'* इतिवत्। एतदुक्तं भवति—यत् कर्म, तत्—सन्नयासभोगशरीरप्राप्त्यवधि; योगः—सिद्ध्यवधि; सांख्यम्—आत्मज्ञानावधि; ज्ञानं—मोक्षावधि; तथा तत्तद्योग्यतादिकानि च सर्वाणि। एवम्भूतेषु कर्मादिषु शास्त्रादि-व्यभिचारिता च ज्ञेया। हरिभक्तेस्त्वन्वय-व्यतिरेकाभ्यां सदा सर्वत्र तत्तन्महिम-भिरुपपन्नत्वात् तथाभूतस्य रहस्यस्याङ्गत्वं युक्तम्; अतो रहस्यस्याङ्गत्वेन च ज्ञान-रूपार्थान्तराच्छन्नतयैवेदमुक्तमिति। तथाप्यात्मविद्ययैवान्यार्थ-सङ्गोपनादसौ साधनभक्तिरपि क्वचिद्बाह्यं ब्रह्मज्ञानादि-साधनं स्यादिति गम्यते। तत्रेयं प्रक्रिया—साधनभक्तेः सार्वत्रिकत्वात् सदातनत्वाच्च। प्रथमं सा गुरोर्ग्राह्या, ततस्तदनुष्ठानाद् बाह्यसाधनं वैराग्यपुरःसरता, शीलमात्मज्ञानं विज्ञानञ्चेति, तस्माज्ज्ञानमानुषङ्गिकं भवति। ततो भूयश्च तथाभूतत्वाद्भक्तिरनुवर्तत एव (श्रीगी॰ १८/५४)—*'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा'* इत्यादिभ्यः, (श्रीमद्भा॰ १/७/१०) *'आत्मारामाश्च मुनयः'* इत्यादिभ्यश्च। तदैव भगवज्ज्ञानविज्ञाने चेति। तस्मात् ज्ञान-विज्ञान-रहस्य-तदङ्गानामुपदेशेन चतुःश्लोक्या अपि स्वयं भगवानेवोपदिष्टः। अत्र (श्रीमद्भा॰ २/९/९) *'तस्मै स्वलोकं भगवान् सभाजितः'* इति भगवच्छब्देन; (श्रीमद्भा॰ २/९/१४) *'ददर्श तत्राखिलसात्वतां पतिम्'* इत्यत्र; (गो॰ ता॰ पू॰ २९) *'परार्द्धान्ते सोऽबुध्यत गोपवेशो मे पुरस्तादाविर्बभूव'* इति तापनीश्रुत्याद्यनुकूलित-श्रीकृष्णत्व-लिङ्गेन चास्य वक्तुः श्रीभगवत्वमेव स्पष्टम्। न जातु तदंशभूत-नारायणाख्य-गर्भोदशायिपुरुषत्वम्। अतएवास्य महापुराणस्यापि श्रीभागवतमित्येवाख्या। तथैवोक्तम् (श्रीमद्भा॰ १२/१३/१९)—*'कस्मै येन विभाषितोऽयमतुलो ज्ञानप्रदीपः पुरा'* इत्यादौ पुरा-शब्देन भगवद्वक्तृत्वमेवोक्तम्; (श्रीमद्भा॰ २/६/४२)—*'आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य'* इति द्वितीयेऽभिधानात्। अतः (श्रीमद्भा॰ १२/१३/१०) *'इदं भगवता पूर्वं ब्रह्मणे नाभिपङ्कजे। स्थिताय भवभीताय कारुण्यात् संप्रकाशितम्॥'* इत्यत्रापि भगवच्छब्दः प्रयुक्तः; श्रीनाभिपङ्कजे स्थितं ब्रह्माणं प्रति स्वयंभगवता तत्रैव व्यापिमहावैकुण्ठे प्रकाश्येदं पुराणं प्रकाशितमित्यर्थः। अनुगतं चैतद्द्वितीय-स्कन्धेतिहासस्येति॥३५॥

भावानुवाद—अनन्तर श्रीभगवान् ज्ञान, विज्ञान आदिके क्रमसे परमरहस्य अर्थात् इस भगवत्-प्रेमके अङ्ग—साधनभक्तिका उपदेश कर रहे हैं। यह साधनभक्ति रहस्यमय प्रयोजनकी साधक होनेके कारण स्वयं भी रहस्यपूर्ण है। 'आत्माके तत्त्वजिज्ञासु' शब्दसे परमात्मारूपी मुझ भगवान्का यथार्थ अनुभव करनेके अभिलाषी व्यक्तियोंके लिए यही जिज्ञास्य अर्थात् श्रीगुरुचरणोंमें शिक्षणीय है। वह क्या है? इसके उत्तरमें कहते हैं—एक अद्वितीय वस्तु होकर अन्वय-व्यतिरेक रूपमें अर्थात् विधि-निषेध क्रमसे जिनका सर्वदा-सर्वत्र अवस्थान सिद्ध है। उनमें अन्वयरूपमें अवस्थानका प्रमाण श्रीमद्भागवत (७/७/५५) श्लोकमें कहा गया है—"जिसे प्राप्त करनेपर सर्वत्र ही श्रीविष्णुका दर्शन होता है, वैसी ऐकान्तिकी गोविन्द-भक्ति ही इस लोकमें पुरुषोंके परम-स्वार्थके रूपमें कही गयी है।" गीता (१८/६१) में कहा है—"हे अर्जुन! समस्त प्राणियोंके हृदयोंमें मैं ईश्वर अथवा परमात्मा अन्तर्यामी रूपमें अवस्थान करता हूँ।" पुनः गीता (१८/६५) में उक्त है—"मुझमें चित्त समर्पण करो, मेरे भगवत्-स्वरूपका यजन करो, मुझे नमस्कार करो" आदि।

व्यतिरेक रूपसे अवस्थानका प्रमाण श्रीमद्भागवत (११/५/२) में कहा गया है—"विराट-पुरुषके मुख, बाहु, जंघा और चरणोंसे ब्रह्मचर्य आदि आश्रमोंके साथ गुण-विभागके क्रमसे विप्रादि चार वर्णोंकी उत्पत्ति हुई है। इनमेंसे जो साक्षात् आत्माके प्रभु ईश्वर श्रीविष्णुका भजन नहीं करते अथवा उनकी अवज्ञा करते हैं, वे अपने स्थानसे भ्रष्ट होकर अधःपतित हो जाते हैं।" श्रीमद्भागवत (३/९/१०) में कथित है—"हे देव! विवेकी, ज्ञानी, ऋषि भी आपके प्रसङ्गसे विमुख होकर संसारमें विचरण करते हैं" तथा "जब तक जगत्में मानव विष्णुभक्त नहीं होते" आदि।

अब प्रश्न यह है कि इस भक्तिका अवस्थान कहाँ-कहाँ है? इसके उत्तरमें कहते हैं—सर्वत्र अर्थात् क्या शास्त्र, क्या कर्त्ता, क्या देश, क्या करण, क्या द्रव्य, क्या क्रिया, क्या कर्मफलादि, समस्त विषयोंमें ही इस भक्तिका अवस्थान देखा जाता है। इनमेंसे समस्त शास्त्रोंमें भक्तिके अवस्थानका प्रमाण स्कन्दपुराणमें ब्रह्म-नारद-संवादमें उक्त है—"इस जन्म-मृत्युसे परिपूर्ण महाभयङ्कर संसारमें भगवान्

श्रीवासुदेवकी जो पूजा है, विचारकोंके मतमें केवल उसके द्वारा ही सभीका संसारसे परित्राण हो सकता है।" पुनः उसमें भी अन्वयक्रमसे भक्तिका अवस्थान है, जैसा कि श्रीमद्भागवत (२/२/३४) में कहा गया है—"भगवान् ब्रह्माने एकाग्रमनसे तीन बार समस्त वेदोंका विचार किया तथा जिसके अनुष्ठानके फलसे भगवान् श्रीहरिके प्रति सबकी रति हो सकती है, उस भक्तियोगको ही एकमात्र अन्वेषणीय रूपमें स्थिर किया।" पद्म, स्कन्द और लिङ्ग पुराणमें भी कथित है—"सम्पूर्ण शास्त्रोंको मथकर तथा पुनः-पुनः विचारकर यही सिद्धान्त स्थिर हुआ है कि श्रीनारायण ही सर्वदा ध्येय वस्तु हैं।" व्यतिरेक रूपसे शास्त्रोंमें भक्तिके अवस्थानका उदाहरण, यथा गरुड़पुराणमें कथित है—"समस्त वेदोंमें पारङ्गत और समस्त शास्त्रोंको जाननेवाला होकर भी जो व्यक्ति सर्वेश्वर श्रीविष्णुका भक्त नहीं है, उसे पुरुषोंमें अधम जानना चाहिये।" सर्वत्र ही इसी प्रकारसे समझना चाहिये तथा अन्तमें भी ऐसा ही प्रदर्शित होगा। श्रीमद्भागवत (११/११/१८) में कहा गया है—"शब्दब्रह्मरूप वेदमें पारङ्गत होकर भी यदि किसीकी परमेश्वर श्रीविष्णुमें रति नहीं होती, तो बाँझ गायके पालकके समान उसका श्रम व्यर्थ ही है।"

सभी कर्त्ताओंमें भक्तिका अवस्थान है, यथा श्रीमद्भागवत (२/७/४६) में उक्त है—"जो श्रीभगवान्‌के रूप-गुण-लीलाका श्रवण-स्मरणादि करते हैं, उनकी तो बात ही क्या, यहाँ तक कि स्त्री, शूद्र, हूण, शबर आदि पापयोनि जीव और पशु-पक्षी आदि तिर्यक्-योनि जीव भी यदि भगवत्-भक्तोंके स्वभावका अनुसरण करते हैं, तब वे भी भगवान्‌की दैवी मायाको जानकर संसार-सागरसे उत्तीर्ण हो सकते हैं।" गरुड़पुराणमें कथित है—"श्रीहरिके प्रति चित्तके भलीभाँति न्यस्त होनेपर ज्ञानियोंकी तो बात ही क्या है, कीट-पक्षी-पशुओंको भी ऊर्ध्व-गति प्राप्त होती है, ऐसा विचार करता हूँ।" इनमें भी सदाचारी और दुराचारी, ज्ञानी और अज्ञानी, विरक्त और आसक्त, मुमुक्षु और मुक्त, साधक और सिद्ध तथा पार्षदता-प्राप्त और नित्य-पार्षद आदि सभीमें सामान्य भावसे देखे जानेपर भी भक्तिकी सर्वत्र विद्यमानता सिद्ध है।

इनमेंसे सदाचारी और दुराचारी व्यक्तियोंमें भक्तिका अवस्थान है, यथा गीता (९/३०) में कहा गया है—"बाह्य-दृष्टिसे श्रीभगवान्‌के अनन्यभजनकारीका सुदुराचार दिखायी देनेपर भी उन्हें दुराचारी न जानकर साधु ही जानना, क्योंकि उनकी समस्त चेष्टाएँ सम्यक् रूपमें भगवान्‌के लिए ही हैं।" यदि दुराचारी व्यक्तिकी भी भगवत्-भक्ति होती है, तो सदाचारीके विषयमें और अधिक क्या कहूँ? 'अपि' शब्दसे यही तात्पर्य है। ज्ञानी और अज्ञानी व्यक्तियोंमें भी भक्ति अवस्थित रहती है, यथा श्रीमद्भागवत (११/११/३३)—"मेरा वैकुण्ठ-स्वभाव, स्वरूप और सच्चिदानन्दमयताको कोई जानें अथवा न जानें, जो अनन्य भावसे मेरा भजन करते हैं, वे परम भक्तके रूपमें जाने जाते हैं।" तथा बृहन्नारदीयपुराणमें भी कहा गया है—"दुष्प्रवृत्तियुक्त मनुष्यके द्वारा अनुष्ठित पापराशिको भी श्रीहरि हरण कर लेते हैं।"—आदि श्लोक इसके प्रमाण हैं। विरक्त और आसक्त पुरुषोंमें भी भक्तिका अवस्थान है, यथा (श्रीमद्भा॰ ११/१४/१८)—"उत्कृष्ट भक्तकी बात तो दूर रहे, प्राकृत भक्त भी यदि इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त न कर पानेके कारण विषय-भोगोंकी ओर आकृष्ट हो जाते हैं, तो भी तीव्र भक्तिके प्रभावसे उन विषयोंके भोगसे वह अभिभूत (पीड़ित) नहीं होते।" विषयोंमें आकृष्ट मनुष्योंमें भी जब भक्तिका अवस्थान हो सकता है, तब विषयोंसे विरक्त व्यक्ति तो भक्तिके प्रभावसे विषयोंके द्वारा कदापि अभिभूत नहीं हो सकते—यहाँ 'अपि' शब्दसे यही तात्पर्य है।

मुमुक्षु और मुक्तोंमें भक्तिका अधिष्ठान रहता है, यथा (श्रीमद्भा॰ १/२/२६)—"मुमुक्षु व्यक्ति विकटाकार भूतनाथ आदि देवताओंकी पूजा त्याग करके अनिन्दक अर्थात् निन्दारहित होकर श्रीनारायणके शान्तमूर्त्ति अवतारोंकी ही उपासना करते हैं।" तथा (श्रीमद्भा॰ १/७/१०)—"श्रीहरि ऐसे गुणशाली हैं कि आत्माराम मुनि जीवन्मुक्त होकर भी उन उरुक्रम श्रीभगवान्‌की अहैतुकी भक्ति किया करते हैं।" साधक और सिद्धोंमें भी भक्तिका अधिष्ठान है, यथा (श्रीमद्भा॰ ६/१/१५)—"कोई-कोई श्रीवासुदेवमें अनुरक्त पुरुष केवलाभक्तिके प्रभावसे उसी प्रकार अभद्रराशिको नष्ट कर देते हैं, जिस प्रकार सूर्य कुहरेको

नष्ट कर देता है।" श्रीमद्भागवत (११/२/५३) में कहा गया है—"श्रीहरिके चरणकमलोंके अतिरिक्त इस संसारमें अन्य कोई सार वस्तु नहीं है, ऐसी अकुण्ठित बुद्धिसे युक्त होकर जो त्रिलोकीका राज्य प्राप्त होनेकी सम्भावना रहनेपर भी श्रीभगवान्में अनुरक्त चित्तसे देहधारियोंके एकमात्र आराध्य उनके चरणकमलोंसे क्षणकालके लिए भी विचलित नहीं होते, वही उत्तम-भागवतके रूपमें जाने जाते हैं।" श्रीभगवान्की पार्षदताको प्राप्त पुरुषोंमें भक्तिका अधिष्ठान है, यथा (श्रीमद्भा॰ ९/४/६७)—"मेरी सेवामें परिपूर्णकाम भक्तगण अन्य काल द्वारा क्षोभित नश्वर वस्तुओंकी बात तो दूर रहे, मेरी सेवाके प्रभावसे प्राप्त सालोक्यादि चारों प्रकारकी मुक्तियोंकी भी कामना नहीं करते।" नित्य-पार्षदोंमें भक्तिका उदाहरण है, यथा (श्रीमद्भा॰ ३/१५/२२)—"हे देवताओ! उस वैकुण्ठमें लक्ष्मीदेवी परिचारिकाओंके साथ विद्रुम-मणिमय तट और अमृतमय निर्मल जलयुक्त सरोवरके तीरपर अपने प्रमोद-उपवनमें परमेश्वर श्रीनारायणकी पूजा करते-करते दर्पणमें प्रतिबिम्बित अपनी अलकावली और उन्नत नासिकासे युक्त सुचारु मुखकमलका दर्शन करके ऐसा मानने लगीं कि उनका मुख श्रीभगवान् द्वारा चुम्बित हो रहा है।" आदि।

भारतादि समस्त वर्षोंमें, समस्त भुवनोंमें, सभी ब्रह्माण्डोंमें और उनके बाहर सर्वत्र ही उन-उन स्थानोंके निवासियों द्वारा श्रीभगवान्की उपासना अनुष्ठित होना श्रीभागवतादि शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है—इसे ही सभी देशोंमें भक्तिके अधिष्ठानका उदाहरण जानना होगा।

तदनन्तर सभी इन्द्रियोंके द्वारा भक्तिके अनुष्ठित होनेका प्रमाण, यथा (पुराणान्तर)—"ब्रह्मादि श्रेष्ठ देवताओंने मानस उपचारके द्वारा परम सुखसे श्रीहरिकी परिचर्या करके वचन और मनके अगोचर भगवान्को साक्षात् रूपमें प्राप्त किया।" इस प्रकारसे बाह्य इन्द्रिय, मन और वचनके द्वारा भी भक्तिकी सिद्धि होती है, ऐसा प्रसिद्ध है।

सभी द्रव्योंमें भक्तिका प्रमाण, यथा (श्रीमद्भा॰ १०/८१/४) और गीता (९/२६)—"प्रयतात्मा (जितेन्द्रिय) भक्तगण मुझे भक्तिपूर्वक पत्र, पुष्प, फल और जल जो कुछ भी देते हैं, उसे मैं अत्यन्त स्नेहपूर्वक स्वीकार करता हूँ।" सभी क्रियाओंमें भी भक्तिका अधिष्ठान है, यथा

(श्रीमद्भा॰ ११/२/१२)—"यह भागवत-धर्म एक ऐसी वस्तु है, जिसे कानोंसे सुनने, वाणीसे उच्चारण करने, मनसे चिन्ता करने, हृदयसे स्वीकार करनेसे या कोई इसका पालन करने जा रहा हो तो उसका अनुमोदन करनेसे ही उसी क्षण सभीको पवित्र कर देता है, चाहे वह देवद्रोही और समस्त संसारका द्रोही ही क्यों न हो।" गीता (९/२७) में कथित है—"तुम जो कुछ कार्य करते हो, जो कुछ भोजन करते हो, जो हवन करते हो, जो दान करते हो, वह सब मुझे समर्पण करो।" आदि। इसी प्रकार भक्तिके आभास और भक्तिके अपराध आदिसे भी भक्तिकी सिद्धि होती है, इस विषयमें अजामिल और मूषिक आदिका उदाहरण जानना होगा। सभी कार्योंमें भक्तिका अधिष्ठान है, यथा—"जिनके स्मरण और नामसङ्कीर्त्तनके प्रभावसे तप, यज्ञ, क्रिया आदिमें जो कुछ न्यूनता है, वह शीघ्र ही पूर्णताको प्राप्त हो जाती है, उन भगवान् श्रीअच्युतकी मैं वन्दना करता हूँ।"

सभी कामनाओंके फल अर्थात् सिद्धियोंमें भी भक्तिकी अवस्थिति है, यथा (श्रीमद्भा॰ २/३/१०) में—"उदार-बुद्धियुक्त व्यक्ति चाहे वह निष्काम हो, समस्त कामनाओंसे युक्त हो अथवा मोक्ष चाहता हो—वह तीव्र भक्तियोगसे परम पुरुष भगवान्‌की आराधना करे।" पुनः (श्रीमद्भा॰ ४/३१/१४) में उक्त है—"वृक्षके मूलको सींचनेपर जिस प्रकार उसके तने, शाखा और उपशाखा आदि सभीका पोषण हो जाता है, तथा भोजन द्वारा प्राणोंकी तृप्ति होनेपर जिस प्रकार सभी इन्द्रियोंकी तृप्ति हो जाती है, उसी प्रकार सर्वेश्वर श्रीअच्युतकी पूजा करनेसे सबकी पूजा अपने आप हो जाती है।" आदि शास्त्र वचनोंसे प्रमाणित होता है कि श्रीहरिकी परिचर्या करनेसे अन्य समस्त देवताओंकी उपासना स्वतः ही हो जाती है। इस दृष्टान्तसे भी भक्तिकी सार्वत्रिकता अर्थात् समस्त स्थानों और परिस्थितियोंमें सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। यथा स्कन्दपुराणके ब्रह्म-नारद-संवादमें कहा गया है—"देवदेवेश शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी श्रीविष्णुके अर्चित होनेसे समस्त देवताओंका भी अर्चन करना हो जाता है, क्योंकि सभी उनके ही अन्तर्गत हैं।" इस प्रकार जो भजन करते हैं (कर्त्ता), श्रीभगवान्‌की सेवाके लिए जो गाय आदि दी जाती है (कर्म), जिस उपाय द्वारा

भक्ति की जाती है (करण), श्रीभगवान्‌की प्रीतिके लिए जिसे अर्पण किया जाता है (सम्प्रदान), गाय आदि जिन सब पशुओंसे दुग्ध आदि लेकर भगवान्‌को निवेदित किया जाता है (अपादान), जिस देश आदि अथवा कुलमें कोई भक्तिका अनुष्ठान करता है (अधिकरण) आदि सभीकी सार्थकता पुराणोंमें देखी जाती है। इससे कर्त्ता (ने), कर्म (को), करण (से, के द्वारा), सम्प्रदान (के लिए), अपादान (से), अधिकरण (में, पर)—आदि सभी कारकोंमें भक्तिकी विद्यमानता देखी जाती है। इस प्रकार भक्तिकी सार्वत्रिकता प्रमाणित हुई।

'सर्वदा' शब्द द्वारा भक्ति सनातन है, यह भी कह रहे हैं। इस विषयमें सृष्टिके पूर्व भक्तिके वर्त्तमान रहनेका प्रमाण, यथा (श्रीमद्भा॰ ११/१४/३)—"मैंने ब्राह्म-कल्पके प्रारम्भमें ब्रह्माको जो उपदेश दिया था, वही वेदरूपा वाणी प्रलयकालमें काल-धर्मसे विलुप्त हो गयी है।" सृष्टिके बीचमें अनेक स्थानोंपर, यहाँ तक कि चार प्रकारके प्रलयोंमें भी भक्तिका रहना सुना जाता है। यथा श्रीमद्भागवत (३/७/३७) में कहा गया है—"प्रलय-कालमें श्रीभगवान्‌के शयन करनेपर चामर-व्यजन करनेवाले सेवकोंकी भाँति कौन उनकी सेवा करते हैं और कौन सुप्त रहते हैं?" सभी युगोंमें भक्तिका अवस्थान है, यथा श्रीमद्भागवत (१२/३/५२) में कहा गया है—"सत्ययुगमें ध्यान करनेवालेको, त्रेतायुगमें यज्ञानुष्ठान करनेवालेको, द्वापरमें परिचर्या करनेवालेको जो प्राप्त होता है, वह सभी कुछ कलिकालमें केवलमात्र हरिसङ्कीर्त्तनके द्वारा ही प्राप्त किया जाता है।" अधिक क्या? विष्णुपुराणमें भी कहा गया है—"जिस क्षणमें श्रीवासुदेवका चिन्तन नहीं होता, वही क्षण जीवके लिए वास्तविक विषम क्षति, महादोष, मोह और विभ्रम है।" सभी अवस्थाओंमें ही भक्ति की जा सकती है, यथा—गर्भमें रहते समय श्रीनारदके मुखसे हरिकथाका श्रवणकर प्रह्लाद महाराजजीके हृदयमें भक्ति प्रकटित हुई थी—यह प्रसिद्ध है; बाल्यकालमें ध्रुव आदि, यौवनमें अम्बरीष आदि, वृद्ध अवस्थामें धृतराष्ट्र आदि, मृत्युकालमें अजामिल आदि और स्वर्ग-प्राप्तिकालमें चित्रकेतु महाराज आदिमें भी भगवत्-भक्ति देखी जाती है। नरक प्राप्तिमें भी भक्ति सुनी जाती है, यथा नृसिंहपुराणमें उक्त है—"जिस-जिस

भावसे नारकीजन हरिनाम-सङ्कीर्त्तन करते हैं, उसी-उसी भावसे वे हरिभक्तिको सिरपर रखकर स्वर्ग चले जाते हैं।" अतएव दुर्वासाजीने कहा है (श्रीमद्भा॰ ९/४/६२)—"जिनका नाम उच्चारण करनेसे नारकी जीव भी मुक्ति प्राप्त करते हैं।" और (श्रीमद्भा॰ २/१/११) में कहा गया है—"जो लोग लोक या परलोककी किसी वस्तुकी कामना करते हैं, या इसके विपरीत संसारके दुःखका अनुभव करके जो उससे विरक्त हो गये हैं अथवा जो निर्भय मोक्षपदको चाहते हैं, उन साधकोंके लिए तथा योगसम्पन्न सिद्ध ज्ञानियोंके लिए भी समस्त शास्त्रोंका यही निर्णय है कि वे भगवान्‌के नामोंका प्रेमसे सङ्कीर्त्तन करें।" आदि श्लोकोंमें भी सभी अवस्थाओंमें भक्तिकी योग्यताका उदाहरण देखा जाता है।

पुनः उन सब स्थानोंमें व्यतिरेक दृष्टान्त आदि भी कुछ-कुछ देखे जाते हैं, यथा गरुड़पुराणमें कथित है—"समस्त वेदोंमें पारङ्गत और सभी शास्त्रोंके अर्थमें अभिज्ञ होनेपर भी यदि कोई सर्वेश्वर श्रीविष्णुका भक्त नहीं होता तो उसे पुरुषोंमें अधम ही जानना चाहिये।" बृहन्नारदीयपुराणमें भी कहा गया है, यथा—"विष्णुभक्तिहीन मनुष्योंको चारों वेदोंका पाठ, शास्त्र आदिके अनुशीलन, तीर्थ सेवा, तपस्या और यज्ञ अनुष्ठान आदि करनेसे लाभ क्या है?" पद्मपुराणमें भी कहा गया है, यथा—"भगवान् श्रीजनार्दनके चरणोंमें जिनकी भक्ति नहीं है, उनके द्वारा अनेकानेक शास्त्रोंका अनुशीलन, तपस्या और सहस्र वाजपेय यज्ञ अनुष्ठानसे लाभ ही क्या है?" (श्रीमद्भा॰ २/४/१७) में भी कहा गया है—"तपस्वी, दानशील, यशस्वी, मनस्वी, मन्त्रवित् और सदाचारी पुरुष भी जिन्हें अपने कर्म आदिका अर्पण न कर मङ्गल प्राप्त नहीं कर पाते, उन सुमङ्गल यशवान श्रीभगवान्‌को मैं बारम्बार प्रणाम करता हूँ।" श्रीमद्भागवत (५/१९/२४)— "जहाँ वैकुण्ठीय हरिकथारूप सुधा (अमृत) की मन्दाकिनी प्रवाहित नहीं होती, जहाँ भगवान्‌के आश्रित साधु भागवतगण नहीं रहते, जहाँ यज्ञेश्वर श्रीविष्णुका महोत्सव-पूजा आदि नहीं होते, यदि वह स्थान ब्रह्मलोक भी हो, तो भी उसकी आकांक्षा मत करो।"

श्रीमद्भागवत (१०/५९/४१) में कहा गया है—"जिस इन्द्रने सिर झुकाकर अपने मुकुटकी नोकसे भगवान् श्रीकृष्णके श्रीचरणोंका स्पर्शकर अपनी अभीष्ट सिद्धिके लिए याचना की थी, अहो! वही इस समय उन्हीं श्रीभगवान्से युद्ध कर रहा है। अतएव देवताओंकी ऐश्वर्य-मत्तताको धिक्कार है।" श्रीमद्भागवत (३/२९/१३) में—"मेरे द्वारा अपने निष्काम भक्तोंको सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य—इन पाँच प्रकारकी मुक्तियोंको देनेकी इच्छा करनेपर भी वे मेरी सेवाके अतिरिक्त और कुछ भी ग्रहण नहीं करते।" श्रीमद्भागवत (७/७/५२) में—"निष्काम भक्ति द्वारा श्रीहरि जिस प्रकारसे प्रसन्न होते हैं, दान, तपस्या, अर्चन, शौच या व्रत आदिके द्वारा उस प्रकारसे प्रसन्न नहीं होते, क्योंकि उनकी सेवाके बिना और जो कुछ भी है, वह समस्त ही विडम्बनामात्र है।" श्रीमद्भागवत (१/५/१२) में कहा गया है—"विष्णुभक्तिसे रहित निरुपाधिक ज्ञान निष्काम होनेपर भी जब अधिक शोभा नहीं पाता, तब साधन और फलकालमें दुःख स्वरूप जो कर्म है, वह अकाम होनेपर भी भगवान्के चरणोंमें अर्पित न होनेपर किस प्रकारसे शोभा पा सकता है?" श्रीमद्भागवत (३/१५/४८) में वर्णन है—"हे भगवन्! आपकी लीलाकथा अत्यन्त पवित्र और कीर्त्तनीय है। जिन बुद्धिमान पुरुषोंने आपके श्रीचरणकमलोंके आश्रित होकर उन लीलाकथाओंके रसका आस्वादन अनुभव किया है, वे उन भोगमूलक और भयजनक, तुच्छ इन्द्र आदि-देव-पदवीकी तो बात ही क्या है, आपकी आत्यन्तिक कृपारूप जो मुक्ति है, उसकी ओर भी भ्रू-क्षेप नहीं करते।" आदि बहुत श्लोकोंमें व्यतिरेक प्रमाण देखे जाते हैं।

तत्पश्चात् "सर्वत्र सर्वदा जो प्रतिपन्न होता है", इस वाक्यमें 'सर्वत्र' और 'सर्वदा' इन दोनों शब्दोंका संयोग युगपत् सिद्ध है; यथा श्रीमद्भागवत (२/२/३६)—"अतएव जीवोंके लिए सब समयमें, सब देशोंमें, सर्व अन्तःकरणसे श्रीहरिका ही श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण करना कर्त्तव्य है।" पुनः "अन्वय-व्यतिरेक भावसे सर्वत्र और सर्वदा जो प्रतिपन्न होता है"—इस विषयमें प्रमाण है, यथा पद्मपुराण—"निरन्तर

श्रीविष्णुका स्मरण करो और कदापि उन्हें भूलो मत" आदि। सभीके लिए ही भक्तिके अनुष्ठानका प्रमाण, यथा श्रीमद्भागवत (१०/८७/१६) में कहा गया है—"कविगण मनुष्योंकी गतिका विचार करते हुए आपके श्रीचरणोंकी सेवाको ही वैदिक धर्मके रूपमें स्थिर करते हैं।" इस श्लोककी भाँति श्रीमद्भागवतके श्लोक (२/२/३३)—"इससे कोई और श्रेष्ठ पथ नहीं है" से आरम्भकर श्रीमद्भागवतके श्लोक (२/२/३६)—"अतएव जीवोंके लिए सब समयमें, सब देशोंमें, सर्व अन्तःकरणसे श्रीहरिका ही श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण करना कर्त्तव्य है।" तक 'नरोंका' शब्द व्याप्ति-अर्थमें "जीवोंके लिए" समझा जाता है। ऐसा भी कहा गया है—कर्मीका जो कर्म है—वह उसके संन्यास या परलोकमें भोगमय शरीर प्राप्ति तक ही है; योगीका योग—सिद्धि तक है; प्रकृतिवादीका सांख्य—आत्मज्ञानकी अवधि तक है; ज्ञानीका ज्ञान—मोक्ष तक है। इस प्रकार शास्त्रोंमें कर्म-ज्ञान-योग आदिके अनुष्ठानमें कुछ-न-कुछ दोष या त्रुटि देखा जाता है, किन्तु हरिभक्तिमें ऐसा नहीं है। अन्वय-व्यतिरेक भावसे सर्वत्र, सर्वदा उन सब महिमाओंके द्वारा प्रतिपादित होनेके कारण वैसा रहस्य अर्थात् प्रेमभक्तिका अङ्गत्व उपयुक्त ही हुआ है। अतएव रहस्य अर्थात् प्रेमभक्तिका अङ्ग (साधनभक्ति विषयक) होनेके कारण यह श्लोक भी रहस्यमय है अर्थात् ज्ञानमूलक दूसरे अर्थोंके द्वारा आच्छादित रूपमें ही कहा गया है।

तथापि आत्मविद्या द्वारा अन्य अर्थके सङ्गोपनके कारण यह साधनभक्ति भी कहीं-कहीं बाह्य ब्रह्मज्ञान आदिका साधन हो सकती है—ऐसा जाना जाता है। इसलिए ऐसी प्रक्रिया है—साधनभक्तिकी सर्वत्र विद्यमानता और सनातनता होनेके कारण वह पहले श्रीगुरुके निकट ग्रहणीय है, तत्पश्चात् उसके अनुष्ठानसे प्रथमतः वैराग्य, स्वाभाविक आत्मज्ञान और विज्ञानरूप बाह्य साधन उपस्थित होता है, इसलिए ऐसा प्राप्त ज्ञान आनुषङ्गिक होता है। वैसा होनेसे वही ज्ञान भक्तिका ही अनुसरण करता है, क्योंकि गीता (१८/५४) में देखा जाता है—"ब्रह्ममें अवस्थित प्रसन्नचित्त व्यक्ति न तो शोक करते हैं और न ही आकांक्षा करते हैं। वे सभी भूतों (वस्तुओं और प्राणियों)

में समदर्शी होकर प्रेमलक्षणयुक्त मेरी भक्ति प्राप्त करते हैं।" श्रीमद्भागवत (१/७/१०) में उक्त है—"श्रीहरि ऐसे गुणशाली है कि आत्माराम मुनि जीवन्मुक्त होकर भी उन उरुक्रम श्रीभगवान्‌की अहैतुकी भक्ति किया करते हैं।" तभी श्रीभगवान्‌का ज्ञान और विज्ञान प्राप्त होता है। इसलिए ज्ञान, विज्ञान, रहस्य और उसके अङ्गके उपदेशके द्वारा इस चतुःश्लोकीमें भी स्वयं श्रीभगवान्‌का ही वर्णन किया गया है।

श्रीमद्भागवत (२/९/९) में कहा गया है—"तदुपरान्त भगवान् श्रीनारायणने ब्रह्माकी तपस्यासे प्रसन्न होकर उन्हें अपने धाम वैकुण्ठका दर्शन कराया।" इस श्लोकमें उक्त 'भगवान्' शब्दके द्वारा तथा श्रीमद्भागवत (२/९/१४)—"उस वैकुण्ठमें उन्होंने समस्त भक्तोंके प्रभु विभु भगवान्‌का अपने पार्षदोंके द्वारा परिवेष्टित रूपमें दर्शन किया।" इस वचनमें 'भगवान्' शब्दसे, "परार्द्धके अन्तमें वे प्रतिबुद्ध होकर गोपवेशमें मेरे सामने आविर्भूत हुए"—इस तापनी-श्रुतिके अनुकूल श्रीकृष्णत्व सूचित होनेसे वक्ता स्वयं श्रीभगवान् ही हैं, उनके अंशभूत गर्भोदशायी नारायण नहीं—यह स्पष्ट समझा जाता है। इसीलिए इस महापुराणका नाम 'श्रीमद्भागवत' है; यथा श्रीमद्भागवत (१२/१३/१९) में उक्त है—"पहले ब्राह्मकल्पके आदिमें श्रीभगवान्‌ने जिन ब्रह्माके हृदयमें इस भागवतरूप दिव्य भगवत्-तत्त्व-ज्ञानका प्रदीप प्रज्ज्वलित किया था, उन्हीं अशोक-अभय-अमृत परम सत्यका हमलोग ध्यान करते हैं।" इस वाक्यमें 'पुरा' शब्दके द्वारा श्रीभगवान्‌का ही वक्ता होना कथित हुआ है, क्योंकि श्रीमद्भागवत (२/६/४२) में कहा गया है—"ये परमेश्वर श्रीकृष्णके ही प्रथम पुरुषावतार कारणार्णवशायी हैं"—ऐसा नाम देखा जाता है। इसीलिए श्रीमद्भागवत (१२/१३/१०) श्लोकमें—"पुराकालमें इस श्रीमद्भागवतको श्रीभगवान्‌ने भव संसारसे भीत लोगोंके मङ्गलके लिए परम करुणापूर्वक पद्मयोनि (कमलसे जन्में) ब्रह्माके निकट भलीभाँति प्रकाश किया था।" इस वाक्यमें भी 'भगवान्' शब्दका प्रयोग हुआ है, अर्थात् स्वयं श्रीभगवान्‌ने उसी स्थानमें ही असीम महावैकुण्ठ प्रकाशकर नाभिकमलमें अवस्थित ब्रह्माके निकट इस भागवत् पुराणको प्रकाशित किया था। ऐसा अर्थ द्वितीय-स्कन्धके इतिहासके अनुसार भी है॥३५॥

श्रीश्रीधर–स्वामीपाद

साधनमाह—आत्मनस्तत्त्वजिज्ञासुना एतावदेव जिज्ञास्यं विचार्यम्। तदेवाह—अन्वयः कार्येषु कारणत्वेनानुवृत्तिः, कारणावस्थायाञ्च तेभ्यो व्यतिरेकः। तथा जाग्रदाद्यवस्थासु तत्तत्साक्षितयान्वयः। व्यतिरेकश्च समाध्यादौ। एवमन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा च, तदेवात्मेति॥३५॥

भावानुवाद—अब श्रीभगवान् साधनकी बात कह रहे हैं, अर्थात् आत्मतत्त्वके जिज्ञासु व्यक्तिका जो जिज्ञास्य अर्थात् विचारणीय विषय है, उसे कह रहे हैं। कारणके रूपमें कार्योंमें जो अनुसरण करना है, उसे अन्वय कहा गया और कार्योंसे कारणावस्थामें जो अधिगमन है, उसे व्यतिरेक कहा गया है। उसी प्रकार जाग्रत आदि अवस्थाओंमें उन–उन अवस्थाओंके साक्षीरूपमें अन्वय और समाधि आदिमें व्यतिरेक—इस प्रकार अन्वय–व्यतिरेक रूपमें जो सर्वत्र और सदैव अवस्थित है, उसे ही 'आत्मा' के रूपमें जानना होगा॥३५॥

श्रीमध्वाचार्यपाद

अन्यभावाभावकालदेशे तद्विद्यमानाविद्यमान–शक्तिमान् चेत् अन्वय–व्यतिरेकौ॥३५॥

भावानुवाद—अन्य भाव और अभावपूर्ण काल और देशमें वे ही विद्यमान और अविद्यमान शक्तिमान हैं—यही अन्वय और व्यतिरेक भाव है॥३५॥

श्रीविजयध्वज तीर्थपाद

उक्त व्याप्ति स्फुटीकरणपूर्वकं उपदेशं उपसंहरति—एतावदिति। यद्वस्तु सर्वत्र सर्वदेशे, सर्वदा सर्वस्मिन्काले च अन्वय–व्यतिरेकाभ्यां अवस्त्वन्वितानन्वित देश–कालस्वरूपाभ्यां व्याप्तं स्यात्, एतावदेव मत्स्वरूपं आत्मनः परमात्मनः तत्त्वजिज्ञासुना त्वया जिज्ञास्यं विचार्यम् स्यात् इत्यन्वयः। अनेन वस्त्वन्तर सद्भावासद्भावरूपाभ्याम् अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सर्वदेश–कालयोः एकप्रकारेण गुणक्रिया अभिव्याप्तमिति विचार्यमिति उक्तं भवति॥३५॥

भावानुवाद—अब उक्त व्याप्तिके विषयको स्पष्ट करते हुए श्रीभगवान् अपने उपदेशका उपसंहार कर रहे हैं। जो वस्तु सर्वदेश और समस्त कालमें अन्वय और व्यतिरेक रूपसे अर्थात् अवस्तुसे

अन्वित (कारण रूपमें कार्यसे सम्बन्धयुक्त) और अवस्तुसे अनन्वित (कार्यकी कारणमें अस्थिति) होकर देश और कालके स्वरूपसे व्याप्त है, ऐसे मेरे स्वरूपका परमात्माके तत्त्वजिज्ञासु तुम्हारे द्वारा विचारित होना उचित है। इसके द्वारा अन्य वस्तु अन्वय अर्थात् सत्-भाव और व्यतिरेक अर्थात् असत्-भाव रूपसे सर्वदेश-कालमें एक प्रकारके गुण और क्रियासे अभिव्याप्त है—ऐसा विचारणीय है तथा यहाँ इसी बातको कह रहे हैं॥३५॥

श्रीवीरराघवाचार्यपाद

पुनश्च प्रकृतिपुरुष-विलक्षण ईश्वरस्वरूपं संग्रहेण वक्ष्यन् तस्यैव जिज्ञास्यत्वमाह—एतावदिति। आत्मनः परमात्मनः, तत्त्वं स्वरूपं, जिज्ञासुना ज्ञातुमिच्छुना, एतावदेव परस्परविविक्तस्वभावचिदचिदन्तरात्मभूत् भगवत्स्वरूपमेव, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां अयोगान्ययोगव्यवच्छेदाभ्यां जिज्ञास्यं इत्यर्थः। एवं, जिज्ञास्यमेवेत्यन्वयः, नान्यजिज्ञास्यमिति व्यतिरेकः; यद्वा, अन्वयात् सद्भावाच्चिदचिच्छरीरक परमात्मन एव कार्यात्मना कारणात्मना च सद्भावाद्; व्यतिरेकाच्चिदचिच्छरीरक परमात्मा अतिरिक्त वस्त्वन्तराभावात्। एवम्भूत परमात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानात् ज्ञातव्यान्तराभावात् एतावदेव जिज्ञास्यमित्यर्थः। प्राधान्येन ज्ञेयं भगवत्स्वरूपं, चेतनमचेतनं च तद्विभूतिभूतमिति तद्ज्ञानस्य भगवज्ज्ञाने अन्तर्भावात् आत्मनस्तत्त्वं इत्युक्तं। संग्रहेण प्रकृतिपुरुष वैलक्षण्यमाह—यत्स्यादिति। यदात्मनस्तत्त्वं मत्स्वरूपं सर्वदा स्यात् इत्यचिद्व्यावृत्तिः; अचिदपि प्रतिक्षणपरिणामित्वेन पिण्डत्व-घटत्व-कपालत्व-चूर्णत्व-रजत्व-अणुत्वाद्यवस्थासु पूर्वपूर्वावस्थानां सद्द्रव्यस्योत्तरोत्तरावस्था प्राप्त्यभावात् 'सर्वदाऽस्ति' शब्दानर्हत्वात्। 'सर्वत्र' इति जीवव्यावृत्तिः; तस्याविकृतत्वेन 'सर्वदा स्यात्' इति वक्तुं शक्यत्वेपि *'बालाग्रशतभागस्य'* इत्याद्युक्तप्रकारेण जीवस्वरूपस्य अणुपरिमाणत्वेन 'सर्वत्र स्यात्' इति वक्तुमशक्यत्वात्। एवं, अविकारित्वानन्तत्वकथनेन *'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'* इत्युक्त ब्रह्मस्वरूपलक्षणमभिहितं भवति॥३५॥

भावानुवाद—पुनः प्रकृति और पुरुषसे विलक्षण ईश्वर-स्वरूपको एक साथमें कहने जाकर श्रीभगवान् कह रहे हैं कि यही जिज्ञास्य है। परमात्म-स्वरूप जाननेके इच्छुक व्यक्ति "ऐतावदेव—यहीं तक" अर्थात् परस्पर विविक्त-स्वभाव चिदचित्-अन्तरात्मभूत भगवत्-स्वरूपको ही अन्वय-व्यतिरेक रूपमें अर्थात् अयोग-अन्ययोग-व्यवच्छेद द्वारा जानना चाहेंगे। इस प्रकार जो जिज्ञास्य है, वही अन्वय है और अन्य जो कुछ अजिज्ञास्य है, वही व्यतिरेक है। अथवा चिदचित्-शरीरमय

परमात्माका ही कार्यात्म और कारणात्म द्वारा सत्-भाव अर्थात् अन्वयभाव है; चिदचित् शरीरक परमात्मासे अतिरिक्त अन्य वस्तुके अभावके कारण व्यतिरेक भाव है। इस प्रकारके परमात्म-विज्ञान द्वारा समस्त विज्ञान (बोध) हो जानेके कारण तथा इसके अतिरिक्त अन्य किसी ज्ञातव्यका अभाव होनेके कारण यहीं तक जिज्ञास्य है। प्रधानतः भगवत्-स्वरूप ही ज्ञेय है, चेतन और अचेतन सब कुछ उनकी ही विभूतिसे उत्पन्न है। अतएव इन सबका ज्ञान भगवत्-ज्ञानके ही अन्तर्भुक्त है। इसलिए उसे आत्मतत्त्व कहा गया है।

एक साथ प्रकृति-पुरुषकी विलक्षणता कह रहे हैं—"जो आत्मतत्त्व अर्थात् मेरा जो स्वरूप सर्वदा रहता है"—इसके द्वारा अचित् निरस्त हुआ, क्योंकि अचित् प्रतिक्षण परिणाम योग्य होनेसे पिण्ड, घट, कपाल, चूर्ण, रज, अणु आदि अवस्थाओंमें पूर्व-पूर्व अवस्थाओंके सद्द्रव्यकी उत्तरोत्तर अवस्था प्राप्तिके अभावके कारण 'सर्वदा है' शब्दके अयोग्य है। यहाँ 'सर्वत्र' शब्दसे जीव व्यावृत्त (वर्जित) हुआ है, क्योंकि जो अविकृत होनेके कारण "सर्वदा रहता है" कहने योग्य होनेपर भी "बालाग्रशतभागस्य अर्थात् केशके दश-हजारवें भागके एक भागके समान अति सूक्ष्म जीव" आदि श्रुतिके अनुसार जीव-स्वरूपका अणु-परिमाण होनेके कारण "सर्वत्र रहता है" कहनेके अयोग्य है। इसलिए 'अविकारी' होनेसे भी 'अनन्त' कहे जानेके कारण, श्रुतियोंमें कहे गये "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"—रूपी ब्रह्मस्वरूपका लक्षण ही उक्त हुआ है॥३५॥

श्रीशुकदेवपाद

अथ स्वानुग्रहसाध्यमुपायमाह—एतावदेवेति। सर्वकार्योपादान- तयान्वयः अनुवृत्तिः, आधारत्वकर्तृत्वादिना निमित्तकारणतया व्यतिरेकोऽननुवृत्तिः; एवम्विधाभ्यां *'तदात्मानं स्वयमकुरुत'* इति श्रुतिप्रोक्ताभ्यां अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां यत् सर्वत्र सर्वदा च स्यात्, एतावदेवात्मनः परमात्मनः मम तत्त्वजिज्ञासुना मम तत्त्वं ज्ञातुमिच्छुना जिज्ञास्यं मम ज्ञानार्थं विचार्यमित्यर्थः। अन्यस्य स्वातन्त्र्येण जिज्ञास्यत्वाभावात्, *'यद्विज्ञानेन सर्वं विज्ञातं भवती'* इति श्रुतेः॥३५॥

भावानुवाद—अब यहाँ श्रीभगवान् अपने अनुग्रहको प्राप्त करानेवाले उपायको बतला रहे हैं—समस्त कार्योंके उपादान रूपमें अन्वय—अनुवृत्ति

है; आधारत्व–कर्त्तृत्वादि निमित्त कारण रूपमें व्यतिरेक—अननुवृत्ति है। इस प्रकार "तदात्मानं स्वयमकुरुत अर्थात् स्वयं ही स्वयंको प्रकट किया है"—वेदोक्त रीतिके अनुसार अन्वय–व्यतिरेक रूपसे जो सर्वत्र और सर्वदा रहते हैं—यहीं तक परमात्मारूपी मेरे तत्त्व जाननेके इच्छुक व्यक्ति द्वारा जिज्ञास्य है अर्थात् मेरे ज्ञानको प्राप्त करनेके लिए विचारणीय है। इसका कारण है कि "यद् विज्ञानेन सर्वं विज्ञातं भवति अर्थात् जिसे जान लेनेपर समस्त ही ज्ञात हो जाता है"—इस वेद–वचनके अनुसार अन्य किसी विषयकी स्वतन्त्र रूपमें जिज्ञासा करनेकी आवश्यकता नहीं है॥३५॥

श्रीवल्लभाचार्यपाद

एवं प्रमेयं प्रमाणं विषयं च निरूप्य निरूप्यान्तरशङ्कां वारयन् त्रिष्वप्युपपत्तिं वदति—एतावदेव जिज्ञास्यमिति; निरूपणं तु जिज्ञासानुरोधेन। जिज्ञासा तु त्रिष्वेव न तु शास्त्रान्तरवत् षोडशधा। तस्यात्मोपयोगाभावात् आत्मार्थमेव हि जिज्ञास्यम्; तदाह—तत्त्वजिज्ञासुनात्मनः इति। प्रमेयं ज्ञानं, प्रमाणं वैराग्यं, विषयो दशविधा लीलाभक्तिः। आत्मनस्त्वेतावदेवोपयुज्यते, अन्यत्तुदेहाद्यर्थं। एवं निरूप्यान्तरं निराकृत्य त्रिष्वप्युपपत्तिमाह—अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात्सर्वत्र सर्वदेति। अन्वय–व्यतिरेकाभ्यां इत्युपपत्तिः; 'यत्' इत्यादि त्रयमुद्देश्यं। तत्र सर्वं भगवान् कथं? इति आकांक्षायां—अन्वयव्यतिरेकाभ्यां इति। सर्वत्र भगवतोऽन्वयोऽस्ति—घटः सन्, पटः सन्, भासत इति प्रियमिति च, सर्वत्रैवैकस्यान्वयः; अन्यथा, एक शब्दानुवृत्तिः प्रतीत्यनुवृत्तिर्वा न स्यात्। विशेषेण अतिरिच्यत इति व्यतिरेकः। घटादिभ्यः किमतिरिच्यते? घटस्तु घटान्नातिरिच्यते, तथा पटः पटात्; किन्तु, सत् घटादप्यतिरिच्यते पटादपि। एवं, सर्वत्र यत्सर्वं सत्सर्वस्मादतिरिच्यते, तद्ब्रह्मैव। ननु, एकमेव ब्रह्मत्व साधकमस्तु, किं द्वाभ्यां? इति चेन्न, अन्वयेन ब्रह्मत्वं न सिध्यति। जगति जगतोऽप्यन्वयात्। यद्यपि घटादेर्व्यतिरिच्यते जगत्, तथापि जगतो न व्यतिरिच्यते। खपुष्पादिकं तु जगतो व्यतिरिच्यते, परं नान्वेति। सत् जगतो व्यतिरिच्यते; भगवतोऽपि सत्वात्, कारणस्यापि सत्वात्। अतो यस्यान्वयव्यतिरेकौ, तदेव सर्वं; किञ्च, यत्सर्वत्र स्यात्। यद्वा, सर्वदा देशकालौ यस्य परिच्छेदकौ न भवतः। तत्राप्यन्वयव्यतिरेकाभ्याम्। माया ह्यन्वयेन परिच्छिद्यते। न हि मायाविषये आभासे सदन्वयोऽस्ति। न चाभासः सतो न व्यतिरिच्यते स्वस्यैवाऽसत्त्वात्। भगवांस्तु मायायामप्यस्ति, अतिरिक्तेऽपि एवं कालेऽपि। विषये घटे सत्कारणं–सत्कार्यं–सदाधारः–सदाधेयम् सत्त्वेऽप्यतिरिक्तता। न हि मृदेव घटः। तदा मृदवस्थायामपि घटप्रतीतिः स्यात्; घटशब्दप्रयोगश्च। एवं कार्ये सर्वदा पञ्चधा भगवानन्वेति, पञ्चधा च

व्यतिरिच्यते। घटो हि पटादिभ्यो व्यतिरिच्यते, कारणादपि व्यतिरिच्यते, घटान्तरादपि व्यतिरिच्यते, आविर्भावात्तिरोभावाच्च व्यतिरिच्यते। घटस्य ह्याविर्भावस्तिरोभावश्च। अत एकस्मिन् घटे आविर्भाव-तिरोभावाभ्यां दशधा भगवानस्ति। एवं, सर्वत्र दशलीलायुक्तोभगवान्; अनेन स्वरूपं भगवान्। देशप्रतीतिस्तु मायिकी, कालप्रतीतिस्तु लीलाया। एवं, देशकालवस्त्वपरिच्छिन्नं; देशकालवस्तुरूपं च 'अहमेव' इति—एतावदेव जिज्ञास्यं; इदमेव उपपत्या विचारितं। उत्पत्त्या च, 'पुरुष एवेदं सर्वं', 'वितस्तिमधितिष्ठत' इति। उद्देशे च 'न यतोस्तिकिञ्चित्', 'प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तं' इति च। एवं भगवतो ब्रह्मणः शिक्षानिरूपिता। ब्रह्मरूपं जगज्ज्ञातव्यं, जगतो व्यतिरिच्यत इति न तत्रासक्तिः कर्त्तव्या। एकस्मिन्नपि पदार्थे सर्वलीलासहितो भगवानस्तीति च, देशकालवस्तुरूपः सन् देशकालवस्तुभ्यो व्यतिरिच्यत इति॥३५॥

भावानुवाद—इस प्रकारसे भगवत्-स्वरूपका, वेदोंका और विषय जगद्रूप भगवान्का निरूपण करके जो कुछ भी निरूपण करनेसे रह गया है, उसकी आशङ्काको दूर करनेके लिए प्रमेय, प्रमाण और विषय तीनोंमें युक्तिपूर्वक कह रहे हैं—"एतावतेव जिज्ञासम् अर्थात् जिज्ञासाके अनुसार ही वस्तुका निरूपण होता है।" यहाँ श्रीभागवत्-शास्त्रमें कथित प्रमेयादि तीन वस्तुओंकी ही जिज्ञासा की गयी है, अन्य मोहक शास्त्रोंकी भाँति सोलह वस्तुओंकी नहीं, क्योंकि सोलह वस्तुओंकी जिज्ञासाका आत्माके लिए कुछ भी उपयोग नहीं है। आत्माके लिए ही सब कुछ जिज्ञास्य (विचारणीय) होता है। इसलिए कहते हैं—"तत्त्व जिज्ञासुनात्मनः।" (१) ज्ञानका साधन होनेसे, ज्ञानका विषय होनेसे और ज्ञानरूप होनेसे भगवान्का स्वरूप ही प्रमेय है। यहाँ प्रमेय शब्दसे भगवत्-स्वरूप लिया गया है अर्थात् भगवत्-स्वरूपका उपयोग ज्ञानरूपसे होता है। (२) प्रमाण अर्थात् वेद और वेदोक्त साधन यज्ञादि वेद कर्मका प्रतिपादन करते हैं और भगवद्भक्तको काम्यादि कर्मोंसे वैराग्य है, अतएव वैराग्योपयोगी होनेसे वेदादि प्रमाणको यहाँ वैराग्य शब्दसे कहा गया है, और (३) विषय शब्दसे दशविध लीलामें भक्ति (स्नेह) कहा गया है। सम्पूर्ण विश्व ही विषय है, यह विरुद्ध धर्मोंका आधार है। यह दस प्रकारकी लीलाओंकी भक्तिमें उपयोगी होता है। इसलिए विषय शब्दसे विश्वरूप दशविध भगवत्-लीलाओंकी भक्ति कही गयी है। आत्माके उद्धारमें इन तीनोंका ही उपयोग है तथा अन्य जो कुछ शास्त्रोक्त साधनादि हैं,

वे सब देहादिके उपयोगी हैं। इस प्रकार इन प्रमेयादिके निरूपणसे ही अन्य शास्त्रोक्त साधन आदिका निराकरण करके इन तीनोंके विषयमें उपपत्ति (युक्ति) का निरूपण कर रहे हैं—'अन्वयव्यतिरेकाभ्यां' आदि। अन्वय-व्यतिरेक—यह युक्ति है और 'यत्' प्रमेय, प्रमाण और विषय तीनोंके उद्देशसे कहा गया है। "अनु एति इति अन्वयः" अर्थात् वस्तुमात्रके साथ जो लगाव है, वह अन्वय है और जो सबसे पृथक् है, वह व्यतिरेक है।

इस विश्वमें वास्तव तत्त्व क्या है? इसका उत्तर इतना ही है कि जो तत्त्व इस समस्त विश्वके साथ युक्त रहता है और जो इससे भी श्रेष्ठ होकर विद्यमान है, वह तत्त्व ही वास्तव तत्त्व है। यही इस सिद्धान्तको समझनेके लिए उपपत्ति (युक्ति) है। भगवान् परब्रह्म सच्चिदानन्द हैं। यह वेदसे सिद्ध है। सत्-चित्-आनन्द—इन तीनोंमेंसे पहले 'सत्' रूप भगवान्के सम्बन्धमें ही कह रहे हैं। इस विश्वमें सत्का अन्वय है अर्थात् यह सत् भगवान् सबके साथ युक्त रहते हैं। अर्थात् घट है, पट है, जल है, वस्तु है आदि सम्पूर्ण जगत्के साथ 'है' का अन्वय हो रहा है। केवल सत्का ही नहीं, अपितु चित् और आनन्दका भी अन्वय हो रहा है। सभी वस्तुओंमें ज्ञान और प्रियता युक्त हैं। ये सत्-चित्-आनन्द तीनोंका ही समस्त जागतिक वस्तुओंसे अन्वय (सम्बन्ध) है। इस प्रकार सर्वत्र सच्चिदानन्द भगवान्का ही अन्वय है। इस अन्वयसे सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण जगत् सच्चिदानन्दमय है। यदि समस्त जगत् भगवद्रूप न होता तो सत्-चित् आदि पद साथमें नहीं लगाये जाते और उनका अनुभव भी नहीं होता।

अपने विशेषसे भी जो सबसे अधिक रहता है वह व्यतिरेक है। अब विचार यह करना है कि घट-पटादि जगत्से अधिक क्या रहता है? घटसे घट अधिक नहीं है और पटसे पट भी अधिक नहीं है, किन्तु सत् ही घटसे अधिक रहता है। "घटः सन् पटः सन्" अर्थात् घट है, पट है। यहाँ घटसे अधिक सत् ही रहता है। इस प्रकार जो वस्तु सर्वत्र सबसे अधिक रूपमें रहता है, वह ब्रह्म ही है। इसलिए ब्रह्मका ही सर्वत्र अन्वय है और ब्रह्म ही सबसे अधिक होकर रहता है, इसलिए सभी वस्तुओंका तत्त्व ब्रह्म ही है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि ब्रह्मत्वको सिद्ध करनेके लिए एक अन्वय ही बहुत था, फिर दो (अन्वय और व्यतिरेक) क्यों कह रहे हैं? इसके उत्तरमें कहते हैं कि केवल अन्वयसे जगत्का ब्रह्मत्व सिद्ध नहीं होता, क्योंकि जगत्में जगत्का भी अन्वय रहता है, इसलिए व्यतिरेक भी साथमें कहा गया है। यद्यपि घटसे जगत् व्यतिरिक्त है, तथापि जगत्से जगत् व्यतिरिक्त नहीं हो सकता। यद्यपि आकाश-कुसुम, बाँझका पुत्र आदि जगत्में व्यतिरिक्त हैं, तथापि उनके साथ सत्का अन्वय नहीं है। सत् तो जगत्से व्यतिरिक्त है और उसका अन्वय भी है। भगवान् भी सत् है और कारण भी सत् है। अब इससे यह सिद्ध होता है कि जिसका अन्वय और व्यतिरेक हो वही सब कुछ है। सत् आदि रूपसे भगवान्का अन्वय-व्यतिरेक है, इसलिए भगवान् ही विश्वरूप हैं।

एक बात और भी है—जो वस्तु अन्वय-व्यतिरेकसे सर्वत्र विद्यमान है, अथवा सर्वदा देश-कालसे जिसका परिच्छेद नहीं हो सकता हो, वही सब कुछ है। मायामें अन्वयका परिच्छेद है, किन्तु मायाके विषय आभासादिमें सत्का अन्वय नहीं है। यदि कहो कि आभास सत्से व्यतिरिक्त नहीं है, यह ठीक नहीं है, क्योंकि वह व्यतिरिक्त है। इसका उत्तर यह है कि आभास स्वयं ही असत् है और भगवान् तो सम्पूर्ण जगत्में हैं, मायामें भी हैं, सबसे अतिरिक्त सत् आदिमें भी और कालमें भी विद्यमान हैं। अब यह सिद्ध हो गया कि एक ही घट रूप विषयमें कारण भी सत् है, कार्य भी सत् है, आधार और आधेय भी सत् ही हैं और इस प्रकार सत् (विद्यमान) रहकर भी व्यतिरिक्त है। मृत्तिका ही घट नहीं है, और यदि ऐसा ही होता तो मृत्तिका अवस्थामें भी घटकी प्रतीति होती और घटका उपयोग भी होता। परन्तु ऐसी प्रतीति नहीं होती और कोई भी उसे घट नहीं कहते हैं। इसलिए घट नहीं है, घट कोई अलग वस्तु है। इसी प्रकार इस दृष्टान्तमें भगवान् भी जगत्में पाँच प्रकारसे अन्वयको प्राप्त होते हैं। भगवान् कारण, भगवान् कार्य, भगवान् आधार, भगवान् आधेय और इनसे अतिरिक्त रूपमें भी भगवान्का अन्वय है।

उक्त दृष्टान्तमें घटका व्यतिरेक भी पाँच प्रकारसे है। घटादि पटादिसे व्यतिरिक्त है, कारणसे व्यतिरिक्त हैं, अन्य घटसे भी व्यतिरिक्त हैं और आविर्भाव तथा तिरोभावसे भी व्यतिरिक्त हैं। घटका आविर्भाव भी होता है और तिरोभाव भी होता है। यही बात इस दृष्टान्तमें भी है। एक ही घटरूप जगत्में पूर्वोक्त प्रकारसे आविर्भाव–तिरोभावके द्वारा दस प्रकारसे भगवान् विद्यमान हैं। इस प्रकारसे भगवान् दस–लीला सहित ही समस्त जगत्में विद्यमान रहते हैं। इस रीतिसे इस विश्वका वास्तविक स्वरूप भगवान् हैं। देश (अधिष्ठान) की प्रतीति तो मायिक है और कालकी प्रतीति लीलाकृत है। इस प्रकार सिद्ध हुआ है कि देश, काल और वस्तु परिच्छिन्न नहीं है और देश, काल और वस्तुओंका वास्तव स्वरूप 'अहं' (मैं) ही हूँ और यह सर्वात्मा भगवान् ही जिज्ञास्य (जानने योग्य) हैं। इस उपपत्तिका ही विचार किया गया है। तथा श्रुतियोंके वचन भी सम्पूर्ण जगत्को भगवद्रूप कहते हैं—"पुरुष एवेदं सर्वं", "वितस्तिमधितिष्ठति", "न यतोस्ति किञ्चित्", "प्रादेश मात्रं पुरुषं वसन्तम्" आदि।

इस प्रकार श्रीभगवान् द्वारा ब्रह्माको प्रदानकी गयी शिक्षाका निरूपण हुआ। इसका सार यह है कि सम्पूर्ण जगत्को भगवान्का ही स्वरूप जानो, किन्तु भगवान् तो जगत्से अलग हैं, इसलिए जगत्में आसक्ति नहीं करनी चाहिये। एक–एक वस्तुमें सर्व (दस) लीला सहित भगवान् विद्यमान हैं तथा देश, काल और वस्तु रूप होकर भी देश, काल और वस्तुओंसे अलग ही रहते हैं॥३५॥

श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर 'प्रभुपाद'

भारतवर्षमें जिनका मनुष्यजन्म हुआ है, वे भक्तिधर्मका प्रचारकर परोपकार करके अपना जन्म सार्थक करें। उपास्यके विषयमें जिज्ञास्य (प्रश्न) सम्बन्धज्ञानके अन्तर्गत विषय है। प्राप्य या प्रयोजन जिज्ञासाका उत्तर पिछले श्लोकमें कहा गया है, अर्थात् जीव परम सुदुर्लभ हरिप्रेम प्राप्त करनेमें समर्थ है और उस हरिप्रेमकी प्राप्तिके उद्देश्यसे उसका अङ्गीभूत जो साधन है, वही अभिधेय—जिज्ञासा है। सकाम और

निष्काम भेदसे उपास्य और उपासनाका प्रकार भेद है। उपास्य-विचारसे ब्रह्म और परमात्माकी श्रीभगवान्‌की भाँति उपयोगिता नहीं है। केवल ज्ञानगम्य वस्तुको ब्रह्म और केवल-ज्ञानगम्य वस्तुके सान्निध्यकी प्राप्तिके लिए परमात्माका, भजनीय भगवान्‌की भाँति उपास्य-श्रेष्ठत्वके अतिरिक्त अन्य बातोंका प्राकट्य देखा जाता है। श्रीभगवान् ही उपास्यक्रममें सर्वश्रेष्ठ हैं। ब्रह्म और परमात्मा उनके ही प्रकाशभेद हैं। ब्रह्म-उपास्यत्वकी उपासनामें केवलज्ञान, परमात्म-उपास्यत्वमें योग और भजनीय वस्तुकी सुष्ठुसेवा क्रममें अभिधेय-शिरोमणिके रूपमें भक्ति ही निर्दिष्ट हुई है। तत्त्वजिज्ञासु व्यक्ति अनात्मविषयक स्थूलदेह और मनकी जिज्ञासा नहीं करते। परमात्म-वस्तुकी जिज्ञासा सकाम-व्यक्तियोंमें क्रमशः कम हो जाती है। सब प्रकारसे अभिधेय क्या है?—यह जिज्ञासा उदित होना कर्त्तव्य है। इसके उत्तरमें जाना जाता है—

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः।
भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः॥

(श्रीमद्भा॰ ६/३/२२)

अर्थात् "इस जगत्‌में जीवोंके लिए मात्र यही सबसे बड़ा कर्त्तव्य अर्थात् परम धर्म है कि वे नामसङ्कीर्त्तन आदि उपायोंसे भगवान्‌के श्रीचरणकमलोंके प्रति भक्ति भाव प्राप्त कर लें।"

इस श्लोकके तात्पर्य-अन्वयमें अभिधेयका सार प्रतिष्ठित है। और भी,

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः,
क्षिणोत्यभद्राणि च शं तनोति।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानञ्च विज्ञान-विरागयुक्तम्॥

(श्रीमद्भा॰ १२/१२/५५)

अर्थात् "भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी अविचल स्मृति समस्त प्रकारके पाप-ताप और अमङ्गलोंको नष्ट कर देती है और परम शान्तिका विस्तार करती है। उसीके द्वारा अन्तःकरण शुद्ध हो

जाता है, भगवान्‌की भक्ति प्राप्त होती है और परम वैराग्यसे युक्त भगवान्‌के स्वरूपका ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त होता है।" आदि व्यतिरेक-निरास-तात्पर्यमें भी वही भक्ति ही अभिधेयके रूपमें अवस्थान करती है। जीवके स्वरूपमें भगवान्‌का दास्य वर्त्तमान होनेके कारण आत्माराम मुनिगण और निर्मुक्त परमहंसगण 'वैष्णव' नामसे जाने जाते हैं। श्रीभगवान्‌के दास्यके अतिरिक्त वैष्णवोंका इस लोकमें और परलोकमें (वर्त्तमान और भविष्यमें) अन्य कोई भी कार्य नहीं है। हरिसेवाकी विस्मृतिके कारण ही जीवको इन्द्रियोंके विषयका भोग और इन्द्रियतर्पण ही प्रयोजन रूपमें प्रतीत होते हैं। उस समय बद्धजीवके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष (रूप तुच्छ प्रयोजन) हरिसेवाके स्थानपर अधिकारकर जीवको भोग और त्यागके राज्यमें भ्रमण कराते हैं। व्यतिरेक-बुद्धिसे श्रीकृष्णका विस्मरण उदित होता है। श्रीकृष्णको भूले हुए जीवका कुदर्शन वैष्णवोंसे विद्वेषमें बदल जाता है। तब सुदर्शन (विष्णु और वैष्णवोंको सेवोन्मुख वृत्ति द्वारा यथार्थ रूपमें दर्शन करना) जीवको पुनः विभिन्न प्रकारसे राजाकी भाँति नदीमें डुबाकर[१] बादमें उसका उद्धार करते हैं। तब जीव कहते हैं—

नास्था धर्मे न वसुनिचये नैव कामोपभोगे
यद्यद्भव्यं भवतु भगवन् पूर्वकर्मानुरूपम्।
एतत् प्रार्थ्यं मम बहुमतं जन्मजन्मान्तरेऽपि
त्वत्पादाम्भोरुहयुगगता निश्चला भक्तिरस्तु॥

(श्रीमुकुन्दमाला स्तोत्रम् ५)

अर्थात् "हे भगवन्! पुण्यात्मक धर्ममें अथवा धनरत्नसमूहमें अथवा कामके उपभोगमें मेरी कुछ भी आकांक्षा नहीं है। पूर्वकर्मके अनुसार मेरा जो कुछ भी होना है, वह हो। किन्तु, जन्मजन्मान्तरमें भी आपके श्रीचरणकमलोंमें मेरी निश्चला भक्ति रहे—यही मेरी एकमात्र प्रार्थना है।"

---

[१] पूर्वकालमें राजा अपराधी व्यक्तिको दण्ड देनेके लिए उसे कुछ क्षण तक नदीके जलमें डुबाकर रखते, फिर थोड़ा साँस लेनेके लिए जलसे ऊपर लाते और पुनः उसे जलमें डुबाते। इस प्रकार उसे दण्ड देकर अन्तमें छोड़ देते।

और उसी समय जीव श्रीचैतन्यचन्द्रके श्रीचरणोंका आश्रय करके कहते हैं—

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि॥
(श्रीशिक्षाष्टक–४)

अर्थात् "हे जगदीश! न मैं धन चाहता हूँ, न जन चाहता हूँ, न सुन्दरी कविता ही चाहता हूँ। हे प्राणेश्वर! मेरी एकमात्र कामना है कि जन्मजन्मान्तरमें आपके श्रीचरणकमलोंमें मेरी अहैतुकी भक्ति हो।"

भाग्यहीन जीवके श्रीचैतन्यचन्द्रकी सेवासे वञ्चित होनेके कारण ही उसका विवेक नष्ट हो जाता है और द्वितीयाभिनिवेश (अर्थात् भगवान्‌के अतिरिक्त अन्य वस्तुओंमें आसक्ति) के कारण वह कर्मफलका भोक्ता हो जाता है। श्रीकृष्णसे इतर वस्तुओंके प्रति कामनाका त्याग और साधु–गुरुके उपदेशके अनुगत होना ही जीवके लिए चरम कल्याणजनक है, यही प्रेमभक्ति–रहस्यका अङ्गरूप अभिधेय है। श्रीगुरुदेवके निकट श्रवणके लिए इच्छुक होकर प्रणति, परिप्रश्न और सेवा द्वारा अन्वय या श्रौतपथसे भक्ति प्राप्त होती है। पुनः उसके विपरीत तर्कपथमें दुर्जन व्यक्तियोंका सङ्ग परित्यागकर अपनेसे श्रेष्ठ स्वजातीय–आशय–स्निग्ध साधुके सङ्गसे क्रमशः वही भक्ति प्राप्त होती है। व्यतिरेक–विचारसे भी भक्ति या श्रौतपथमें जीवकी साधनचेष्टा सफलता प्राप्त करती है। जहाँ व्यतिरेक–पथ और अन्वय–पथकी निर्दिष्ट वस्तु अद्वयज्ञान नहीं है, वहीं भक्तिके अतिरिक्त अन्यवृत्ति अर्थात् जड़ीय काम–क्रोधादि छह प्रकारके शत्रुओंकी चञ्चलता प्रबल हो जाती है। वह 'अभक्ति' शब्दवाच्य है, किसी भी स्थितिमें वह प्रेमभक्तिका अङ्ग नहीं है।

साधनभक्तिके क्रममें श्रीगुरुदेवके चरणकमलोंका आश्रय ही मूल विचार है और श्रवणाख्य–भक्ति ही एकमात्र अवलम्बनीय है। जो श्रवण करते हैं, वे ही व्यतिरेक–पन्थीके विचारका विषाद मिटा सकते हैं अर्थात् तार्किकोंको श्रौत–भक्तिमार्गमें लाकर उनका महान उपकार

करते हैं। यही "जीवके प्रति दया" और स्वरूपतः 'वैष्णव-सेवा' है। अन्वयरूपसे श्रौत-नामग्रहण आदिका पथ भक्तियोगमें अवलम्बनीय है और उसे प्राप्तकर कीर्त्तनाख्या भक्तिके आश्रयमें ही विभिन्न प्रकारकी भक्ति साधित होती हैं। जो श्रौतपथका आश्रयकर सद्‌गुरुके शिष्य होते हैं, वे ही विश्रम्भभावसे गुरुसेवाके द्वारा तथा साधुपथके अनुगमनके माध्यमसे कीर्त्तनाख्या भक्तिका आश्रय ग्रहण करते हैं। कीर्त्तनाख्या भक्तिके प्रभावसे अनर्थोंके दूर होनेपर भगवत्-स्मृति स्वतःसिद्ध रूपसे स्वयं प्रकाशित होती है। जिनमें आत्मजिज्ञासा उदित नहीं हुई है तथा अनात्मजिज्ञासाका उदय होनेके कारण अभक्तिको ही जिन्होंने साधनके रूपमें निरूपण कर लिया है, उन लोगोंके लिए प्राप्य प्रेम-भक्तिका सोपान या भक्तिका अङ्ग—साधनभक्तिके उदित होनेके लिए किसी भी प्रकारका सुयोग नहीं है।

ब्रह्मसूत्रके साधनपादमें जिस प्रकारसे अन्य (इतर) साधनोंका खण्डन हुआ है, वही इस श्लोकका प्रतिपाद्य विषय है। ब्रह्मसूत्रके चतुर्थपादको फलाध्याय बतलाया गया है और इस फलाध्यायका पूर्व अध्याय 'साधन' नामसे कथित है। प्रथम दो पाद सम्बन्धज्ञान विषयक हैं, तृतीयमें भक्ति अर्थात् अभिधेय और चतुर्थमें प्रेमरूपी प्रयोजन ब्रह्मसूत्रका उपदिष्ट विषय है। सम्बन्ध-अभिधेय-प्रयोजन तत्त्व मदन-गोपाल, गोविन्द और गोपीजनवल्लभके तीन स्वरूप-वैचित्र्योंमें बतलाया गया है। प्रारम्भके श्लोकमें "गृहाण गदितं मया" यह श्रौतपथ साधनपादका और इस श्लोकका वर्णनीय विषय है। उसके फलस्वरूप भावभक्ति और प्रेम-प्राकट्य अवश्यम्भावी है। धर्म-अर्थ-काम या मोक्षके विचारमें जिस प्रकारके अन्य (इतर) फल कल्पित होते हैं, रहस्यमय प्रेमके साथ उनकी तुलना नहीं की जा सकती। चतुर्वर्गकी प्राप्तिके साधन कर्म और ज्ञानमार्गसे बँधे हुए हैं। आत्मधर्मरूप भक्ति एकमात्र वैष्णवोंके द्वारा ही प्राप्य है। अवैष्णव व्यक्तियोंने भ्रमवशतः जिन सब अभिधेयोंको स्थिर किया है, वे सब नश्वर अनुभूतिमय अनात्मा (जड़) के अभिधेय शब्द-वाच्य हैं।

अधोक्षज-सेवाकी तुलना अभक्तके कर्म और ज्ञानके साथ नहीं हो सकती। वे लोग अन्वय-विचारका परित्यागकर व्यतिरेक-विचारसे

दिशा-हीन हुए हैं, अतः वे भगवत्-कृपाके अयोग्य हैं। भगवत्-कृपाको अभिधेय माननेसे कृपाग्रहणरूप भजनको उससे स्वतन्त्र नहीं समझना चाहिये। भजनका फल प्रेम—अभिधेयका फलस्वरूप है और मूल अङ्गीभूत वस्तु है॥३५॥

श्रीश्रीनिवासाचार्यपाद

तदेवं मधुरेण समापयेत्—ऐतावदेवेति। आत्मनो मम तत्त्वं पूर्वोक्तं सुगोप्यं सर्वगुह्यतमं परम-रहस्यं जिज्ञासुना ज्ञातुमिच्छुना शिष्येण एतावदेव जिज्ञास्यं पुनः पुनः ज्ञातव्यं। कुतः परमस्तु? परमसाधन-परम-पुरुषार्थ-विचारनिपुण श्रीभागवत-रक्तरसिकासङ्गसङ्गि-प्रसन्नोज्ज्वलचित्त-जीवनीभूत-गोविन्दपादपद्म-सुधास्वादक-श्रीचैतन्य-चन्द्रचरणाब्जचञ्चरीक-श्रीराधापदनखचन्द्रचकोर-श्रीगुरुतः शिक्षणीयं पूर्वोक्तमेव, श्रीकृष्णलीला-रहस्यं—स्वकीया परकीया; गोपीषु परकीया-भावादिकं, नान्यत्। केन प्रकारेण? इत्याह—अन्वय-व्यतिरेकाभ्याम्। अन्वयेन अनुगमनेन अनुसेवयेत्यर्थः; व्यतिरेकेण विशिष्टेन अतिरेकेण औत्कट्येन परमार्त्त्येत्यर्थः। यत् श्रीगुरोरनुगमनं सर्वत्र सर्वभजनसाधने अनुसरणं सर्वदा सर्वकाले जीवने मरणे विपदि सम्पदि दूरे निकटे दिनादौ निशादौ सङ्कीर्त्तनादौ महाप्रसादे अनुशीलने इत्यादि। अतएव—*'तस्माद् गुरुं प्रपद्येत'* (श्रीमद्भा॰ ११/३/२१) इत्यादि। *'तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः'* (श्रीमद्भा॰ ११/३/२२) गुरुरेवात्मा दैवतञ्च; *'तस्मै श्रीगुरवे नमः'*, *'ये मया गुरुणा वाचा तरन्त्यञ्जो भवार्णवम्'* (श्रीमद्भा॰ १०/८०/३३), *'यथाहं ज्ञानदो गुरुः'* (श्रीमद्भा॰ १०/८०/३२); गुरोरनुग्रहेणैव पूर्णः। हरिगुरुचरणारविन्द-युगलानुशीलनेन *'बलवानादरो यस्य न स्याद्गुरुपदाम्बुजे। श्रुतैरप्यस्य सच्छास्त्रैः कृष्णे भक्तिर्न जायते॥'*; हरिरेव गुरुः, गुरुरेव हरिः। *'गुरु-कर्णधारम्'* (श्रीमद्भा॰ ११/२०/१७), *'गुरुषु नरमतिः'* (पाद्मे), *'गुरोरवज्ञा श्रुतिशास्त्रनिन्दनम्'* (पाद्मे), *'आचार्यं मां विजानीयात्'* (श्रीमद्भा॰ ११/१७/२७) इत्यादि। किं बहुना? नास्ति तत्त्वं गुरोः परम् इति दिक्॥३५॥

भावानुवाद—अब श्रीभगवान् मधुर-भावसे प्रसङ्गका समापन कर रहे हैं। मेरे (श्रीकृष्णके) पूर्वोक्त सुगोप्य, परमगुह्यतम, परम-रहस्य तत्त्वकी जिज्ञासा उदित होनेपर शिष्य पुनः-पुनः इस विषयकी ही जिज्ञासा करें। जिज्ञासाका स्थल एकमात्र श्रीगुरुदेवके चरणकमल ही हैं तथा श्रीगुरुदेव भी परम साधन और परम पुरुषार्थादि विषयक विचारमें निपुण हों, श्रीभागवतमें अनुरक्त रसिकजनोंके सङ्गपरायण

होनेके कारण वे प्रसन्न और उज्ज्वल-चित्त हों, अपने जीवन स्वरूप श्रीगोविन्दके चरणकमलोंकी सुधाके आस्वादक हों, श्रीचैतन्यचन्द्रके श्रीचरणकमलोंके मधुकर और श्रीराधिकाके पदनखके चन्द्रचकोर हों। इस प्रकार श्रीगौर-गोविन्दके भजनमें निपुण श्रीगुरुदेवके निकट ही श्रीकृष्णलीलाका रहस्य जानना चाहिये। इस 'लीला-रहस्य' शब्दसे स्वकीया और परकीया भेदसे दो प्रकारकी लीला और गोपियोंके विषयमें परकीयाभाव आदि, अन्य कुछ (स्वकीया आदि) नहीं—यही जानने योग्य विषय है। यह विषय किस प्रकारसे शिक्षणीय है? इसके उत्तरमें कहते हैं—अन्वय और व्यतिरेक रूपसे। 'अन्वय' शब्दसे आनुगत्य अर्थात् निरन्तर सेवा और 'व्यतिरेक' शब्दसे उत्कण्ठा अर्थात् परमार्त्ति ही ध्वनित होती है। अतएव परमार्त्तिसे परिपूर्ण होकर श्रीगुरुदेवके चरणकमलोंकी नित्य आनुगत्यमूलक सेवाके द्वारा ही श्रीकृष्णलीलाका रहस्य जानना चाहिये। इसका कारण है कि श्रीगुरुदेवके चरणकमलोंका आनुगत्य ही 'सर्वत्र' अर्थात् समस्त भजन-साधनमें; 'सर्वदा' अर्थात् सर्वकालमें—जीवन-मरणमें, विपद-सम्पदमें, दूर-निकटमें, प्रभात-प्रदोषमें, सङ्कीर्त्तनारम्भ और महाप्रसाद सेवनमें, एक विचारसे जीवनके प्रति पदक्षेप और प्रति मुहूर्त्तमें ही अनुशीलनीय कार्योंमें अत्यावश्यक धर्म है।

इस विषयमें श्रीमद्भागवतादि शास्त्र ही प्रमाण हैं—(श्रीमद्भा॰ ११/३/२१)—"जो परम कल्याणके जिज्ञासु हैं, उन्हें श्रीगुरुदेवके चरणकमलोंकी शरण लेनी चाहिये।"; (श्रीमद्भा॰ ११/३/२२)—"श्रीगुरुको ही अपना आत्मा (प्रिय बान्धव) और देवता (परमाराध्य इष्टदेव) मानें, उनकी निष्कपट भावसे सेवाकर भागवत-धर्मकी शिक्षा ग्रहण करें।"; (श्रीमद्भा॰ १०/८०/३३)—"वे श्रीगुरुदेवके उपदेशानुसार अनायास ही भव-सागरसे तर जाते हैं।"; (श्रीमद्भा॰ १०/८०/३२)—"ज्ञानके उपदेश द्वारा परमात्माको प्राप्त करवानेवाले श्रीगुरु तो मेरा स्वरूप ही हैं।"; "हरिरेव गुरु गुरुरेव हरि अर्थात् श्रीहरि ही गुरु हैं और गुरु ही श्रीहरि हैं।"; (श्रीमद्भा॰ ११/२०/१७)—"शरण ग्रहणमात्रसे ही श्रीगुरुदेव मनुष्य-देहरूप नौकाके केवट बनकर पतवारका सञ्चालन करने लगते

हैं।" "आचार्यं मां विजानीयात् (श्रीमद्भा० ११/१७/२७) अर्थात् आचार्यको मेरा स्वरूप जानो।" आदि। अधिक कहनेका प्रयोजन नहीं है, क्योंकि श्रीगुरुसे श्रेष्ठ कोई तत्त्व नहीं है—यही इस विचारका दिग्दर्शन है॥३५॥

वेद और चतुःश्लोकी

(श्रीमद्भा॰ २/९/३२-३५)

किसी व्याख्याकारने इस प्रकार लिखा है—

"समग्र ऋग्वेदका संक्षेप-स्वरूप उसका जो प्रथम मन्त्र है, उसका अर्थ चतुःश्लोकी-भागवतके प्रथम श्लोकमें व्यक्त है। समग्र यजुर्वेदका संक्षेप-स्वरूप उसका जो प्रथम मन्त्र है, उसका अर्थ चतुःश्लोकी-भागवतके द्वितीय श्लोकमें कहा गया है। समग्र अथर्ववेदका संक्षेप-स्वरूप उसका जो प्रथम मन्त्र है, उसका अर्थ चतुःश्लोकी-भागवतके तृतीय श्लोकमें संगृहीत हुआ है। समग्र सामवेदका संक्षेप-स्वरूप उसका जो प्रथम मन्त्र है, उसका अर्थ चतुःश्लोकी-भागवतका चतुर्थ श्लोक है।

तथा (इसी प्रकार) चारों वेदोंके रहस्यभूत मन्त्रोंका अर्थ श्रीमद्भागवतके एकादश-स्कन्धके पञ्चम अध्यायमें उक्त "कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं" (श्रीमद्भा॰ ११/५/३२)—इस परमरहस्यमय श्लोकमें व्याख्यात हुआ है।

यथा—

'अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजं होतारं रत्नधातमम्।'

(ऋग्वेद—१ अष्ट॰, १ अ॰, १ मन्त्र)

अन्वय—यज्ञस्य (नाम-यज्ञस्य) पुरोहितं (अभीष्ट-सम्पादकं) ऋत्विजं (ऋतौ ऋतौ प्रत्युत्पत्तिकालं संसारं यजति सङ्गतं करोति यः तं) होतारं (प्रपन्नानां आह्वातारं) रत्नधातमं (सर्वकर्मफलरूपाणां रत्नानां अतिशयेन धारयितारं पालयितारं) देवं (अप्राकृत-क्रीड़ायां मोदमानं निरतिशयं दीप्तिमन्तं) अग्निं (अग्रं नयति नीयते इति वा तत् सर्वेषां अग्रवर्त्तिनं पश्चाद्वर्त्तिनं च श्रीनन्दनन्दनं) ईले (ईड़े, शब्दयाथार्थ्यनिर्णयपुरः स्तौमि)।

अनुवाद—नामयज्ञके अभीष्टको सम्पादन करनेवाले (अर्थात् व्रजदेवियों द्वारा विरहमें कृष्णनाम संयुक्त गीतरूपी यज्ञके अभीष्ट अर्थात् अपने दर्शनको प्रदान करनेवाले), प्रत्येक ऋतु (उत्पत्तिकाल) में संसारका यजन अर्थात् सङ्गत करनेवाले (अर्थात् वसन्त, शरद, हेमन्त आदि ऋतुओंमें—आद्य (शृङ्गार) रसके उद्दीपन कालमें सम्पूर्ण रूपसे सारवस्तुका यजन अर्थात् रासलीलाके लिए व्रजदेवियोंसे सङ्गम करनेवाले), शरणागत जनोंका आह्वान करनेवाले (अर्थात् व्रजदेवियोंको वेणुनाद द्वारा बुलानेवाले), सभी कर्मफलरूपी रत्नोंको अत्यधिक रूपमें धारण अर्थात् पालन करनेवाले (अर्थात् सभी चेष्टाओंके सार स्वरूप रासलीलाके नृत्य-विहार आदि रत्नोंको अत्यधिक रूपमें धारण करनेवाले), अलौकिक क्रीड़ामें आनन्दमग्न तथा अत्यन्त दीप्तिमान रहनेवाले, सभीके आगे और पीछे अर्थात् सर्वदा रहनेवाले (अर्थात् रासलीलामें सर्वदा समस्त व्रजदेवियोंके आगे और पीछे रहनेवाले) श्रीनन्दनन्दनकी मैं शब्दोंकी यथार्थताका (अर्थात् इस वेद मन्त्रका वास्तव अर्थ) निर्णय करके स्तुति करता हूँ।

[प्रस्तुत श्लोक द्वारा श्रीभगवान्, उनके परिकरों और उनकी लीलाकी नित्यता दिखलायी गयी है तथा इसका अर्थ "अहमेवासमेवाग्रे" (श्रीमद्भा० २/९/३२) श्लोकमें व्यक्त हुआ है।]

'ॐ इषे त्वोर्जे त्वा वायवः स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे। अप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरणमिवा अयक्ष्मा मा वः स्तेन ईशत। माघाशंसो ध्रुवा अष्मिन् गोपतौ स्यात् बह्वी यजमानस्य पशून् पाहि।'

(यजुर्वेद—१ अ०, १ मन्त्र)

अन्वय—(हे गोपेश्वर), सविता (सर्वजगत्प्रसविता) देवः (निरतिशयकान्तियुक्तः) त्वा (त्वाम्) इषे (अन्नार्थम्) ऊर्जे (कार्त्तिके मासि) श्रेष्ठतमाय कर्मणे (गोवर्द्धनयागं कर्त्तुं) प्रार्पयतु (प्रकृष्टतया संयोजयतु)। इन्द्राय (इन्द्रम् उद्दिश्य) भागं मा अप्यायध्वं (मा वर्द्धयध्वं यूयं इति शेषः)। अस्मिन् गोपतौ (गोवर्द्धने पूजिते सति) वः (युष्माकं गावः) अघ्न्यः (वर्द्धयितुमर्हाः हन्तुमनर्हाः) प्रजावतीः

(बह्वपत्याः) अनमिवा (अमिवा व्याधिः–तद्रहिताः कृमिदुष्टत्वादि–क्षुद्ररोगरहिताः इति भावः) अयक्ष्माः (यक्ष्मा रोगराजः तद्रहिताः प्रबलतर–रोगशून्याः इति भावः, भविष्यन्ति इति शेषः)। (तथा) स्तेनः (चौरः) मा ईशत (समर्थः मा भूत्) अघशंसः (अघेन तीव्रपापेण भक्षणादिना शंसः घातकः व्याघ्रादिः अपि हिंसकः मा भूत्)। हे वत्साः! (यूयं वायवः मातृभ्यः सकाशात् अन्यत्र गन्तारः) स्थ (भवथ)। ध्रुवाः (शाश्वतिक्यः) बह्वीः (बहुविधाः पूजादिकाः) स्यात् (स्युः, भवेयुः)। (हे गोपते) यजमानस्य (गोपराजस्य) पशून् (गोवत्सादीन्) पाहि (सम्यक् रक्ष)। (एतेन भगवदपरोक्षानुभवसाधनस्य मायात्यजनस्य कर्त्तव्यत्वमुपदिष्टम्)।

अनुवाद—हे गोपेश्वर श्रीकृष्ण! आप समस्त जगत्‌के रचयिता हैं। आप देव अर्थात् अत्यधिक कान्तिसे युक्त हैं। आप हम सभीको अन्नके उद्देश्यसे कार्त्तिक–मासमें गोवर्द्धन–यागरूप श्रेष्ठ अनुष्ठानका पालन करनेके लिए प्रकृष्ट रूपसे नियोजित करें तथा इन्द्रके उद्देश्यसे पूजा–उपहार समर्पित न करने दें। इन गोवर्द्धनकी पूजा होनेसे आपका गोधन नष्ट न होकर वर्द्धित होगा तथा क्षुद्र (कृमि आदि) तथा प्रबल (यक्ष्मा आदि) रोग–व्याधियोंसे रहित होकर बहुत–से बछड़े होंगे। चोर आपके इस गोधनको चोरी करनेमें और पशुघाती हिंसक व्याघ्र आदि हिंसा करनेमें समर्थ न हों। हे वत्सो! तुम अपनी प्राणतुल्य माताओंके निकटसे अन्यत्र कहाँ जा रहे हो (अथवा प्राणतुल्य गोवर्द्धनको त्यागकर अन्यत्र मत जाओ)। नित्य–निरन्तर ही विविध प्रकारकी पूजा आदि हो। हे गोपति श्रीकृष्ण! गोपराजके गोवत्सादिकी भलीभाँति रक्षा करो।

[प्रस्तुत श्लोकके द्वारा भगवान्‌के अपरोक्ष अनुभवको प्राप्त करनेके लिए मायाको त्यागनेकी आवश्यकताका उपदेश किया गया है तथा इसका अर्थ "ऋतेऽर्थं" (श्रीमद्भा॰ २/९/३३) श्लोकमें व्यक्त हुआ है।]

'ॐ शन्नो देवीरभीष्टये आपो भवन्तु पीतये शंयोरभिस्रवन्तु नः।'

(अथर्ववेद—१ अ०, १ प्र०, १ मन्त्र)

अन्वय—देवीः (देव्यः) आपः (चरणामृतरूपाः अधरामृतरूपाः वा) अभीष्टये (अभिलषिताय) पीतये (पानाय) भवन्तु, नः (अस्माकं) शं (कल्याणं भवन्तु), नः (अस्माकं) शंयोः (योगाय च) अभिस्रवन्तु (अभिगच्छन्तु)! (एतेन फलमुक्तम्)।

अनुवाद—हे (व्रज) देवियो! हमारे अभीष्ट रस-पानके लिए आपका चरणामृत या अधरामृत (वचनामृत) हो, हमारा कल्याण हो और योगके लिए अर्थात् अपनी चरणसेवाको प्रदान करनेके लिए आप हमारे निकट आइये (हृदयमें प्रकट होइये)।

[प्रस्तुत श्लोकके द्वारा फल अर्थात् प्रयोजन उक्त हुआ है तथा इसका अर्थ "यथा महान्ति" (श्रीमद्भा० २/९/३४) श्लोकमें व्यक्त हुआ है।]

'ॐ अग्ने आयाहि वीतये गृणामो हव्यादातये नि होता सत्सि बर्हिषि।'

(सामवेद—१ प्र०, १ अ०, छ० आ०, १ मन्त्र)

अन्वय—(हे) अग्ने (गोपीजनवल्लभ!) वीतये (अस्मद्दत्तान्न-ग्रहणाय) हव्यादातये (प्रपन्नेभ्यः स्व-प्रसादरूपस्य हविषः प्रदानाय च) आयाहि (प्रत्यागच्छ)। (तथा आगत्य च) गृणानः (अस्माभिः स्तूयमानः सन्) होता (प्रपन्नानां आह्वाता भूत्वा) बर्हिषि (आस्तीर्णेषु हृद्वृन्दावनस्थेषु कुशेषु) निषत्सि (निषीद)। (एतेन साधनमुक्तम्)।

अनुवाद—हे गोपीजनवल्लभ! हमारे द्वारा दिये जानेवाले अन्नको ग्रहण करनेके लिए और शरणागत जनोंको अपने प्रसाद रूप हविषको प्रदान करनेके लिए आप हमारे सम्मुख प्रकट हों। इस प्रकार प्रकट होकर हमारे द्वारा स्तुत होते हुए अपने शरणागत जनोंके आह्वानसे उनके हृदयरूपी वृन्दावनके कुशरूपी आसनपर विराजित हों।[१]

---

[१] उपरोक्त चार मन्त्रोंका अनुवाद ग्रन्थके सम्पादक श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराजजी द्वारा किया गया है।

[प्रस्तुत श्लोक द्वारा साधन उक्त हुआ है तथा इसका अर्थ “एतावदेव” (श्रीमद्भा० २/९/३५) श्लोकमें व्यक्त हुआ है।]”

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर 'प्रभुपाद' की

विवृतिसार

(श्रीमद्भा॰ २/९/३२-३५)

भागवत्-चतुःश्लोकीको ब्रह्माजीने श्रीभगवान्से प्राप्त किया, इसीसे भागवत्-शास्त्रका उदय हुआ है। चतुःश्लोकीके प्रारम्भके दो श्लोकोंमेंसे प्रथमकी विशेषता यह है कि भगवत्-वस्तु ज्ञानमय हैं, वे अचित् जड़ा-प्रकृति नहीं हैं। प्राकृतजगत्में जो चिदचित्-मिश्रज्ञान इन्द्रियोंके द्वारा प्राप्त होता है, वह 'प्रत्यक्ष' शब्दवाच्य है, अतः बाह्य चिन्मात्रज्ञान इन्द्रियों द्वारा प्राप्त नहीं होता है। वह अपरोक्ष है, अतः तटस्थ और गोपनीय है; तथा चित्-विलासज्ञान प्रत्यक्ष और अपरोक्षसे परम गोपनीय अधोक्षजसे सम्बन्धित है। नश्वर इन्द्रियतर्पण द्वारा प्राप्त अनुभूति विज्ञानसे युक्त नहीं है; केवलज्ञानके विज्ञानसे युक्त न होनेपर वह निर्विशिष्ट चिन्मात्र-वादमें बदल जाता है। केवलज्ञानके वैशिष्ट्य-विचारमें चित्-शक्तिविलास-वैचित्र्य अवस्थित है। चित्-शक्तिविलास नित्यानन्दमय है तथा अचित्-शक्ति नश्वर या परिणामशील, अनुपादेय, अपूर्ण और आनन्दके-अभावके धर्मसे युक्त है। विज्ञानके अभावमें जीव और मायाके स्वरूपज्ञानका अभाव विद्यमान रहनेके कारण, प्रत्यक्ष और अनुमान—ये दोनों प्रमाण वर्त्तमान रहते हैं। उसके अन्तराल (बीच) में आम्नाय (श्रौतपथ) अव्यक्त रूपसे अपरोक्ष और अधोक्षज वैशिष्ट्य सहित अवस्थित है। यह श्रौतपथ बाह्य-प्रज्ञासे अन्वित नहीं है, परन्तु व्यतिरेक-भावापन्न है। विज्ञानके बिना श्रौतपथ तर्कग्रस्त और जड़-निर्विशेषवाद है। चिदचित्-मिश्र निर्विशेष विचारमें बहिर्मुख इन्द्रिय गुणमायाके समन्वयको ही 'चिन्मात्र' के रूपमें निर्देश करता है। श्रीभगवान्के वचनोंमें विश्वास न होनेपर ही तर्कपथके अतिरिक्त ज्ञाताकी कोई अन्य गति नहीं है—यही हरि-विमुखता है।

उसके निराकरणके लिए श्रीभगवान्के द्वारा कथित वचन ही ग्रहणीय हैं। विज्ञानरहित केवलज्ञानके रहस्य और तदङ्गसे विहीन होनेके कारण श्रौतपथको जड़-इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य तर्कपथके अधीन किया जाता है। तर्कपथमें विज्ञानके अभावमें जीव और मायाके स्वरूपज्ञानका अभाव है। इसलिए तटस्थ या निर्विशेषभावकी प्रतिष्ठाके द्वारा बाह्यप्रज्ञासे चालित होकर रहस्य और अङ्गका सन्धान नहीं किया जा सकता। ज्ञानके रहस्य, विज्ञानके रहस्य, ज्ञानके अङ्ग और विज्ञानके अङ्गके श्रवणसे विमुख होनेपर ही जीव तर्कपथमें इन्द्रियज्ञानकी व्यतिरेक-कल्पनाको सत्य मान लेता है और सच्चिदानन्द, शक्तिमान सम्वित्-विग्रह भगवत्-वस्तुके अन्तरङ्ग, बहिरङ्ग और उसके अन्तर्गत तटाङ्गत्रयमें न्यूनाधिक स्वगत-भेद या गुण-गुणी भेदका आरोप करता है। किन्तु सम्वित्-विग्रहमें स्वगत-भेद स्वीकार करनेसे केवलज्ञानमें या चिन्मात्र-विचारमें दोष आ जाता है।

विज्ञानके विचारके अभावमें चित्-शक्तिपरिणतिके वर्जित होनेपर जीव नित्यचिन्मय-लीलारहस्यके आनन्दसे वञ्चित होकर परम गोपनीय ज्ञानरहस्य या सम्वित्-विग्रह व्रजेन्द्रनन्दनके सनातनतनु-स्वरूपकी नित्यानन्द-अनुभूतिसे वञ्चित हो जाता है। तर्कपथमें जड़-इन्द्रियकी सहायतासे भगवत्-अस्तित्वको मायिक, नश्वर और अज्ञानसे उदित मानकर निःशक्तिकत्वकी ही चिन्मात्रके रूपमें भ्रान्ति होती है। निःशक्तिकत्वको चित्-शक्तिमत्-भगवत्-वस्तुके ही अनन्त चित्-वैचित्र्योंमें अन्यतम समझ लेनेसे बलरहित भाव प्रबल होकर विज्ञानके अभावमें जीव मायावादी हो जाते हैं। ब्रह्मके साथ बहिरङ्गाशक्ति—प्रकृतिका समन्वय करनेकी दुष्प्रवृत्तिके कारण वैसे जीव अन्तरङ्गा और तटस्थाशक्तिके विज्ञानसे रहित हो जाते हैं। श्रीभगवान्के वचन और गुरुके वचनमें अश्रद्धाके कारण मायावादी नश्वर जड़-इन्द्रियोंके द्वारा अश्रौत पथको श्रौतपथ मान लेते हैं। वास्तव सत्यवस्तु व्रजेन्द्रनन्दनमें ही साङ्गोपाङ्ग-परिकरोंसे वेष्टित होकर परमगोप्य रहस्य वर्त्तमान है और उस प्रक्रियामें लीला-वैचित्र्यक्रमसे खण्डविचारमें 'परमात्मा' और असम्यक् विचारमें 'ब्रह्म' आदि संज्ञाओंको श्रौतपथकी भाषामें स्थान मिला है। श्रीभगवान्के नित्यरूप, नित्यगुण, परिकर-वैशिष्ट्य और

नित्यलीलाके रहस्य तथा अङ्गवैचित्र्य केवल चिदानन्दमें स्वगत-भेदरहित होकर अवस्थित हैं। यह वास्तव-सत्य तर्कपथमें या अधिरोह-वाद द्वारा प्राप्त विचारसे प्राप्त नहीं होता है।

श्रीभगवान् और भागवत (भक्त) जनोंकी कृपासे वास्तव-सत्य कीर्त्तित होकर चित्-रसको जाननेवालोंके श्रवणपथ (कर्ण) में प्रविष्ट होनेपर चित्-इन्द्रियों द्वारा उसकी नित्य अनुभूति होती है। बहिरङ्गाशक्ति-परिणत बद्ध-अनुभूतिसे युक्त देह और उसके अन्तर्गत अचित्-विचार परायण जड़-इन्द्रिय-अधिकारीका मन, विज्ञानयुक्त परमगोपनीय सपरिकर सम्वित्-विग्रहकी अङ्ग-उपाङ्ग सहित नित्य धारणा नहीं कर सकता। बाह्यप्रज्ञामें दृश्यजगत्से अधिरोहवादके अवलम्बनसे गुरुकी अवज्ञाके कारण इन्द्रियोंसे उदित ज्ञान वास्तव-सत्यपर प्रतिष्ठित न होकर छल द्वारा आवृत प्रकृतिवाद या मायावादके उद्दिष्ट निर्विशेष (रूप) अवास्तव असत्यपर प्रतिष्ठित हो जायेगा। बद्धजीवकी आत्मसत्ता विलुप्त होनेके कारण उसके द्वारा श्रौतपथ या श्रीकृष्णनिष्ठ आत्मविद् श्रीगुरुके चरणकमलोंके आश्रयके बिना अधोक्षजकी सेवा कभी भी सम्भव नहीं है। मायाबद्ध जीवके भ्रम, प्रमाद, करणापाटव और विप्रलिप्सारूप चार स्वभावोंके रहते हुए भजनीय वस्तुका निर्देश और उनकी प्राप्तिरूप वर्त्तमान क्लेशसे मुक्ति कभी भी सम्भव नहीं है। लीलारहस्य और लीलाङ्ग-विज्ञानके अभावमें जीवको स्वरूप-बोध नहीं होता है। अवरोहविचार श्रीगुरुमुखसे श्रवण करनेपर दिव्यज्ञानका उदय होता है तथा बाह्यप्रज्ञाकी अनुभूतिसे जीवकी मुक्ति होती है। तब जीव अपने स्वभावमें नित्य अवस्थित होकर श्रौतपथका कीर्त्तनकर अन्य जीवोंके प्रति दया करनेमें समर्थ होता है।

द्वितीय श्लोककी विशेषता यह है कि उसमें प्रथम श्लोककी ही दृढ़ताके लिए पुनः-उल्लेख द्वारा उसका कुछ अधिक विस्तार किया गया है। भगवान् भगवत्-इतर-प्रतीतिसे भिन्न हैं, अथवा भगवत् और भगवत्-इतर प्रतीतिका वैशिष्ट्य, जड़निर्विशेषवाद और चित्-जड़-समन्वयात्मक निर्विशेषवादसे पृथक् और विपरीत है। भगवत्-वस्तु वास्तवसत्य है, किन्तु भगवदितर-अनुभूति अवास्तव है। भगवत्-वस्तुके चित्-वैचित्र्यमें भगवत्-अस्मिता, भगवदनुष्ठान-कर्त्तृत्व, भगवत्-रूप,

भगवत्-गुण और भगवत्-लीला और आश्रित तत्त्वोंका अपना-अपना नित्य-स्वरूप-विवेक, नित्यकर्त्तव्य आदिका वास्तवज्ञान श्रीगुरु और श्रीकृष्णकी कृपापर निर्भर करता है। मायाके भोक्ता (बद्धजीव) जब इन्द्रियसे उदित ज्ञानमें विमुग्ध होकर वास्तवज्ञानरहित या हरिविमुख होते हैं, तब श्रीभगवान् और भक्तकी कृपाके अतिरिक्त उनके इन्द्रियज्ञानकी सत्यप्राप्तिका वास्तव उपाय निरूपित नहीं हो सकता है। बद्धजीव श्रीभगवान्‌को अपने समान मानकर इन्द्रियोंसे उदित ज्ञानसे उन्हें मापने (जानने) जाते हैं, इसलिए मायावादियोंके लिए भगवत्-उपलब्धि सम्भव नहीं है। मायावादी निर्विशेष-मतका अवलम्बन करके निर्भेद-ब्रह्मके अनुसन्धानमें अनुरक्त होकर कुत्ते और भेड़िये द्वारा भक्ष्य देह और चञ्चल मनोधर्मसे बाह्यप्रज्ञा चालनमें व्यस्त रहनेके कारण सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजनके निर्णयमें भ्रान्त रहते हैं। वे कभी भी श्रीभगवान्‌की दया प्राप्त नहीं कर सकते। स्वरूपकी विभ्रान्ति होनेपर ही जीव भक्तिको अभिधेय और प्रेमको प्रयोजन समझनेके बदलेमें मोक्षके प्रयासी हो जाते हैं। फलस्वरूप मुमुक्षु (मुक्तिकामी) क्रमशः बुभुक्षु (भुक्तिकामी) हो पड़ते हैं। हरिसेवाके बिना मोक्षको प्राप्त करना सम्भव नहीं है।

प्रकृति, काल और कर्म—ये चेतनमय और अद्वितीयवस्तुके जनक-जननी या विनाशकारी नहीं हैं। चेतनमय वस्तुके साथ इनकी विषमता और विशेषता है तथा इनकी गिनती अचित् क्रममें होती है। इनमेंसे प्रथम दो विनाशी नहीं हैं, कर्म विनाशी होनेपर भी प्राक्-अनादि हैं। ईश्वर और जीव—इस वस्तु-वैचित्र्यमें चित्-धर्म अवस्थित है। अचित्-भावमय तीनों विचित्रताएँ चेतनमय न होनेपर भी कर्मके अतिरिक्त अन्य चारों अर्थात् ईश्वर, जीव, प्रकृति और काल खण्डकालके अतीत हैं। चेतनधर्ममें स्वतःकर्त्तृत्वका नित्य-अधिष्ठान है तथा कर्त्तृत्वाधीन आश्रित चिदचित् वस्तुका ईश्वरत्व, काल और कर्मका जनकत्व अवस्थित है। आश्रित-तत्त्व शक्तिमत्-चित्-विग्रहके अनुगत होकर अन्वय और व्यतिरेक रूपसे उनकी ही सेवामें नियुक्त है। आश्रित तत्त्वका अन्वय और व्यतिरेक रूपसे सेवा-वैचित्र्य-धर्म उस-उस रूपमें अवस्थित है।

विभुसम्वित् भगवत्-वस्तुको आश्रित-तत्त्वके अधीन माननेपर अणुसम्विद्की प्रकृतिमें विपरीतता घटित होती है। जीवके अधीन ईश्वर, प्रकृतिके अधीन ईश्वर, कालके अधीन ईश्वर, कर्मके अधीन ईश्वर—ऐसी अचित् वृत्ति जिसमें प्रबल है, उसी जीवको भगवत्-विमुख 'बद्ध, दुष्टजीव' कहा जाता है। प्रकृति, काल और कर्म—ये तीन भाव जीवके नित्य चिदानन्द-धर्मके ऊपर ईश्वरता करके ही जीवको बद्ध करते हैं अर्थात् जीवकी स्वरूपानुभूतिमें बाधा देते हैं। उसी समय जीव अपनेको प्राकृत-कालकर्मके अधीन जानकर लुप्तचेतन या जड़ पदार्थोंमें सर्वश्रेष्ठ मान लेता है। प्राकृत विचित्रतामें ईश्वरभाव अव्यक्त होनेके कारण बद्ध अवस्थामें ईश्वरके उन्मुख आश्रित-तत्त्वको अप्राकृत या वैकुण्ठ कहा जाता है। अपने स्वरूपको भूल जानेपर ही जीव नित्य चिदानन्दमय श्रीगुरुदेवके चरणकमलोंसे विक्षिप्त और आवृत होकर अपनी चित्-वृत्तिके विशुद्ध धर्मसे वञ्चित हो जाते हैं। उसी समय चित्-धर्मका नित्यानुष्ठान अचित्, प्राक्-अनादि विनाशी धर्मके रूपमें प्रतिभात होकर जीवको अहंकारसे विमूढ़ कर देता है।

भगवत्-शक्ति आश्रयजातीय भगवत्-लीलाको प्रकाशितकर स्वजातीय अनुभूति प्रदर्शनपूर्वक आचार्य रूपमें बद्धजीवके साथ समता स्थापन करती है। ब्रह्माके श्रीगुरुदेवके रूपमें लीलाका अभिनय करते हुए श्रीभगवान् जिस अप्राकृत स्वरूपकी बात कह रहे हैं, तथा चित्-विचित्रताके सेवोन्मुख अंशकी अभिव्यक्ति कर रहे हैं—वही चतुःश्लोकीमें सम्बन्ध-अभिधेय-प्रयोजनके क्रम (रूप) में वर्णित हुआ है। जब मुक्तजीव प्रकृति, काल और कर्मके वशीभूत तत्त्वविचारमें भगवत्-सेवा-विमुखताको संग्रहकर उसमें अवस्थित होते हैं, तभी उनमें विषयान्तर-भोग और त्यागकी प्रवृत्ति आ जाती है। श्रीभगवान्की आवरणी-शक्ति प्रकृतिमें कालरूपी गुणकी साम्य-अवस्था और कर्मरूपी गुणकी विषमतारूपी विचित्रता उत्पादन करती है। नित्यलीलाकी विचित्रताका अनुपादेय तुच्छ प्रतिफलन बद्ध-जगत्में प्रतिहत होकर उसी प्रकार विकाससमूह द्वारा नश्वर रूपमें अधिष्ठित है। ईश्वरके आनुगत्यसे नश्वरता और खण्ड-प्रतीतिकी फल्गुताके दूर होनेपर अणुचित् जीव नित्य सेवोन्मुख होकर भगवत्-भावपञ्चक (अर्थात्

शान्त, दास्य आदि पाँच भावों) से वास्तव सेवा करनेके लिए समर्थ होता है। आत्मवृत्तिका विशुद्ध भाव विपरीत होकर ही व्यक्तजगत्में अहङ्कारके इन्धनस्वरूप नश्वर जड़ताका उदय कराता है। आश्रिततत्त्व (जीव) के नित्यमङ्गलके लिए ही प्रकृति, काल और कर्म व्यतिरेक रूपमें जीवका मङ्गलविधान करते हैं।

चतुर्मुख (ब्रह्मा) को श्रीभगवान्ने चार उपदेश दिये। प्रथम श्लोकमें विषयबोध, द्वितीयमें आश्रयबोध, तृतीयमें आश्रयका प्रयोजनबोध और चतुर्थमें आश्रयके प्रयोजनबोधके लिए अभिधेयका स्वरूप वर्णित हुआ है। विषय और आश्रयके बोधसे रहित अवस्थामें जो निर्विशिष्ट केवलज्ञान अवस्थित है, वह व्यतिरेकभावका निराकरण करनेके उद्देश्यसे स्थानविशेषमें वर्णन योग्य है। उस वर्णनका पाठ करके जड़-जगत्के विचित्र-आकर्षणसे आकृष्ट होनेकी योग्यतासे रहित होकर वास्तवज्ञानसे प्रकाशित होनेपर ही नित्य चिदानन्दमय सेवकानुभूतिमें जीवको स्वतःसिद्ध स्वास्थ्यकी प्राप्ति होती है। नश्वर-प्रतीति ईश्वरकी सेवासे विमुख भोगराज्यमें जीवको बद्धानुभूतिवशतः अधोगति प्राप्त कराती है तथा वे उस समय उसीको उर्ध्वगति समझकर प्रधानता देते हैं—यही चिद्धर्मका अपव्यवहार या अचिद्धर्मका उद्दाम (निरंकुश) नृत्य है।

विषयतत्त्वके विचारमें ब्रह्माजी श्रीहरिकी कृपासे जान सके कि वे (श्रीभगवान्) जीव, प्रकृति, काल और कर्मसे स्वतन्त्र स्वतःकर्त्तृत्वमय 'अहं-तत्त्व' हैं। 'त्वं-तत्त्व' और 'तत्-तत्त्व' उसी अहं-तत्त्वके बीचमें केवल विचित्रताका पोषण करता है। त्वं-तत्त्वके अधीन पूर्वपुरुष ब्रह्माने श्रीगुरुदेवके रूपमें श्रीनारदको उस त्वं-तत्त्वके स्वरूप और तत्-तत्त्वके स्वरूपमें अचिन्त्यभेदाभेद-विचारको कृपापूर्वक प्रदान किया था। श्रीनारदने भी श्रीव्यासको वही विचार बताया, क्योंकि श्रीव्यासमें मुक्त-विष्णुभक्तका अभिमान था। श्रीव्यासने संसाररूपी समुद्रसे तारनेवाले श्रीमध्वमुनिके हृदयमें अहं-तत्त्व, त्वं-तत्त्व और तत्-तत्त्वका नित्य-वैचित्र्यभेद प्रकाशित किया। श्रीगौरसुन्दरने उसी अचिन्त्यभेदाभेद-तत्त्वको अपने आश्रितजनोंके हृदयमें अपनी लीला-वैचित्र्यके माध्यमसे प्रकटित किया है। अविमिश्र और अप्राकृत-

तत्त्ववैचित्र्यमें इन तीन प्रकारके तत्त्वोंकी नित्यचिदानन्दमय संस्थिति वर्त्तमान है। नश्वर प्रतीति द्वारा बद्धजीवके हृदयमें भोगवासनाओंके दास्यमें वही तत्त्व मलिनरूपसे विश्वमें प्रतिफलित है। विश्वमें भावकी नित्यताके परिदर्शनमें, भोग और त्याग-प्रवृत्तिके बदलेमें सेवोन्मुखतारूपी आत्मवृत्ति अन्तर्यामी रूपमें अवस्थित है तथा उसी सेवोन्मुखता रूप प्रयोजनको लक्ष्यकर अभिधेयवृत्ति 'भक्ति' के रूपमें अधिष्ठित है। श्रीभगवान्‌की सेवासे रहित जीवकी अभक्ति-वृत्तिमें दृष्ट विश्व सत्य होनेपर भी नश्वर-धर्मसे युक्त है। भोक्ताका हृषीकेशत्व (बद्धजीव द्वारा इन्द्रियपति होनेका) अभिमान नश्वर भूमिकामें जागतिक कर्म है तथा नित्यभूमिकामें चित्-वृत्तिकी अभिव्यक्तिमें नित्यवस्तुके उद्देश्यसे अनुष्ठित कर्म ही नित्यभक्ति या सुष्ठुभाषामें 'प्रेम' शब्दसे कहा जाता है। श्रीभगवान्‌के दास्यसे वञ्चित बुद्धिमें नश्वर विश्वके अनुशीलनके लिए जो चेष्टा है, वह फलभोगमय अनादि 'कर्म' है और पराप्रकृतिकी अनुभूतिमें पुनः वही चेष्टा 'हरिप्रेम' है।

श्रीभगवान्‌के आश्रिततत्त्व, बद्धजीवकी भाँति प्रकृति, काल और कर्मके वशीभूत नहीं हैं। उन भगवत्-वस्तु अहं-तत्त्वको विश्वकी नश्वर सत्ताके अन्तर्गत 'सत्' मानकर उन्हें कोई संकीर्ण न करे, इसलिए वे अहं-तत्त्व सत् और असत्‌से स्वतन्त्र वस्तु हैं। अचित् सत् और अचित् असत्‌का विचार जीवकी नित्यवृत्ति है। भक्तिसे विपरीत रूपमें विरुद्धवृत्ति अभक्तिमें अधिष्ठित है। भजनीय-वस्तु अणुचितके अभिधेय—भक्ति द्वारा ही अनुकूल रूपसे अनुशीलित होती है। वह वस्तु भक्तिके विरोधी होकर अर्थात् बद्धजीवके कर्म और ज्ञानके मार्गसे कभी भी प्राप्त नहीं होती। श्रीभगवान्‌के दर्शनके बिना अन्य परिदृश्यमान अनीश्वर-प्रतीतिरूप जो कुछ भी है, वह भी भगवान्‌के अतिरिक्त भाव विशेष नहीं है, पुनः वह भगवत्-भावमात्र भी नहीं है। वह भगवत्-भावके अन्तर्गत होकर अवैध रूपमें नश्वर विश्वके रूपमें प्रतिभात होता है, इसीलिए वैसा नश्वर दर्शन भगवत्-दर्शन नहीं है।

अहङ्कारसे विमूढ़ व्यक्तिके अहं-तत्त्वकी धारणा प्रकृतिके गुणसे उत्पन्न होती है तथा वह अवश्य ही ध्वंस हो जाती है। बद्धजीवकी

वैसी ध्वंसशील अनुभूतिका भी पुनः हरिदास्यमें ही अन्त होता है; इसीलिए अहं-तत्त्व ही अनित्यकी भी प्राप्य नित्यगति है। अनित्यके उपसंहारमें अहं-तत्त्वकी अवस्थिति है, अतत्त्वकी परिणतिमें अहं-तत्त्वका ही अवस्थान है, त्वं-तत्त्व और तत्-तत्त्व—नित्य विचित्रतामें युगपत् अहं-तत्त्वके साथ एकत्वमय अचिन्त्य भावसे युक्त हैं। त्वं-तत्त्व और तत्-तत्त्व नित्यकाल अहं-तत्त्वमें ही आश्रित हैं। जहाँ चिन्त्यभेद आकर अचिन्त्यभेदाभेदके सत्य विचारको कलुषित करता है, जहाँ केवलभेद आकर अचिन्त्यभेदाभेदके सत्यमें आघात करता है, वहींपर हरिप्रेमका अभाव जानना होगा। विषय-आश्रयके बोधके अभावमें केवलाभेदवाद और अशुद्धभेदवाद निर्मित होते हैं, वह भगवत्-विमुखतामात्र है। अहं-तत्त्व नित्यकाल अवस्थित हैं, अहं-तत्त्व सम्विद्विग्रह हैं, अहं-तत्त्वमें नश्वर भोगजगत्की कामना नहीं है; वे समस्त कामनाओंके कामदेव हैं। सम्विद्विग्रह ज्ञातृ (ज्ञाता) होनेके कारण उनका अपना नित्य आह्लाद-धर्म है, ज्ञेय स्वरूपमें, अप्राकृत ज्ञानमय अभिन्नस्वरूपद्वय उनसे अभिन्न होकर भी युगपत् सच्चिदानन्द-विग्रहत्रयमें (अर्थात् सन्धिनी-सम्वित्-ह्लादिनीके अधिष्ठातृ बलदेव-कृष्ण-राधाके रूपमें) अवस्थित हैं। स्वयंरूप सम्विद्विग्रह अद्वयज्ञान व्रजेन्द्रनन्दनमें ह्लादिनीसारसमेत-महाभाव-स्वरूपिणी नित्य सम्यक् रूपमें संयुक्त (आलिङ्गित) हैं तथा इन मिलित दोनों तनुके सर्वतोभावसे प्रेमसेवामय विग्रह, बल-शक्ति-प्रकाशतत्त्वरूपमें नित्य प्रकटित हैं। शक्तिमत्-विषयतत्त्वके साथ आश्रयतत्त्वके विचारका विस्तार करनेके लिए वैकुण्ठसे मायाके विचार-वैचित्र्यके वर्णनकी इच्छासे आश्रिततत्त्वका उपदेश है।

माया दो प्रकारकी है—भक्तियोगमाया और भगवत्-वस्तुका आवरण करनेवाली महामाया; प्राप्यविचार और प्रापकविचारमें विपरीत दिशाके अवलम्बनसे मायाकी दो प्रकारकी वृत्तियाँ हैं—वैकुण्ठवस्तुके विषयमें अव्यभिचारिणी योगमाया प्रबल है तथा कुण्ठा-माया काल और कर्मरूपमें व्यभिचारिणी अभक्ति द्वारा चञ्चल है। योगमाया स्वयं विषयतत्त्व न होकर आश्रिततत्त्व या चिच्छक्ति रूपमें चित्-उच्छलित मुक्तजीवोंको कृष्णोन्मुखी कराती हैं, अर्थात् त्वं-तत्त्वको अहं-तत्त्वोन्मुखी

कराकर अहं-प्रेमके वशीभूत करा देती हैं। परन्तु कुण्ठामाया त्वं-तत्त्वको जड़-अहङ्कारके साथ चित्समन्वयताका प्रदर्शन कराकर निर्भेद-ब्रह्मानुसन्धानमें अथवा नश्वर भोग-प्रवृत्तिमें प्रेरित करती हैं। कामदेव श्रीकृष्णकी गायत्रीके स्थानपर ब्रह्मगायत्रीका विकृत अर्थ कर जीवको कर्म-भोगकी रज्जुसे आबद्ध करती हैं। विषय और आश्रयकी सुष्ठु अनुभूतिके अभावमें एक समय निर्विशेषवादको भी सविशेषवाद कहने जाकर उसे (त्वं-तत्त्वको) जड़-बह्वीश्वरवादमें अर्थात् पञ्चोपासनामें ले जाती हैं। भगवत्-उन्मुखी चेष्टा आलोकसे अभिन्न है, अतएव उससे भिन्न क्रममें बाह्यजगत्में अचित्-प्रवृत्तिसे चालित होकर वह कुण्ठामाया जीवको गाढ़ अन्धकारकी ओर अग्रसर कराती हैं। ब्रह्मविचारमें जीव भगवत्ताके साथ ब्रह्मको अभिन्न न मानकर उनमें भेदज्ञान करके माया या प्रकृतिको ही ब्रह्मके रूपमें स्थिर करते हैं। अहं-तत्त्वकी विकृत-अनुभूतिमें ही इस प्रकार भगवत्-कैङ्कर्यरहित होकर जीव अपनेको प्रकृतिपति मानकर प्रकृतिमें तन्मयता प्राप्त करते हैं। इस विचारको उत्तम रूपसे प्रदर्शन करनेके लिए श्रीकृष्णने अहं-तत्त्व और ममत्व का विशेष प्रदर्शन करके चतुःश्लोकीके द्वितीय श्लोककी अवतारणा की हैं।

उन्होंने अहं-तत्त्वकी ममताको 'माया' अर्थात् "वैकुण्ठकी मायाका स्वरूप" वर्णन किया है। अहं-तत्त्वकी 'माया' चित्-शक्तिकी परिणति है तथा गोलोक-वैकुण्ठ आदि 'तद्रूपवैभव' हैं। अहं-तत्त्वज्ञानके अभावमें प्रकृतिको 'अहं' के रूपमें प्रधानता देनेकी रुचि द्वारा अनहं-तत्त्व-प्रकृतिका अहं-तत्त्वके साथ केवल-अभेद, अव्यक्त-भेदवादीके विचारमें जाड्य उत्पन्न करता है। ब्रह्मके साथ जीवका, प्रकृतिका, कालका और नैष्कर्म्यका एकत्व करनेका प्रयास ही अव्यक्त-भेदवादीका अभेदवाद है। उसके निराकरणके लिए परमात्माकी मायाका स्वरूप, परमात्म-विषयसे परमात्मा-आश्रित-आश्रयकी विचित्रताको भगवान्ने ब्रह्माके निकट प्रकाशित किया। वैकुण्ठवस्तु तद्रूपवैभव है तथा नश्वर-ब्रह्माण्ड आदि शक्तिके परिणाम हैं और उसके मूलमें शक्तिकी विचित्रताको स्वार्थ-भ्रान्तिवशतः एक मान लेनेका भ्रम नहीं करना चाहिये—इसे भी बतलाया। सत्यकी विचित्रता और असत्यका

कुहक (छल) एक नहीं है, उनमें भेद है और वह नित्य है—वैसा भेद, अभेदमें अवस्थित है अर्थात् चित्-भेदसमूह चित्-अभेदमें अचिन्त्य रूपसे नित्य अवस्थित होकर भी नित्यभेदयुक्त हैं तथा व्यक्तविश्वका प्रकाशमात्र ही शक्तिका धर्म नहीं है—इसे बतलानेके लिए ही अहं-तत्त्व और उनकी मायाकी विशेषता और विभेद वर्णित हुआ है। आत्म-अनात्म विवेकके अभावमें बद्धजीव कभी भोगी और कभी त्यागी मायावादी हो जाते हैं। सम्बन्ध-ज्ञानविषयक ये दोनों श्लोक अचिन्त्यभेदाभेद-तत्त्वके उद्देश्यसे वर्णित हुए हैं।

विश्वद्रष्टाके निकट महाभूतदर्शन और खण्डभूतदर्शनमें व्याप्य-व्यापक विचार अवस्थित है। अणुचित् जीव—व्याप्य है और विभुचित्—व्यापक हैं। व्यापकका अंश-विशेष ही व्याप्य है, व्याप्यका अंशी व्यापक हैं। व्याप्य व्यापकसे पृथक् वस्तु नहीं है तथा व्याप्य व्यापक भी नहीं है। अनिरुद्ध व्यष्टि-विष्णु व्याप्य-अन्तर्यामी रूपमें जड़पिण्डके भीतरमें अवस्थित-विचारसे केवलमात्र आबद्ध न होकर भी व्यापक हैं तथा समष्टिविष्णु प्रद्युम्न स्वतन्त्र अवस्थित हैं। व्यष्टि-समष्टि-विष्णु—विषयतत्त्व हैं तथा उनके आश्रित व्यष्टि-समष्टि-जीव आदि चार प्रकारके आश्रयके साथ सेव्य-सेवकके रूपमें अवस्थित हैं—इस बातको जान लेनेसे ही नश्वर खण्ड-अखण्ड ज्ञानसे जीवकी मुक्ति होती है।

श्रीकृष्ण और आकृष्ट (मलसे मुक्त जीव)—दोनों ही प्रेमधर्ममें प्रतिष्ठित हैं। प्रेमके विचारसे उनमें स्वतन्त्रता दिखलायी देनेपर भी वह एक-तात्पर्यपर हैं। प्रेममयविग्रह स्वतन्त्र रूपसे अवस्थित होकर आश्रित प्रेमके विषय हैं; पुनः आश्रितके प्रेममें समाश्लिष्ट (सम्यक् रूपसे आलिङ्गित) होकर अपृथक् भी हैं।

चतुर्थ श्लोकमें अभिधेय-विचार प्रेमके अङ्ग रूपमें वर्णित है। नश्वर खण्डिततत्त्व अतात्त्विक लोगोंकी ही जिज्ञासाका विषय होता है और वे लोग उसमें ही व्यस्त हैं, किन्तु तात्त्विक पारमार्थिक सम्प्रदाय परमात्माका विषय जिस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक रूपसे जिज्ञासा करते हैं, उसके उत्तरमें साधनभक्तिके चौसठ अङ्गोंमेंसे प्रवेशाङ्गके विचारसे प्रथम दस अङ्ग अन्वय हैं, परवर्ती दस निषेधात्मक व्यतिरेक

हैं—दोनों प्रकारमें ही जिज्ञास्य विषयमें अभिधेयकी प्रवृत्ति है। अभिधेय 'भक्ति' अनित्य नहीं है; यद्यपि साधनके समय नश्वरकी भाँति अनुभूत होती है, तथापि उसके उद्देश्यको विचार करनेपर उसकी वृत्तियाँ आत्मवृत्ति होनेके कारण नित्य हैं। समस्त काल और सभी स्थानोंपर ही अन्वय और व्यतिरेक रूपमें जिज्ञास्य वस्तुके विषयमें अभिधेय वर्त्तमान है। निर्विशिष्टतत्त्वमें अभिधेयका अभाव है—वहाँ साधन अनित्य है, अतः शक्ति-परिणामवादीजन विवर्त्तवादियोंका अभिधेय स्वीकार नहीं करते।

साधनभक्तिमें जिज्ञास्यवस्तुके विषयमें विप्रलम्भ ही (व्यतिरेक रूपमें) अभिधेय है तथा स्फूर्ति आदि ही सेवाके समय अन्वय रूपसे अभिधेय है।

अष्टम-श्लोक

चतुःश्लोकी-भागवतके गम्भीर अर्थको समझनेमें अक्षमताकी आशंका करनेपर श्रीभगवान् द्वारा ब्रह्माजीके प्रति उपदेश तथा उनमें सृष्टिकर्त्ताका अभिमान न होनेके लिए अनुग्रह

एतन्मतं समातिष्ठ परमेण समाधिना।
भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित्॥

(श्रीमद्भा॰ २/९/३६)

अन्वय

[हे ब्रह्मन्!] परमेण समाधिना (चित्तकी परम एकाग्रताके साथ) एतन्मतं (मेरे इस मतका) समातिष्ठ (अनुष्ठान करो) [ऐसा करनेसे] कल्पविकल्पेषु (कल्प-कल्पमें विविध प्रकारकी सृष्टि करके भी) भवान् (तुम) ["मैं ही सृष्टिकर्त्ता हूँ" इत्यादि अहङ्कारसे] कर्हिचित् (कभी भी) न विमुह्यति (मोहित नहीं होओगे)॥३६॥

अनुवाद

हे ब्रह्मन्! तुम चित्तकी परम एकाग्रताके साथ मेरे इस मतका अनुष्ठान करो। ऐसा करनेसे कल्प-कल्पमें विविध प्रकारकी सृष्टि करके भी तुम "मैं ही सृष्टिकर्त्ता हूँ" आदि अहङ्कारसे कभी भी मोहित नहीं होओगे॥३६॥

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीपाद

ननु, अतिगम्भीरार्थं चतुःश्लोकी-भागवतमिदं कथं मया अवगन्तुं शक्यं, विवदमानानां मतवैविध्यात्? इत्यत आह—एतन्मतं मदीयं सम्यगनुतिष्ठ समाधिना चित्तैकाग्र्येण विमृशेत्यर्थः। कल्प-विकल्पेषु महाकल्पानुकल्पेषु।

इति चतुश्लोकी-भागवत विवृतिः सम्पूर्णा॥

इयं विश्वजनीनातिरम्या सारार्थदर्शिनी।
भक्तिशास्त्रमधीयानैर्जनैर्दृश्या न चापरैः॥३६॥

भावानुवाद—यदि श्रीब्रह्माको आपत्ति हो कि अत्यधिक गम्भीर अर्थसे युक्त इस चतुःश्लोकी-भागवतको मैं किस प्रकारसे जाननेमें सक्षम होऊँगा? विशेषतः इस विषयमें परस्पर विवादी (नाना-मतवादी) लोगोंके विविध मतोंका पार्थक्य विद्यमान है। इसके समाधानमें श्रीभगवान् कह रहे हैं—'एतन्मतं'—मेरे इस मतका 'समातिष्ठ'—सम्यक् रूपसे अनुष्ठान करो। 'समाधिना'—समाधिके द्वारा अर्थात् चित्तकी एकाग्रताके साथ विशेष भावसे पर्यालोचना करो। 'कल्प-विकल्पेषु'—महाकल्प तथा अनुकल्प सभीमें विविध प्रकारकी सृष्टि करके भी मेरे अनुग्रहसे तुममें "मैं ही सृष्टिकर्त्ता हूँ"—इस प्रकारका अभिमान उदित नहीं होगा।

इस प्रकार चतुःश्लोकी-भागवतकी विवृति सम्पूर्ण हुई।

यह सारार्थदर्शिनी टीका विश्वके सभी मनुष्योंके लिए अत्यन्त रमणीय है। भक्ति-शास्त्रोंके अध्ययनकारी लोग ही इसका अनुशीलन करें, दूसरे नहीं॥३६॥

तथ्य—

पहले श्रीब्रह्माने "आपके अनुग्रहसे मैं प्रजाकी सृष्टि करने जाकर अहङ्कारसे आक्रान्त न हो जाऊँ"—इस प्रकारकी जो प्रार्थना की थी, उसके फलस्वरूप श्रीभगवान्ने अब श्रीब्रह्मापर अनुग्रह किया है। (श्रीश्रीधर-स्वामीपाद)॥३६॥

श्रीवल्लभाचार्यपाद

एवं शिक्षां निरूप्य, गर्वाभावे एतदनुसन्धानमेव कारणमित्याह—एतन्मतमिति। सर्वं भगवान्, अन्यथाप्रतीतिः मायया। सर्वत्र भगवान् सर्वलीलासहितः-सर्वदोषविवर्जित इति एतन्मतं मम भगवतः, इदं हि भगवच्छास्त्रं मम आतिष्ठ। यथा तत्तन्मतानुसारिणः तत्र तत्र प्रतिष्ठिताः, तथा भवानपि अस्मिन्मते प्रतिष्ठितो भवतु। अतः कुतर्का बहव उत्पत्स्यन्ते—ते सर्वे अनुभवेनैव दूरीकर्त्तव्याः, तदाह—परमेण समाधिनेति। समाधिश्चित्तैकाग्र्यं, सूक्ष्मदृष्ट्यैतज्ज्ञातव्यं, आपाततो दृष्ट्या विचारेण वा नैतन्मतं ज्ञातं भविष्यति। ज्ञाते तु अस्मिन् महाकल्पे अवान्तरकल्पेषु च सृष्टि प्रलययोर्न

मुह्यति। किञ्च, कर्हिचिदपि न मुह्यति, कदाचिदपि माया तन्न व्यामोहयति। अस्य मतस्य मायायाश्च विरोधात् तत्रैव माया, यत्रैवैतन्मतं नास्तीत्यर्थः॥३६॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीब्रह्माके प्रति शिक्षाका निरूपण करके अब श्रीभगवान् कह रहे हैं कि जगत्-कर्त्तापनके गर्वको दूर करनेके लिए भी इसी शिक्षाका अनुसन्धान ही उपाय है। सब कुछ भगवान् ही हैं। इस भगवत्-स्वरूपमें जो कुछ अन्यथा प्रकाशित हो रहा है, वह भगवान्की मायासे हो रहा है। इस जगत्में सर्वत्र सर्व (दस) लीला सहित भगवान् ही विद्यमान हैं और वे समस्त दोषोंसे रहित हैं। यही मेरा (भगवान्का) मत है। मेरे इस मतको भगवत्-शास्त्र समझकर दृढ़ रूपमें स्वीकार करो। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न मतोंका अनुसरण करनेवाले उन-उन मतोंमें प्रतिष्ठित हैं, उसी प्रकार हे ब्रह्मन्! तुम मेरे इस मतमें प्रतिष्ठित होओ। अनेक कुतर्क उपस्थित होंगे, उन्हें अपने अनुभव द्वारा दूर करना होगा। इसीलिए कह रहे हैं—"परमेण समाधिना अर्थात् चित्तकी एकाग्रताको समाधि कहते हैं।" अतएव मेरी इस बातको सूक्ष्म-दृष्टिसे समझना होगा। ऊपरसे देखने या विचार करनेसे मेरा यह मत समझमें नहीं आयेगा। जब यह मत समझमें आ जायेगा, तब तुम किसी भी महाकल्प और अवान्तर कल्पमें सृष्टि तथा प्रलयके समय मोहको प्राप्त नहीं होओगे अथवा माया कभी भी तुम्हें विमोहित नहीं कर सकेगी। जिसके हृदयमें यह मत स्थिर हो गया है, उसे मेरी माया मोहित नहीं कर सकेगी। इस मतका और मायाका परस्पर विरोध है। जहाँ यह मत नहीं है, वहीं मेरी माया मोह उत्पन्न करा देती है॥३६॥

नवम-श्लोक

श्रीब्रह्माके समक्ष ही श्रीभगवान् द्वारा अपने अलौकिक रूपका अन्तर्धान

श्रीशुक उवाच—

सम्प्रदिश्यैवमजनो जनानां परमेष्ठिनम्।
पश्यतस्तस्य तद्‌रूपमात्मनो न्यरुणद्धरिः॥

(श्रीमद्भा॰ २/९/३७)

अन्वय

श्रीशुक उवाच (श्रीशुकदेवने कहा) अजनः (अलौकिक नित्य-शरीरी) हरिः (श्रीहरिने) जनानां परमेष्ठिनम् (लोकोंके परम आधिपत्यमें स्थित पितामह ब्रह्माजीको) एवं (इस प्रकार) सम्प्रदिश्य (उपदेश प्रदान करके) तस्य पश्यतः (उनके समक्ष ही) आत्मनः (अपने) तद् रूपम् (उस रूपको) न्यरुणत् (अन्तर्हित कर लिया)॥३७॥

अनुवाद

श्रीशुकदेवने कहा—अलौकिक नित्य-शरीरी श्रीहरिने लोकोंके परम-अधिपति पितामह ब्रह्माजीको इस प्रकार उपदेश प्रदान करके उनके समक्ष ही अपने उस रूपको अन्तर्हित कर लिया॥३७॥

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीपाद

परमेष्ठिनं स्रष्टारम्, आत्मनो रूपमिति वैकुण्ठादिकमपि तस्यैव रूपमिति ज्ञापितम्। न्यरुणत् अन्तर्धापयामास॥३७॥

भावानुवाद—'परमेष्ठिनम्'—लोकोंके परम आधिपत्यमें स्थित स्रष्टा ब्रह्माको। 'आत्मनः रूपं'—अपना रूप; ऐसा कहनेसे वैकुण्ठ आदि भी उनका रूप हैं, अर्थात् उनके स्वरूपमें अन्तर्भुक्त हैं—ब्रह्माको यही

बतलाया। 'न्यरुणत्'—अन्तर्हित कर लिया अर्थात् श्रीभगवान् ब्रह्माके दृष्टिपथसे ओझल हो गये॥३७॥

तथ्य—

श्रीभगवान्‌ने जिस प्रकार ब्रह्माजीको समाधिके अवलम्बन द्वारा ध्यान करनेको कहा, ठीक उसी प्रकार श्रीब्रह्माने भी संक्षेपमें श्रीमद्भागवतका वर्णन करते हुए श्रीनारदको श्रीमद्भागवत (२/७/५२) में तथा श्रीनारदने भी इस महापुराणके आविर्भावके लिए श्रीव्यासदेवको श्रीमद्भागवत (१/५/१३) में समाधि अवलम्बनपूर्वक श्रीभगवान्‌की लीलाका अनुस्मरण करनेके लिए कहा।

श्रीभगवान् द्वारा अपने रूपके अन्तर्धानकी बातसे वैकुण्ठ आदिको भी उनके स्वरूपके अन्तर्भुक्त रूपमें जानना होगा (श्रीजीव गोस्वामीपाद)॥३७॥

दशम-श्लोक

भगवान् श्रीहरिके अन्तर्धान होनेपर ब्रह्माजी द्वारा मोहरहित होकर विश्वकी सृष्टि

अन्तर्हितेन्द्रियार्थाय हरये विहिताञ्जलिः।
सर्वभूतमयो विश्वं ससर्जेदं स पूर्ववत्॥

(श्रीमद्भा॰ २/९/३८)

अन्वय

इन्द्रियार्थाय (जिस रूपका प्रत्यक्ष दर्शन दिया था) [श्रीभगवान्ने उस रूपको] अन्तर्हित (अन्तर्हित कर लिया) सर्वभूतमयः (सर्वभूतमय) सः (श्रीब्रह्माने) हरये (श्रीहरिके उद्देश्यसे) विहिताञ्जलिः (हाथ जोड़कर) पूर्ववत् (पूर्व-पूर्व कल्पोंके समान) इदं विश्वं (इस विश्वकी) ससर्ज (सृष्टि की)॥३८॥

अनुवाद

श्रीभगवान्ने ब्रह्माजीको अपने जिस रूपका प्रत्यक्ष दर्शन दिया था, उसे उनके सम्मुख ही अन्तर्हित कर लिया। तब सर्वभूतमय श्रीब्रह्माने श्रीहरिके उद्देश्यसे हाथ जोड़कर पूर्व-पूर्व कल्पोंके समान इस विश्वकी सृष्टि की॥३८॥

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीपाद

अन्तर्हित इन्द्रियाणां—स्वभक्तचक्षुरादीनाम्, अर्थः परमपुरुषार्थः स्वसौन्दर्यसौरभ्यादिको येन तस्मै। पूर्ववत् पूर्वपूर्वस्मिन् व्यतीत कल्प इत्यर्थः। तेन ब्रह्मणः स्वकन्याभिगमरूपो मोहः पूर्वकल्पे तत्रैवाभूत्, न तु चतुःश्लोकी-भागवतोपदेशान्तरमपि, *'भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति'* इति भगवदुक्तेः। यत्तु कृष्णावतारे ब्रह्ममोहनं, तत्तु भगवत्कृपाविलसितमेव ज्ञेयम्॥३८॥

भावानुवाद—'अन्तर्हितेन्द्रियार्थाय'—जिन्होंने अपने भक्तके चक्षु, कर्ण, नासिकादि इन्द्रियोंके परम-पुरुषार्थ-स्वरूप अपने उत्तम रूप, उत्तम स्वर, उत्तम गन्ध आदि गुणोंको ब्रह्माजीके समक्ष ही अन्तर्हित कर लिया अर्थात् उनकी दृष्टिसे बहिर्भूत हो गये, उन भगवान् श्रीहरिके उद्देश्यसे। 'पूर्ववत्'—पूर्व-पूर्व कल्पोंके समान। इसके द्वारा सूचित होता है कि ब्रह्माजीका अपनी कन्याके प्रति अभिगमनरूप मोह पूर्वकल्पमें ही हुआ था, 'चतुःश्लोकी-भागवत' का उपदेश प्राप्त करनेके पश्चात् नहीं, क्योंकि श्रीभगवान्ने स्वयं ही कहा है—"किसी भी कल्पमें सृष्टिकी विविध चेष्टओं द्वारा तुममें किसी भी प्रकारका मोह उपस्थित नहीं होगा।" किन्तु श्रीकृष्णावतारके समयमें जो ब्रह्म-सम्मोहन हुआ था, उसे श्रीभगवान्के कृपा-विलासके रूपमें ही समझना होगा॥३८॥

तथ्य—

ब्रह्मा सर्वभूतमय अर्थात् व्यष्टि-जीवोंके समष्टि-स्वरूप हिरण्यगर्भ हैं। व्यष्टि समष्टिके अन्तर्गत है, इसलिए विश्वकी सृष्टि करनेके लिए ब्रह्माजीका किसी भी प्रकारका आयास (प्रयास) न होनेपर भी वह किस रूपमें कर्त्तव्य है, श्रीभगवान्की कृपाके बिना ब्रह्माजी उसे जानते नहीं थे। इस समय उसी भगवत्-कृपाकी प्राप्ति करनेके कारण ही उनका 'सर्वभूतमय' विशेषण है (बाल-प्रबोधिनी)॥३८॥

इति श्रीमद्भागवतीय चतुःश्लोकी सम्पूर्ण॥

श्रीब्रह्माकी तपस्यासे सन्तुष्ट होकर श्रीभगवान् उनके समक्ष प्रकट हुए तथा उनमें सृष्टि करनेकी शक्ति प्रदान की। श्रीब्रह्मामें स्वतन्त्र सृष्टिकर्त्ताका अभिमान उदित न हो जाय, इसलिए श्रीभगवान्ने कृपापूर्वक शक्ति सञ्चार कर उन्हें निर्विशेष ज्ञानसे भी श्रेष्ठतर अपना परम गुह्यज्ञान, तद्रूपवैभवादिका विज्ञान, प्रेमभक्तिरूप रहस्य और उस प्रेमभक्तिके अङ्गस्वरूप सम्बन्धज्ञानसे युक्त श्रवणादि साधनभक्तिके अङ्गोंको श्रवण करवाया। श्रीभगवान्के द्वारा श्रीब्रह्माको प्रदत्त इस साक्षात् ज्ञानको ही 'चतु:श्लोकी–भागवत' कहते हैं। यह चतु:श्लोकी ही श्रीमद्भागवतकी मूल सूत्रावली है। इस सूत्रावलीके आधारपर ही अठ्ठारह हजार श्लोकोंसे समन्वित श्रीमद्भागवतकी रचना हुई है। यह चतु:श्लोकी–भागवत वेदोंका भी सार–स्वरूप है।

श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज